॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

७६

॥ श्रीः ॥

चार्वाकदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा

लेखकः —

डॉ० सर्वानन्द पाठक

एम० ए०, पी एच० डी०, काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),

संस्कृतविभागाध्यक्ष, नवनालन्दामहाविहार, नालन्दा (पटना)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत २०२१
मूल्य : १२-५०

Phone : 3076

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
76

CĀRVĀKA DARS'ANA
KĪ
S'ĀSTRĪYA SAMĪKṢĀ

(A CRITICAL STUDY OF CĀRVĀKA PHILOSOPHY)

BY
DR. SARVĀNANDA PĀTHAK, M. A., PH. D.
Kāvyatīrtha, Purāṇāchārya (Gold Medallist)
Lecturer in Sanskrit,
Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda (Patna).

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Post Box 69. VARANASI-1 (India) Phone : 3076
1965

प्रशस्त्युत्सर्गपत्रम्

(१)

श्रौतस्मार्ताचारनिष्ठोऽतिशिष्टः
शाब्दे शास्त्रे पाणिनिस्त्वं विशिष्टः ।
काव्ये गद्ये विद्यसे बाणमानः
पद्ये च त्वं कालिदासोपमानः ॥

(२)

वेदान्तेऽसि व्यासदेवप्रतिष्ठो
मीमांसायां जैमिनिस्त्वं गरिष्ठः ।
श्रीमन् न्याये गौतमीयप्रमाणो
वैशेषिक्ये श्रीकणादोपमानः ॥

(३)

सांख्ये विद्वन् विद्यसे कापिलेयो
योगाख्यायां वाचि पातञ्जलेयः ।
वाग्देव्यास्त्वं सर्वशाखासु दक्षः
पौरस्त्यायां संस्कृतावेकपक्षः ॥

(४)

भुञ्जानो भाग्यश्रियं राजमानो
राधाकृष्णन् सर्वपल्लीतिमानः ।
विद्वद्वृन्दैः श्रद्धया स्मर्यमाण
एध्यायुष्मान् सर्वथा वर्धमानः ॥

(५)

प्रतीच्यप्राच्यानां त्वमखिलगिरां पारगमनो-
निवासो भारत्या भवति भवतो भव्यरसना ।
अये राधाकृष्णन्नशरणशरण्योऽसि सदयो
गृहाणेमामल्पां कृतिमपि मदीयां नतिपराम् ॥

पौरस्त्यपाश्चात्योभयदर्शनशास्त्रसागरपारङ्गतानां

महामहिम्नां

स्वतंत्रभारतस्य राष्ट्रपतिपदमलङ्कुर्वतां

श्री डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् महाभागानां

पाणिपल्लवेषु

सादरं सप्रेम सभक्ति चोत्सृष्टेयं कृतिः

—सर्वानन्दपाठकेन

Professor Satkari Mookerjee, M. A., Ph. D.

Ex–Director, Nava Nalanda Mahavihara,

Nalanda (Patna), Opines.

The present work is the outcome of wide study, critical understanding and comparative evaluation of the philosophical views and theories which have been promulgated from very ancient times down to the modern age. The author shows a critical mind and capacity for marshalling diverse data in a compact treatment. He has met the possible critisism to a satisfactory extent. In conclusion, I must record my appreciation of the style in Hindi which the author yields. The work must be regarded as an original contribution and I think that to the select dissertations, which have appeared in Hindi, the present work will be considered a valuable addition.

Satkari Mookerjee

OPINION

Dr. Siddheśvara Bhaṭṭācārya

M. A. (Hons.), Ph. D. (Lond.), D. Litt. (Lille),

Bar-at-Law (Gray's Inn), Kāvya-Tīrtha,

Nyāya-Vaiśeṣika-Ācārya (Gold-medallist)

Mayūrbhanja Professor & Head of the Department of Sanskrit & Pali

Banaras Hindu University.

Indian culture has flowed unabated from the Ṛg-veda down to the present day. Indian philosophy is the finest specimen of this culture. Paradoxically, Indian philosophy has grown as a constant endeavour to face the free-thinkers. The latter, popularly known as the Cārvākas (the honey-tongued), have laid exclusive emphasis on material enjoyment as the goal of life untrammelled by such obsessions as God, the other world, rebirth, merit and demerit. They believe only in what they can see, consider inference as a leap into the unknown and discard the Vedas as an act of deceit.

The influence of the free-thinkers on popular mind is tremendous. This explains why they developed into different sects and forced cognizance on Indian literature. In fact, they demand equal authenticity with the orthodox schools in that they try to establish their views on the same basis as of the orthodox schools.

The views of the Cārvākas have been recorded both in the orthodox schools as well as the heterodox schools, the

Buddhists and the Jains, for the purpose of refutation. Expository texts from the *Bārhaspatya-sūtra* to the literary work of Śrīharṣa are as varied in their character as their views.

Dr. Sarvanand Pathak, the writer of the work *"Cārvāka-darśana kī śāstrīya samīkṣā"*, has borne these facts in his mind. He has offered a consistent history of the origin and growth of the free-thinkers. Although there are more ambitious works on the same field, here is a restatement of the old views with a freshness of approach which, without offending the technicality of the subject, has made it more readable to the wider public.

But the recovery of the spiritual against the onslaught of the material is unmistakable. The author has carefully examined at the end the arguments of the free-thinkers to hold on to the orthodox position. He cannot afford to leave to the Cārvākas a world from which God is banished. Grave cannot be the ultimate end of life. The spirit in man cannot be exposed to nude materialism.

I wish the work all success.

S. Bhattacharya

वक्तव्य

चार्वाक दर्शन प्राचीनतम होने पर भी आज हमें नवीनसा प्रतीयमान हो रहा है, यद्यपि इसी के आधार पर अन्यान्य भारतीय दर्शनों के निर्माण और विकास हुए हैं। यह भारतीय दर्शनोद्यान की प्रथम कलिका है और अन्य दर्शन इसी कलिका के विकसित पुष्प और फल हैं। नास्तिक दर्शन के मौलिक सिद्धान्त में पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—ये ही चार तत्त्व अभिमत हैं। इन्हीं चार उपादानरूप भूतों के उचित मात्रा में संयोग होने पर स्वयं चैतन्य की उत्पत्ति हो उठती है, जिस प्रकार मादक उपकरणों के यथोचित परिमाण में एकत्रीकरण तथा पूर्ण परिपाक हो जाने पर मादकता[1]। महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी के प्रति जगत् की उत्पत्ति और लयक्रिया के विषय में उपदेश करते हुए कहा था कि इन्हीं भूतों के सम्मिश्रण से ज्ञान का उदय होता है और पुनः इन्हीं के विघटन होने पर वह (ज्ञान) विनष्ट हो जाता है। मृत्यु के उपरान्त ज्ञान (चैतन्य) का अस्तित्व नहीं रह जाता है[2]। चार्वाक के दार्शनिक सम्प्रदाय में मुख्य रूप से इसी सिद्धान्त की अधिमान्यता स्वीकृत हुई है।

आज चार्वाक दर्शन के साहित्य भी अपने सम्पूर्ण रूप में उपलभ्य नहीं हैं। एतत्सम्बन्धी मूल साहित्य आजकल दुर्लभप्राय हो गये हैं किन्तु एकाग्र अनुसन्धान करने पर यत्र तत्र अल्प मात्रा एवं विकीर्ण अवस्था में चार्वाक दर्शन की साहित्य-सामग्री उपलब्ध हो जाती है।

१९५९ ई० के मध्य भाग में जब मैं पटने से स्थानान्तरित होकर नव-नालन्दा महाविहार में आने लगा उसी समय विहार के सिद्ध कवि प० मोहन-लाल महतो वियोगी ने नास्तिक दर्शन पर शोध कार्य करने के लिए चार्वाक-षष्टि नामक पुस्तक की एक छोटी सी अपूर्ण प्रतिलिपि मुझे दी थी। अत एव सर्व-प्रथम मैं वियोगी जी का आभारी हूँ। अपने महाविहार के निदेशक दार्शनिक-

---

१. पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तेभ्यश्चैतन्यम्। किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्।
—बार्हस्पत्यसूत्र २–४

२. एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।
—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१२

मूर्धन्य डा० सातकडि मुखर्जी, एम० ए०, पीएच० डी० से स्वीकृति लेकर उन्हीं की पथप्रदर्शकता में मैंने १९५९ ई० की विजयादशमी से शोध-कार्यारंभ कर दिया था। अपने पथप्रदर्शक डा० मुखर्जी के प्रति मैं श्रद्धाञ्जलि समर्पण करता हूँ। १९६३ ई० के मार्च मास में यह निबन्ध भागलपुर विश्वविद्यालय से पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। इस थीसिस के परीक्षक निम्नलिखित तीन विद्वान् थे :—

(१) प्रो० सातकडि मुखर्जी, एम० ए०, पीएच० डी० (तत्कालीन निदेशक, नवनालन्दामहाविहार)।

(२) प्रोफेसर टी० आर० वी० मूर्ति, एम० ए०, डी० लिट०, वेदान्त-शास्त्री, व्याकरणाचार्य (दर्शनविभागाध्यक्ष, काशीहिन्दूविश्वविद्यालय) और

(३) डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, डी० लिट० (निदेशक, इन्स्टीच्युट आफ् इण्डिक स्टडीज, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय)।

गवेषणा-कार्य की अवधि में दिशानिर्धारण के लिए आकस्मिक दो व्यक्ति मेरे धन्यवादास्पद हैं। प्रथम हैं जैन सम्प्रदाय के एक निःस्पृह साधु तथा भारतीय दर्शनों के प्रामाणिक विद्वान् श्री १०८ उपाध्याय अमरमुनि जी महाराज और द्वितीय हैं अपने महाविहार के तत्कालीन रिसर्च प्रोफेसर डॉ० नथमल तातिया, एम० ए०, डी० लिट०।

एक प्रसंग के उल्लेखन में मुझे अनन्त आनन्द की अनुभूति हो रही है : इस ग्रन्थ के मुद्रणारंभकाल में दार्शनिकमूर्धन्य डॉ० राधाकृष्णन् महोदय के पाणि-पल्लवों में अपने छोटे-से ग्रन्थ को समर्पित करने की उत्कण्ठा हृदय में जागरित हुई थी और तदनुसार मैंने स्वीकृति के लिए मुद्रितमात्र पुस्तक की एक प्रति के साथ राष्ट्रपति के पास एक व्यक्तिगत पत्र लिखने का साहस कर ही दिया। राष्ट्रपति ने अपने १३–११–१९६४ दिनाङ्कित पत्र में समर्पण के लिए अनुमति प्रदान के द्वारा अपनी उदारहृदयता का परिचय देते हुए मुझे अनुगृहीत कर दिया। इस औदार्यपूर्ण महत्ता के कारण भारत के सर्वोच्च एवं विश्व के प्रकाण्ड दार्शनिक, स्वतन्त्र भारत के विद्वान् राष्ट्रपति महामहिम डॉ० श्री सर्वपल्लि राधाकृष्णन् महानुभाव को मैं धन्यवादपूर्ण श्रद्धाञ्जलि समर्पण करता हूँ।

यहां के तत्कालीन पुस्तकाध्यक्ष डॉ० गुलाबचन्द चौधरी, एम० ए०, पी एच० डी० और सहायक पुस्तकाध्यक्ष श्री दिलीप कुमार बनर्जी, एम० ए०, बी० एल० का भी मैं आभारी हूँ क्योंकि इन दोनों सज्जनों ने दुर्लभ पुस्तकों को निःसंकोच रूप से सुलभ करने का प्रबन्ध किया था।

वर्तमान निबन्ध के दो परिच्छेद पटना विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी-विभागाध्यक्ष आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने मंगा कर पढ़े थे और अपने अन्यतम छात्र एवं यहां के हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रो० नगेन्द्र प्रसाद, एम० ए० के द्वारा मेरे पास यह संवाद भेजा था कि मेरे निबन्ध का उनके द्वारा पठित अंश ही शोध उपाधि के लिए पर्याप्त था। भाई शर्मा जी के सन्तोष और संवाद से मुझे अप्रत्याशित प्रोत्साहन मिला था। अतः आचार्य शर्मा—जो अब दिवंगत हैं—और संवादवाहक प्रो० प्रसाद मेरे धन्यवाद-भाजन हैं।

मुद्रित पुस्तक की अनुक्रमणी के निर्माण में अपने महाविहार के रिसर्च स्कॉलर श्री ओम्प्रकाश शरण, एम० ए० से मुझे पूर्ण सहयोग मिला है अतः शरणजी मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी के अध्यक्ष गुप्त परिवार का एकान्त ऋणी हूँ, क्योंकि इस परिवार ने पुस्तक की पाण्डुलिपि पाते ही मुद्रण कार्यारम्भ कर दिया। अत एव इस उदार गुप्त परिवार के प्रति कृतज्ञताज्ञापन और हार्दिक धन्यवादार्पण करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

एक बात के लिए मुझे हार्दिक खेद है कि मुद्र्यमाण पुस्तक के प्रूफ के संशोधन-कार्य में सावधान रहने पर भी यत्र तत्र अनपेक्षित अशुद्धियाँ रह गयी हैं और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि स्वयं लेखक के अपनी पुस्तक के प्रूफ पठन में छोटी अशुद्धियां यदा कदा अदृष्टिगत हो जाती हैं। इस परिस्थिति में अपनी स्वाभाविक विवशता के कारण पाठकों से मैं क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

नालन्दा (पटना)
विजयादशमी, वि० सं० २०२१

—सर्वानन्द पाठक

विषय सूची

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

संकेत-सूची

अ० : अध्याय
अ० चि० : हेमचन्द्र : अभिधानचिन्तामणि (सुरतसंस्करण, १९४६ ई०)।
ई० उ० : ईशावास्योपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) गीता प्रेस।
ऐ० ब्रा० हरि० : ऐतरेयब्राह्मण : हरिश्चन्द्रोपाख्यानम् , काशी, १९४६ ई०।
क० उ० : कठोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) गीता प्रेस।
का० सू० : वात्स्यायन : कामसूत्र, चौखम्बा संस्करण, १९२९ ई०।
का० सू० ज० : कामसूत्र : जयमङ्गला टीका।
के० उ० : केनोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) गीता प्रेस।
कौटिल्यार्थ० : कौटिल्यार्थशास्त्र।
ग० वे० : गङ्गा-वेदाङ्क (सुलतानगंज, भागलपुर, १९३२ ई०)।
गीता० : श्रीमद्भगवद्गीता।
गीता० म० नी० : मधुसूदन नीलकण्ठादि भाष्यसहित श्रीमद्भगवद्गीता।
गीता शा० : शाङ्करभाष्यसहित श्रीमद्भगवद्गीता. गीता प्रेस।
चट्टदत्त० भा० : डा० सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय और डा० धीरेन्द्रमोहनदत्त : भारतीयदर्शन, पुस्तक भण्डार, पटना—४।
छा० उ० : छान्दोग्योपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) गीता प्रेस।
जयराशि० : जयराशि : तत्त्वोपप्लवसिंह, बड़ौदा, १९४० ई०।
झा० भा० प० : श्री हरिमोहन झा : भारतीयदर्शन परिचय, खण्ड १–२।
त० सं० : अन्नंभट्ट : तर्कसंग्रह,
सं० स० : शान्तरक्षित : तत्त्वसंग्रह, बड़ौदा संस्करण, १९२६ ई०।
त० सं० प० : तत्त्वसंग्रह पंजिका, बड़ौदा संस्करण, १९२६ ई०।
तै० उ० : तैत्तिरीयोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) गीता प्रेस।
त्रिषष्टिशलाका : आचार्य हेमचन्द्र : त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम् (महाकाव्यम्
द० दि० : राहुल सांकृत्यायन का दर्शनदिग्दर्शन
दी० नि० : दीघनिकाय (पालिवाङ्मय)।
दु० स० : दुर्गासप्तशती नागोजिभट्ट की टीका से युक्त।
नै० च० : श्रीहर्ष : नैषधीयचरितम् ,
नै० च० ना० : नैषधीयचरित की नारायणी टीका,
न्या० कु० : उदयनाचार्य : न्यायकुसुमाञ्जलि,
न्या० कु० कु० : न्यायकुसुमाञ्जलि का कुसुमाञ्जलिविस्तर भाष्य, मद्रास संस्करण।
न्या० को० : भीमाचार्य झलकीकर : न्यायकोश, पू० १९२८ ई०।
न्या० द० : गौतम : न्यायदर्शनसूत्र।
न्या० द० भा० : न्यायदर्शन का वात्स्यायनभाष्य।
न्या० म० : जयन्तभट्ट : न्यायमञ्जरी चौखम्बा संस्करण।

प० पु० सृ०	:	पद्मपुराण सृष्टिखण्ड।
पा० टी०	:	पादटीका।
पा० यो०	:	योगदर्शन (पातञ्जल) गीता प्रेस।
पा० व्या०	:	पाणिनिव्याकरणम्।
प्र० च०	:	श्रीकृष्णमिश्र : प्रबोधचन्द्रोदय (नाटक)।
बा० अ०	:	बार्हस्पत्यम् अर्थशास्त्रम्।
बा० सू०	:	बार्हस्पत्यसूत्रम्।
बु० च०	:	बुद्धचरितम्–अश्वघोष।
बृ० उ०	:	बृहदारण्यकोपनिषद् (शाङ्करभाष्यसहित) गीता प्रेस।
भा०	:	महाभारत, गीता प्रेस संस्करण।
भा० पु०	:	श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस संस्करण।
भा० शास्त्र०	:	प्रो० धर्मेन्द्रनाथशास्त्री : भारतीयदर्शनशास्त्र (न्याय वैशेषिक) १९५३ ई०।
म० स्तो०	:	महिम्नः स्तोत्रम्।
मनु०	:	मनुस्मृति कुल्लूकभट्ट टीकासहित,
मिश्र० भा०	:	डा० उमेशमिश्र : भारतीयदर्शन, १९५७ ई०।
मी० द०	:	जैमिनि : मीमांसादर्शन।
मी० द० शा०	:	मीमांसादर्शनका शाबरभाष्य।
मै० उ०	:	मैत्रायणी उपनिषद्।
या० स्मृ०	:	याज्ञवल्क्यस्मृति मिताक्षराटीकासहित,
यो० द०	:	पतञ्जलि : योगदर्शनसूत्र, गीता प्रेस।
रा० सा० उ०	:	डा० भुवनेश्वरनाथमिश्र 'माधव' : रामभक्तिसाहित्य में मधुर उपासना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५७ ई०।
वा०	:	वाचस्पत्यम् तारानाथ भट्टाचार्य। चौखम्बा प्रकाशन
वा० रा०	:	वाल्मीकि रामायण।
वि० त०	:	चिरंजीव भट्टाचार्य : विद्वन्मोदतरङ्गिणी,
वि० पु०	:	विष्णुपुराण, गीता प्रेस।
वे० का०	:	वेदान्तकारिका।
वै० द०	:	कणाद : वैशेषिकदर्शन।
व्या० म०	:	पतञ्जलि : व्याकरणमहाभाष्यम्।
शा०	:	शाङ्करभाष्य :
शास्त्री०	:	दक्षिणारंजन शास्त्री : चार्वाकदर्शन, कलिकातापुरोगामी प्रकाशनी (बंगीय संस्करण) १९५९ ई०।
शीलाङ्क०	:	सूत्रकृताङ्ग की शीलाङ्कटीका।
श्लो०	:	श्लोक।
श्वे० उ०	:	श्वेताश्वतरोपनिषद् शाङ्करभाष्यसहित, गीता प्रेस।
ष० द० स०	:	हरिभद्रसूरि : षड्दर्शनसमुच्चय।
स० द० सं०	:	सायणमाधव : सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ और पंक्ति।

स० सि० सं	:	शङ्कराचार्य : सर्वसिद्धान्त संग्रह ।
सा० का०	:	ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका ।
सा० कौ०	:	वाचस्पतिमिश्र : सांख्यतत्त्वकौमुदी ।
सा० द०	:	कपिल : सांख्यदर्शनम् ।
सि० कौ०	:	भट्टोजिदीक्षित : सिद्धान्तकौमुदी ।
स्याद्वाद०	:	स्याद्वादमंजरी (मल्लीषेणसूरिकृत टीकासहित) ।
ह० यो० प्र०	:	स्वात्माराम : हठयोग प्रदीपिका ।
C. Phil. B.	:	The central philosophy of Buddhism. by Dr T. R. V. Murti, 1955.
Dialogues	:	Dialogues of the Buddha. by Rhys Davids 1956.
E. R E.	:	Encyclopædea of Religion and Ethics Vol. by Hasting
Flux	:	Buddhist philosophy of Universal Flux. by Professor Dr Satkari Mookerjee.
F. n.	:	Foot note.
H. I. Phil.	:	History of Indian Philosophy. Vol. by Dr Surendra Nath Das Gupta.
H. P. Phil.	:	History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy by Dr B. M. Barua.
I. Phil	:	Indian Philosophy vol. I by Dr S. Radhakrishnan.
Kane	:	History of Dharma Shastra. by Dr P. V. Kane
Jacques Loeb	:	Comparative physiology of the brain and Comparative Psychology. by Jacques Loeb.
Monier	:	Sanskrit English Dictionary by Monier-Williams.
O. E.	:	Organic Evolution. by Lalla.
O. I. Phil.	:	Out lines of Indian Philosophy. by Hiriyanna.
T. Z.	:	Text Book of Zoology. by Dr Parker and Dr Haswell.

चार्वाक-दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा

प्रथम परिच्छेद

विषय सूची

मायामोह की उत्पत्ति और उपदेश—बौद्ध दर्शन का उद्भम-आर्हत दर्शन का उद्भम-षड्दर्शन और लोकायत-वैदिकवाङ्मय और कामाचरण-पौराणिक इतिहास और कामाचरण-स्मृतियुग पर चार्वाक प्रभाव-तांत्रिक साधनाओं पर चार्वाक प्रभाव-चार्वाकवाद के साधारण सिद्धान्त-उपलभ्यमान साहित्य-अपने दृष्टिकोण की भिन्नता और संक्षिप्त प्रसंग का उपस्थापन ।

विषय-परिचय

शास्त्राधारं गुरुं नत्वा दिव्यभूदेववंशजः।
सर्वानन्दो निबध्नामि चार्वाकाख्यातदर्शनम् ॥

—निबन्धक

भौतिकवाद के सम्बन्ध में दर्शन के विश्वविख्यात विद्वान् डा० राधाकृष्णन् का मत है कि मनुष्य प्राणी जब अपने पूर्वाग्रहों और धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त होकर स्वतंत्र मस्तिष्क से चिन्तन करने लगता है तब उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति अनायास भौतिकवाद अर्थात् नास्तिकता की ओर आकर्षित होती है, यद्यपि गंभीर चिन्तन से वह पुनः उन्हीं पूर्वाग्रहों की ओर मुड़ जाती है। दार्शनिक समस्याओं को एकमात्र तर्क बुद्धि से कहाँ तक सुलझाया जा सकता है, इसका सर्वप्रथम समाधान भौतिकवाद में ही मिलता है।[1] डा० राधाकृष्णन् के मतानुसार वैदिक और पौराणिक युगों का मध्यवर्ती काल केवल क्रान्तिकारी था। उस युग में एक मत के विरुद्ध द्वितीय मत उपस्थित किया जाता था और एक आदर्श के विरुद्ध अन्य आदर्श। विचार परिवर्त्तन की सृष्टि केवल एक प्रभाव से नहीं होती, किन्तु अनेक विचारों और प्रभावों के सम्मिलित सामर्थ्य से होती है। इनका प्रतिपादन है कि ऋग्वेद (७।८९।३—४) में भी स्वतंत्र चिन्तन और संशयवाद के बीज की विद्यमानता उपलब्ध होती है।[2] चार्वाक-मत के सम्बन्ध में पार्थसारथि मिश्र की मन्तव्यता के अनुसार प्रसिद्ध दार्शनिक श्री एम० हिरियन्ना का कथन है कि भारत की आस्तिक परंपराओं में आत्मन् के लिये एक प्रमुख स्थान है। अतएव आत्मन् के अस्तित्व के विरोध उपस्थित होने पर स्वभावतः ही एक भीषण रूप में विवादास्पद समस्या उपस्थित हो जाती है। पर इतना तो सत्य है कि सिद्धान्तरूप में

---

१. "When people begin to reflect with freedom from presuppositions and religious superstition they easily tend to the materialist belief, though deeper reflection takes them away from it. Materialism is the first answer to the question of how far our unassisted reason helps us in the difficulties of philosophy."—I. Phil. I. P. 285

२. Ibid pp, 271—273

चार्वाक-मत का सप्रमाण खंडन नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मन् का अस्तित्व है—यह प्रत्यक्षरूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। चार्वाक-सिद्धान्त के सर्वथा खण्डनकर्त्ता कट्टर विचारक भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं और उन (कट्टर विचारकों) का कथन है कि चार्वाकों का यह मत है कि शरीर और आत्मन्—दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं—प्रत्यक्षरूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[3]

डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के प्रतिपादन के अनुसार जड़वादी दर्शन बार्हस्पत्य, चार्वाक, नास्तिक, लोकायत और भौतिक आदि नामों से समाख्यात है।[4] इन नामों में से प्रत्येक एक दूसरे का पर्यायवाची है। यह अत्यन्त प्राचीन विचार-संप्रदाय है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रचुर मात्रा में नास्तिक-मत का विवरण मिलता है। वहाँ भूतों को ही चैतन्य माना गया है। लोकायत शब्द भी अत्यन्त प्राचीन है। कौटिल्य ने लोकायत शब्द का उल्लेख अर्थशास्त्र[5] में किया है, किन्तु वहाँ इसकी गणना सांख्य और योगशास्त्रों के साथ आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क विज्ञान के रूप में की गई है।

वस्तुतः प्राचीन विचारक दार्शनिकों ने चार्वाक-मत के गुरुत्व पर सम्पूर्ण ध्यान नहीं दिया, क्योंकि गंभीर दृष्टिकोण से विचार करने पर अवगत होता है कि देह के अभाव होने पर चैतन्य के अस्तित्व का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। विदेहावस्था में चैतन्य का अस्तित्व संभव है—इसका कोई भी

---

३. Naturally the denial of the ātman, which occupies an important place in the other Indian systems, provoked the keenest controversy; but theoretically the position of the Cārvāka, it must be admitted, is irrefutable. It cannot be demonstrated that the soul or ātman in the accepted sense is. That indeed is recognized by some orthodox thinkers themselves, who accordingly lay stress in their refutation of the Cārvāka doctrine upon the indemonstrability of the opposite position that the body and the soul are not distinct.

—O. I. Phil. p. 192

४. cf. H. I. Phil. III. p. 512

५. सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी

—कौटिल्यार्थ० सम्पुट १, अध्याय २, पृ०२७

प्रमाण आज तक तो नहीं मिला है। इसका प्रमाण मिल जाने पर परलोक के अस्तित्व के लिये किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं रहता। इसी कारण नचिकेता ने संशयाकुलचित्त होकर यम से निवेदन किया था कि मृत मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं—"रहता है" और कोई कहते हैं— "नहीं रहता है"—मुझे इसके रहस्य की जिज्ञासा है।[६] इस पर यमराज ने कहा—"पूर्वकाल में इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था, क्योंकि यह सूक्ष्म धर्म सुगमता से जानने के योग्य नहीं है।[७]"

कठोपनिषद् के संशयाकुलतापूर्ण इस प्रतिपादन के आधार पर चार्वाक-मत की बलवत्ता पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है और नास्तिकवाद की निष्पत्ति में सन्देह के लिये अब लेशमात्र भी अवकाश नहीं रह जाता है।

वर्तमान शारीर विज्ञान (Physiology) में मानव मस्तिष्क (Human brain) के साथ चित्त का अन्तरंग सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है,[८] क्योंकि मस्तिष्क के किसी भाग में विकृति के हो जाने से मनुष्य की स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है और उसकी चिकित्सा से मस्तिष्क के सुधार हो जाने पर स्मरण-शक्ति का भी पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि मस्तिष्क की क्रिया से मानस-वृत्ति उत्पन्न होती है और उसके लिये चैतन्य की कोई अपेक्षा नहीं रहती। प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव से विदेहावस्था में चैतन्य का अस्तित्व असिद्ध हो जाता है। अतएव यह मानना होगा कि लोकायतवादसिद्ध भूतचैतन्यवाद का खण्डन दृढ़तर प्रमाण के द्वारा आजतक नहीं हो सका। यदि ऐसे प्रमाण की प्राप्ति हो जाय तब चार्वाक-मत का निराकरण हो सकेगा, अन्यथा नहीं। सायकिकल रिसर्च सोसायटी का गवेषणाक्रम इस विचार से चल रहा है कि मरण के पश्चात् भी जीव का अस्तित्व रहता है और जीव के साथ उसका कोई सम्बन्ध भी हो सकता है अथवा नहीं ? आजतक वैज्ञानिक-रीतिसंमत कोई भी एतत्सम्बन्धी प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका है। इसी तथ्य पर चार्वाक-मत का

---

६. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्……क० उ०—I. I. 20

७. देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः
Ibid I. I. 21

८. cf. Jacques Loeb. Chapters XV–XIX pp. 213–303

सामर्थ्य आधारित है। चार्वाक-मत का खण्डन सुकर नहीं है। इसीलिये तो माधवाचार्य ने घोषणा के साथ कहा है कि चार्वाक-मत के खण्डन की चेष्टा दुश्चेष्टा मात्र है।[१]

संक्षेप में अशेष दर्शनशास्त्र आस्तिक और नास्तिक भेद से साधारणतया दो ही वर्गों में विभाजित हैं। कौन दर्शन आस्तिकवादी है और कौन नास्तिक-वादी—इस विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। आस्तिक-नास्तिक-वाद का सम्यक् विवेचन करना तो परिच्छेदान्तर का विषय है। सांक्षिप्तरूप में एतावन्मात्र कथन ही पर्याप्त होगा कि वेद का प्रामाण्य एवं परलोक, आत्मन् और ईश्वर का अस्तित्व—इन चार विषयों में आस्थावान् दर्शनशास्त्र आस्तिक-वादी और तद्विपरीत अर्थात् वेद का अप्रामाण्य एवं परलोक, आत्मन् और ईश्वर का अनस्तित्व—इन चार तत्त्वों में आस्थावान् दर्शनशास्त्र नास्तिकवादी वर्ग में परिगणित होते हैं। जैन और बौद्ध-दर्शनों की गणना नास्तिकवादी श्रेणी में की गई है, परन्तु यथार्थतः ये दोनों दर्शन पूर्ण नास्तिकवादी दर्शन के रूप में परिगणनीय नहीं हो सकते हैं, क्योकि जैन और बौद्ध की दार्शनिक परम्पराओं में परलोक के अस्तित्व की मुख्यरूप से मान्यता है।

चार्वाक मत प्रवर्त्तन :—

चार्वाक मत या लोकायत दर्शन के आदि प्रवर्त्तक आङ्गिरस बृहस्पति माने गये हैं। यद्यपि नास्तिक दर्शन का प्रणयन आङ्गिरस बृहस्पति को अभीष्ट नहीं था, फिर भी तत्प्रणीत सूत्रमय दर्शनों पर गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर देवगुरु का अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है—संभवतः उनका तात्पर्य यह रहा होगा कि अपने शिष्य देवगणों की असुरों से उत्पन्न होनेवाली एवं संभावित पीड़ा को किसी भी प्रकार दूर कर दिया जाए। असुरगण भी यज्ञ आदि पुण्य कर्म करने में प्रवृत्त हो गये थे और अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से उत्साहित हो कर वे देवताओं को पराजित करना चाहते थे। अतएव यज्ञ आदि पुण्य-कर्मों में जिस प्रकार उनकी श्रद्धा उत्पन्न न होने पाए और उत्पन्न हो चुकने वाली उनकी श्रद्धा समाप्त हो जाए—इस प्रकार उपदेश करने की इच्छा से तदर्थबोधक सूत्रों के प्रणयन का विचार देवगुरु ने किया और उन्हीं सूत्रों के द्वारा दैत्यों में इस प्रकार नास्तिक-दर्शन का प्रचार हुआ। तदनन्तर अश्रद्धेय और कर्म-भ्रष्ट होकर वे असुरगण स्वर्गादि के उत्तमोत्तम सुखोपभोग से वञ्चित हुए।

---

१. "दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम्। प्रायेण सर्वप्राणिनः।"

—स० द० सं० १।१५

यद्यपि उपर्युक्त विवरणों का ऐतिहासिक दृष्टि से निरूपण करना सन्देहास्पद है, फिर भी आस्तिक सम्प्रदायों में बृहस्पति के सम्बन्ध में इस पौराणिक परम्परा की मान्यता तो है ही।

मायामोह की उत्पत्ति और उपदेश :—

विष्णुपुराण में ऐसी कथा उपलब्ध होती है। प्राचीन काल में नर्मदा नदी के तट पर कुछ दैत्यगण श्रौतपद्धति का अवलम्बन कर एकाग्रचित्त से तप कर रहे थे। यह देख और भयभीत होकर देवगण नारायण के शरणापन्न हुए। देवगणों को इस प्रकार विपन्न अवस्था में देख कर उनकी पीड़ा को हटाने की इच्छा से नारायण ने "मायामोह" नामक एक पुरुष को अपने शरीर से उत्पन्न किया और देवगणों से कहा कि आप देवताओं का कार्य-सम्पादन यही मायामोह करेगा। मायामोह ने भी अपने नाम तथा आकार को चरितार्थ करने के लिए अपनी प्रवृत्ति प्रदर्शित करते हुए अपनी अद्भुत माया से दैत्यों को विमोहित कर सन्मार्ग से परिभ्रष्ट कर दिया। बृहस्पति के द्वारा प्रणीत सूत्रों के अनुसार मायामोह के उपदेशों को सुन-सुन कर विश्वस्त हृदय से वे दैत्य अपने-अपने तपश्चरण से पराङ्मुख हो गए और तत्पश्चात् निश्चिन्त हो कर देवगण स्वर्गीय सुखों का उपभोग करने लगे।[10]

बौद्ध दर्शन का उद्गम :—

नास्तिक-मत के प्रचारक मायामोह के द्वारा किए गए उपदेश अनेक प्रकारों के हैं। उनमें सर्वसाधारण एक है—"यज्ञ आदि कर्म धर्म के अंग नहीं—यह मानना होगा, क्योंकि यज्ञों में पशुओं की हत्या की जाती है। अहिंसा ही एक-मात्र श्रेष्ठ धर्म है और वेद तो धूर्तों के प्रलापमात्र हैं" यह सुनने के उपरान्त सच्चे मनोयोग से इस (उपदेश) में विश्वास कर तदनुसार आचरण करनेवाले चार्वाक नाम से समाख्यात हुए और जिन दैत्यों ने इस उपदेश से अपने अभीष्ट की सिद्धि नहीं देखी, तब मायायोह ने उन दैत्यों के प्रति इस प्रकार उपदेश करना आरंभ किया—"संसार में जो ये अशेष पदार्थ प्रत्यक्ष दृश्यमान हो रहे हैं, वास्तव में वे हैं ही नहीं, यह भ्रममात्र है—ऐसी बुद्धि करो। उपदेशमात्र से बोध हो जाने पर भी "बोध करो", "बोध करो"—इस प्रकार पुनरुक्ति करता गया और इस मायामोह के उपदेश को यथार्थ मान कर उसमें निश्चित बुद्धि धारण करने वाले दैत्य बौद्ध नाम से प्रसिद्ध हुए।

---

१०. द्रष्टव्य—३।१७।४१ और १८।३-३५

आर्हत दर्शन का उद्गम :—

इतने पर भी बोध न करने वाले अवशिष्ट दैत्यों को संकेत कर उनकी बुद्धि के अनुसार ही निम्न प्रकार से मायामोह ने उपदेश करना आरंभ किया—"हो भी सकता है", और "नहीं भी हो सकता है।" "एक भी है," और "अनेक भी है।" "नित्य भी है" और "अनित्य भी है।" "किसी पदार्थ को निश्चित न समझना ही श्रेष्ठ धर्म है।" इसी में प्रवृत्ति करने के तुम "अर्हत" अर्थात् योग्य हो। मायामोह बार-बार "अर्हत—अर्हत"[११] अर्थात् "योग्य हो—योग्य हो" कह कर विशिष्टरूप से उपदेश देता गया और मायामोह के इस उपदेश में विश्वास करने वाले श्रोता "आर्हत" नाम से विख्यात हुए।

चार्वाकदर्शन का प्रचार :—

महाभारतीय प्रतिपादन के अनुसार इस मत का अधिक प्रचार चार्वाक नामक दैत्य ने किया और इसी कारण यह दर्शन चार्वाक नाम से अभिहित होता है। "चार्वाक" शब्द का व्युत्पन्नार्थ होता है—"चारु अर्थात् मनोरम है, वाक अर्थात् उपदेशमय वचन जिसका, उसे चार्वाक कहते हैं।" निसर्ग से ही प्राणी की परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति के लिए तथा प्रत्यक्ष दु:ख से निवृत्ति पाने के लिए प्रवृत्ति होती है। विरले ही पुरुष परोक्ष तथा स्वर्गीय सुख-प्राप्ति के लिए यज्ञ आदि विधेय कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और इसी प्रकार परोक्ष तथा नारकीय दुःखों के भय की आशंका से कामाचरण आदि अविधेय पाप कर्मों से पराङ्मुख दृश्यमान होते हैं। सहज प्रवृत्ति के अनुरोध से किसी के कथन को सुन कर यदि चारुता के कारण कोई व्यक्ति उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है तो यह लोक-प्रवृत्ति के अनुसरण करने वाली उक्ति की विदग्धता ही है। अतएव यह दर्शन लोक में अनायास ही प्रसारित और परिव्याप्त हो गया—इसी कारण यह "लोकायत" नाम से प्रसिद्ध है। दुर्योधन के मित्र तपस्वि-वेषधारी चार्वाक ने दुर्योधन के नाश के पश्चात् धर्मराज की सभा में जाकर ब्राह्मणों के समक्ष नास्तिक-मत के प्रतिपादन में इस प्रकार अपना कथन आरंभ किया—"सचमुच दुर्योधन भाग्यशाली तथा वीर पुरुष था, क्योंकि इस समस्त भूमण्डल में योद्धा के रूप से अशेष राजाओं की उपस्थिति में राज्यलक्ष्मी को धारण करते हुए उसने अपने राज्य के सच्चे सुखों का उपभोग किया। हे

---

११. संस्कृत व्याकरण के "लोट्" मध्यमपुरुष के बहुवचन में "अर्ह" धातु का रूप "अर्हत" होता है। इस "अर्हत" क्रियात्मक शब्द का अनुज्ञात्मक अर्थ होता है—"योग्य बनो।"

धर्मराज ! आज समस्त वीरों के विनष्ट हो जाने पर केवल स्त्री-बालक-वृद्धों से युक्त इस लोक में तेरे लिए कौन सा सुख रह गया ? आज तेरी भोग्य-सामग्रियाँ रुधिर से सनी हुई हैं। पारलौकिक परोक्ष सुखों में अभिलाषा रखने वाले तुम वंचित हुए। परलोक नामक कोई वस्तु तो है नहीं तो पारलौकिक सुख कहाँ से ? यज्ञ आदि कर्मों को कर तुमने अपने को केवल क्लेशित किया। इसके पश्चात् चार्वाक धर्मराज के सभासद ब्राह्मणों के क्रोधानल से भस्मसात् हो गया।"[१२]

इस मत के अनुयायी लोक में चार्वाक नाम से प्रसिद्ध हैं और ये ही चार्वाक चतुर्विध (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक), बौद्ध और आर्हत ये छः सम्प्रदाय नास्तिक नाम से प्रख्यात हैं।[१३] समग्र दर्शनशास्त्र आस्तिक

---

१२. निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत् ॥
तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥
वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
परःसहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः ॥
स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम्।
अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥
इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि।
धिग् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥
किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम्।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुंकारैः क्रोधमूर्च्छिताः।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥
पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम् ॥
वरेणच्छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥
द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद्वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥
—भा० शान्ति० ३८।२२–२७, ३५; ३९। ३–५

१३. 'एते चार्वाकास्तथा चतुर्विधा बौद्धा आर्हताश्चेति षण्नास्तिका इत्याख्यायन्ते'—स० द० सं० उपोद्घात, पृ० ९९

और नास्तिक—इन्हीं साधारण दो अर्थों में अनुप्राणित हैं। इन्हीं प्रमाणों से चेतन और अचेतन तत्त्वों के मूल स्वरूप और उनके सम्बन्ध को सम्यक् प्रकार से जान कर और बन्धन-स्वरूप को निश्चित कर तत्त्व-ज्ञान के द्वारा मोक्ष साधन के अनुसन्धान में प्रवृत्त होना उचित है।

षड्दर्शन :—

दार्शनिक परम्परा में "षड्दर्शन" का नाम बहुधा श्रुतिगोचर होता है। किन्तु "षड्दर्शन" के अन्तर्गत कौन से दर्शन परिगणनीय हैं, इसमें विद्वानों का मत एक नहीं। इसके अतिरिक्त दर्शन की संख्या भी अनियत है। पुष्पदन्त ने सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव—इन चार ही दर्शनों को स्वीकृत किया है। कौटिल्य ने सांख्य, योग और लोकायत—इन तीन का ही नामोल्लेख किया है। गुरुगीता में गौतम, कणाद, कपिल, पतंजलि, व्यास और जैमिनि—इन छः दर्शनों का नामोल्लेख है। जिनदत्तसूरि ने जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक इन छः को षड्दर्शन माना है। "सर्वमतसंग्रह" नामक ग्रंथ में मीमांसा, सांख्य, तर्क, बौद्ध, अर्हत तथा लोकायत—इन छः शास्त्रों को षड्दर्शन के रूप में स्वीकृत किया गया है।[१४]

उपर्युक्त विश्लेषणात्मक परिगणनाओं से षड्दर्शन के स्पष्ट वर्गीकरण का परिचय नहीं मिलता है। फिर भी सामान्य विद्वन्मण्डली में गुरुगीतासंमत सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त)—ये ही छः शास्त्र आस्तिक-दर्शन के रूप में "षड्दर्शन" के नाम से स्वीकृत एवं प्रख्यात हैं, परन्तु (१) सांख्य-दर्शन में नित्य एक जगत्कर्त्ता ईश्वर के अस्तित्व में सांशयिकता है। (२) योग-दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व स्वीकृत हुआ है, परन्तु मोक्ष-सिद्धि के उपायरूप में ईश्वरोपासना को वैकल्पिक माना गया है।[१५] (३) न्यायसूत्र में जगत्स्रष्टा ईश्वर का अस्तित्व विवादास्पद है। (४) वैशेषिकसूत्र में ईश्वर का उल्लेख नहीं हुआ है। (५) कर्ममीमांसा में देवता और ईश्वर का अस्तित्व अंगीकृत नहीं हुआ। (६) ब्रह्ममीमांसा (वेदान्त) में अद्वैतवादिक दृष्टि से ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता स्वीकृत नहीं हुई। इतने भेदों के होने पर भी इन छः दर्शनों को आस्तिक-दर्शन माना गया है। केवल वेद के प्रामाण्य की मान्यता से इनकी गणना आस्तिक-वर्ग में हुई है। इस प्रसंग में अवश्य ही कुछ वक्तव्य अपेक्षित है।

---

१४. द्र० मिश्र भा० द० १७

१५. "ईश्वरप्रणिधानाद्वा"—पा० यो० १।२३

परवर्त्ती काल में सांख्य-दर्शन के दो भेद हुए—(१) सेश्वर और (२) निरीश्वर। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के मत से सेश्वर सांख्य अतिप्राचीन है और निरीश्वर सांख्य अर्वाचीन।[१६] भगवद्गीता में जो सांख्य का प्रतिपादन है, उसमें सर्वथा ईश्वरास्तित्व स्वीकृत हुआ है।[१७] महाभारत में सेश्वर और निरीश्वर— दोनों सांख्यों का प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है।[१८] योग-दर्शन में जो ईश्वरवाद दृष्ट होता है; उसकी व्याख्या में विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर को जगत्कर्त्ता, नियन्ता तथा कर्मफलप्रदाता माना है।[१९] न्यायवैशेषिक के प्रख्यात आचार्य उदयन ने ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धिमात्र के लिये ईश्वरास्तित्व स्वीकृत कर लिया है।[२०] न्याय-दर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने पूर्णरूप से ईश्वर का अस्तित्व स्वीकृत कर लिया है।[२१] वैशेषिक-दर्शन के ऊपर प्रशस्तपादाचार्य का प्रामाणिक भाष्य है, जिसके पदार्थ निरूपण में ईश्वर की सिद्धि हुई है। पश्चाद्वर्त्ती आचार्यों के मत से कर्ममीमांसा में भी जो ईश्वर के जगत्कर्त्तृत्व और कर्मफलप्रदातृत्व की अस्वीकारोक्ति है वह प्रौढ़वाद है। कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रंथ "श्लोकवार्त्तिक" के मंगलाचरण में महादेव की स्तुति की है।[२२] मीमांसा-दर्शन का आपदेव प्रणीत "मीमांसान्यायप्रकाश" नामक एक प्रकरण ग्रन्थ है, जो पण्डित समाज में "आपदेवी" नाम से प्रख्यात है। उसमें जगत्कर्त्ता

---

१६. cf. H. I. Phil. chap. vii. p. 259

१७. cf. गीता, अध्याय, २

१८. अव्यक्तं क्षेत्रमित्युक्तं तथा सत्त्वं तथेश्वरः ।
अनीश्वरमतत्त्वं च तत्त्वं तत्पञ्चविंशकम् ॥
सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् ।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥

—भा० शान्ति० ३०६।४१-४२

१९. cf. सांख्यप्रवचन भाष्यभूमिका (विज्ञानभिक्षु) पृ० १-६

२०. ईशस्यैव निवेशितः पदयुगे भृङ्गायमानं भ्रम-
च्चेतो मे रमयत्वविघ्नमनघो न्यायप्रसूनाञ्जलिः

—न्या० कु० पृ० १

२१. cf. न्यायदर्शन वा० भा० ४।१।२०

२२. विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥ — श्लोकवार्त्तिक

तथा कर्मफलप्रदाता के रूप में ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है।[२३] वस्तुतः मीमांसा-दर्शन में ईश्वरवाद का जो अस्वीकार दृष्ट होता है वह प्रौढिवाद मात्र है। केवल वेद और कर्मकाण्ड के प्रामाण्यरक्षण के अभिप्राय से ईश्वरास्तित्व की अपेक्षा नहीं की गई है। वेदान्त के ऊपर जो रामानुज का वैष्णव-संप्रदायी भाष्य है उसमें ब्रह्म को सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता ईश्वर की मान्यता दी गई है।[२४]

उपर्युक्त विवेचन से अब प्रमाणित हो जाता है कि सम्पूर्ण षड्दर्शन के परिणत (परिनिष्ठित) रूप में ईश्वर की मान्यता सर्वतोभावेन स्वीकृत है। केवल जैन, बौद्ध और चार्वाक ने ईश्वर को तथा वेद के प्रामाण्य को सर्वथा अस्वीकृत किया है। अतएव इस आधार पर कहा जा सकता है कि जो ईश्वर के अस्तित्व तथा वेद के प्रामाण्य का खण्डन करता है, वह नास्तिकवादी सम्प्रदाय है। प्रोफेसर धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने भी इसी आधार पर जैन, बौद्ध और चार्वाक इन तीन संप्रदायों को नास्तिकवादी श्रेणी में परिगणित किया है।[२५] आगे चलकर प्रो० शास्त्री ने बताया है कि पुनर्जन्म और कर्मफल की मान्यता के कारण जैन और बौद्ध-दर्शन आस्तिक-वर्ग में रखे गये हैं और केवल चार्वाक-मत ही नास्तिक-वर्ग में आता है।[२६]

इससे प्रतीत होता है कि नास्तिक संप्रदाय दो वर्गों में विभाजित होने के योग्य है—एक अपूर्ण नास्तिक और द्वितीय पूर्ण नास्तिक। जैन और बौद्ध अपूर्ण नास्तिक सम्प्रदाय में गणनीय हैं और चार्वाक पूर्ण नास्तिक सम्प्रदाय में।

अब यह सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त गुरुगीतासंमत (१) न्याय, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, (५) कर्ममीमांसा और (६) ब्रह्ममीमांसा—ये छः शास्त्र ही "षड्दर्शन" के नाम से प्रसिद्ध हैं और पूर्ण आस्तिकवादी हैं। किन्तु कतिपय आचार्य नैयायिक और वैशेषिक सिद्धान्तों में भेद नहीं मानते तथा न्याय और वैशेषिक-शास्त्रों को अलग-अलग दर्शनों के रूप में स्वीकृत

---

२३. "यत्कृपालेशमात्रेण पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
प्राप्यते तमहं वन्दे गोविन्दं भक्तवत्सलम् ॥

सोऽयं धर्मो यदुद्देशेन विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। श्रीगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः, न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः। —पृ० १ और ७३

२४. द्र० श्रीभाष्य, पृ० २७६–२७७, २८०–२८५, ५२६ और ९२३।

२५. द्र० भा० शास्त्र०, पृ० २४

२६. Ibid. pp. 26–27

नहीं करते और तब उनके मत से छः के स्थान में पांच ही दर्शन सिद्ध होते हैं।[२७] ऐसी परिस्थति में जो आचार्य न्याय और वैशेषिक में एक ही सिद्धान्त होने के कारण पांच ही शास्त्र घोषित करते हैं, उनके मत से षष्ठ-दर्शन की संख्या लोकायत अर्थात् चार्वाक-मत के योग से पूर्ण होती है। अतएव लोकायत चर्वाक-मत का विवेचन अपेक्षणीय है।[२८]

लोकायत-परम्परा "आत्मा" का पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानती है। कोई स्थूल शरीर को ही "आत्मा" मानते, कोई इन्द्रियग्राम को "आत्मा" मानते, कोई इन्द्रिय की अपेक्षा सूक्ष्म मनस् को "आत्मा" मानते और कोई मनस् से भी सूक्ष्मतर प्राण को "आत्मा" मानते हैं। इनके मत में "आत्मा" जडतत्त्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पृथिवी आदि भिन्न-भिन्न जड पदार्थों के समिश्रण से स्वतः चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। जिस प्रकार कतिपय किण्वादि विशिष्ट द्रव्यों के एकत्रीकरण से उस मिश्रित पदार्थ में मादकताशक्ति आ जाती है, यद्यपि उस मिश्रित पदार्थ के प्रत्येक द्रव्य में पृथक् रूप में मादकताशक्ति नहीं रहती, उसी प्रकार इस भौतिक पदार्थ या तत्त्वों के प्राकृतिक और विशिष्ट संयोग से चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है तथा इस संमिश्रित पदार्थ में विघटन होते ही चैतन्य का अभाव और अन्त में "आत्मा" के अस्तित्व का भी लोप हो जाता है।

जिस प्रकार क्रमिक विकासोन्मुख अवस्थाओं में रह कर अन्त में कोरक की पुष्प के रूप में परिणति हो जाती है उसी प्रकार दृष्टिकोण अन्तःकरण के क्रमिक विकास की नियत और विशिष्ट अवस्था में पहुँच कर "ज्ञान" का रूप धारण कर लेता है। क्रमशः विकशित ज्ञान के प्रत्येक स्तर का ही नाम "दर्शन" है और विकासोन्मुख इन्हीं स्तरों की प्रारम्भिक अवस्था में "चार्वाक-दर्शन" का स्थान है। चार्वाक-दर्शन स्थूल शरीर से उठकर यथाक्रम सूक्ष्मतर अवस्था की ओर अग्रसर होता हुआ इन्द्रिय, मनस् और प्राण की मर्यादापर्यन्त पहुँच कर ही सीमित हो गया है। प्राणात्मवाद से ऊपर चार्वाक-दर्शन की प्रगति नहीं हो सकी।

लोकायत का शब्दार्थ होता है—वह सम्प्रदाय, जो इस प्रत्यक्षतः परिदृश्यमान लोक के अतिरिक्त किसी अनुमितिगम्य अथवा अतीन्द्रिय ईश्वर और परलोकादि पदार्थों के अस्तित्व को नहीं मानता। चार्वाक लोकायत-मत का आदि

---

२७. "नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।
न मन्यन्ते मते तेषां पंचैवास्तिकवादिनः॥ —ष० द० स० ७८।

२८. "षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल।
लोकायतमतक्षेपात् कथ्यते तेन तन्मतम्॥" —ष० द० स० ७९।

प्रवर्तक माना गया है और यह चार्वाक बृहस्पति का शिष्य था—ऐसा भी प्रतिपादन मिलता है। चार्वाक नामक एक राक्षस भी था, जो दुर्योधन का मित्र और पाण्डवों का शत्रु था।[२९]

परवर्ती कतिपय विद्वानों का मत है कि नास्तिक-दर्शन का प्रवर्तक चार्वाक नामक कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं था अर्थात् आस्तिकवाद में अनास्थावान् सम्प्रदाय ही "चार्वाक" नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोकायत मत अथवा चार्वाक-मत दोनों एक ही वाद हैं और यह वाद भारतवर्ष में अति प्राचीनकाल से प्रवर्तमान चला आ रहा है। सृष्टि के आदिकाल से वर्तमानकाल तक इस (मत) की पम्परा न्यूनाधिक मात्रा में, किन्तु अनवच्छिन्न गति से चली आ रही है और इसकी प्रवाह-शृङ्खला कभी टूटने नहीं पाई। इस मत में स्वेच्छाचार को बड़ी स्वतंत्रता दी गई है। इस मत का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ पुस्तकाकार में उपलब्ध नहीं।

वैदिकवाङ्मय और कामाचरण :—

भारतीय आर्यवाङ्मय में वैदिक साहित्य का स्थान प्रत्येक दृष्टिकोण से प्राचीनतम, उच्चतम और प्रधानतम है। संस्कृति तथा सभ्यता के प्रारम्भिक युग से ही वैदिक साहित्य के लिये विश्व की साहित्य-शालाओं में मूर्धन्यतम आसन रहा है। यदि कहा जाय कि वैदिक साहित्य के उज्ज्वलतम प्रकाश से ही विश्व के सम्पूर्ण वाङ्मय प्रकाशित, प्रभावित और अनुप्राणित होते आ रहे हैं तो कदाचित् अनौचित्यपूर्ण न होगा। यद्यपि मूल वेद का अर्थ जटिल और दुरूह है तब भी भाष्य की सहायता से अर्थावबोध सरल और सुगम हो जाता है। वेद के भाष्य अनेक हैं। विद्वानों के मत में अधिकांश भाष्यों की रचना भावुक दृष्टिकोण से की गई है तथा रचयिताओं के मनोनीत प्रवाहों में वे प्रवाहित किये गये हैं। वैदिक भाष्यकारों में आचार्य सायण निष्पक्ष सफल तथा आदर्श भाष्यकार के रूप में गवेषी विद्वन्मण्डली में स्वीकृत किये गये हैं। सायण सनातन धर्मावलम्बी सम्प्रदाय के मुख्यतम आचार्य और नेता माने गये हैं।

जब हम सायण भाष्य के साथ वैदिक साहित्य के गवेषणात्मक अध्ययन कार्य में प्रवृत्त होते हैं तो यहाँ भी हमें कामाचार और स्वेच्छाचार के नग्न नृत्य का स्पष्ट दर्शन मिलता है। लोकायत या चार्वाक-मत की अनामिका रूपरेखा का सच्चा चित्रण दृष्टिगोचर होता है। कामाचार या स्वेच्छाचार का स्पष्ट रूप प्रायः चरमकाष्ठा पर आरूढ़ दिखाई देने लगता है। दासी के साथ ऋषि-मुनियों का अवैध यौनसंबन्ध, जीर्ण और वृद्ध वयस् में विवाह, दुराचारिणी

२९. cf. F. n. 12

स्त्रियों का एकान्त स्थान में गर्भपात, दुराचरण के लिये श्वशुरालय से पित्रालय में पलायन, विवाहित स्त्रियों के उपपति का होना, पुत्री के साथ संभोग, भाई के साथ बहिन का अवैध दाम्पत्य-सम्बन्ध-स्थापन तथा विषय-लम्पट राजाओं की परस्त्रीगमन के लिये विह्वलता आदि विविध कामाचरणों का स्थल-स्थल पर दिग्दर्शन मिलता है। जैसे—एक स्थल पर स्तुति के प्रसंग में "ब्रह्मणस्पति" नामक देव से प्रार्थना की जा रही है कि "उशिज्" नामक किसी कामुकी दासी के गर्भ से उत्पन्न कक्षीवान् नामक ऋषि को देवताओं की श्रेणी में यज्ञभागी होने के लिये परिगणित कर लिया जाय।[30]

कक्षीवान् ऋषि की दुहिता "घोषा" अपने यौवन काल में कुष्ठ रोग से पीड़ित थी। अश्विनीकुमारों की चिकित्सा से उसे वृद्धावस्था में नैरोग्य प्राप्त हुआ था। तत्पश्चात् घोषा ने अपनी जीर्णशीर्णावस्था में केवल कामवासना की तृप्ति के लिये विवाह किया था।[31]

एक स्थल पर इस प्रकार का एक उदाहरण उपलब्ध होता है जिससे स्पष्ट अवगत होता है कि वैदिक युग में कुमारी या विवाहित कामाचारिणी स्त्रियां गुप्त स्थान में गर्भपात कर भ्रूण को फेंक देती थीं।[32]

कुछ अन्य ऐसा उदाहरण दृष्टिगोचर होता है जिससे ज्ञात होता है कि उस युग में अपने वन्धु-बान्धव आदि अभिभावकों से विहीन कामिनी स्त्रियाँ पूर्वपरिचित प्रेमियो से संगमन के लिये पतिगृह से चुपके मायके में भाग जाती थीं।[33]

भाई और भगिनी के भी अवैध सम्बन्ध का प्रसंग आता है। एक स्थल

---

३०. सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते।
कक्षीवन्तं य औशिजः॥ —ऋग्वेद १।१८।१

३१. युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णवाप्वं ददथुर्विश्वकाय।
घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्॥
Ibid—१।११७।१७

३२. धृतव्रता आदित्या इषिरा आरेमत्कर्त रहसूरिवागः।
शृण्वतो वो वरुण मित्र देवा भद्रस्य विद्वां अवसे हुवे वः॥
Ibid—२।२९।१

३३. अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्॥
Ibid—४।५।५

पर "पूषा" नामक देव "उषा" नामक अपनी भगिनी के जार अर्थात् उपपति घोषित किये गये हैं।[३४]

कहीं-कहीं वेद में सोमदेव की स्तुति के प्रसंग में कथन है कि जिस प्रकार प्रेमिका अपने जार (उपपति) की स्तुति करती है उसी प्रकार हे सोम ! शब्द तुम्हारी स्तुति में प्रवृत्त है। इस प्रसंग में जार अर्थात् गुप्त प्रेमी का स्पष्ट उल्लेख है।[३५]

अन्य एक प्रसंग में एक बहिन कामाभिभूत होकर अपने भाई से कहती है कि हे भाई ! जिस प्रकार रतिकामिनी पत्नी अपने पति के साथ एक शय्या पर शयन करती हुई अपने गुप्त अंगों को खोल कर स्वच्छन्द संभोग से अपने को परितृप्त करती है उसी प्रकार मैं तुम्हारे साथ स्वच्छन्द समागम से परितृप्त होना चाहती हूँ।[३६]

भाई की अस्वीकृति पर बहिन पुनः निवेदन करती है कि यदि अपने भाई के रहते बहिन अनाथा के समान अपूर्णमनोरथा रह जाती है तब उस भाई का बहिन के लिये क्या उपयोग ? और यदि बहिन के रहते भाई की भी कष्टनिवृत्ति न हो तो वह बहिन भी अनुपयोगिनी ही है। भाई और बहिन के मध्य प्रीति तो कर्तव्य ही है।[३७]

एक स्थल पर यह निर्देश मिलता है कि अपनी युवती दुहिता उषा के साथ प्रजापति के मैथुन करने पर जो अल्पमात्रा में रेतःपात हुआ उसी से रुद्र की उत्पत्ति हुई।[३८]

---

३४. पूषणं न्व स्वसुर्जारस्तोषां वाजिनम् ।
स्वसुर्यो जार उच्यते ॥ Ibid—६।५।५५।४

३५. अभि गावो अनूषतः योषाः जारमिव प्रियम् ।
आगमन्नाजि यथा हितम् ॥ Ibid—९।२।३३।५

३६. यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां विच्चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥
Ibid—१०।१।१०।७

३७. किं भ्राता सघदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
कामभूता वह्वेतद्रपामि तन्वामे तन्वं सं पिपृग्धि ॥
Ibid—१०।१।१०।११

३८. मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ॥
Ibid—१०।५।६१।६

प्रजापति के अपनी दुहिता के साथ समागम का उदाहरण दूसरे मंत्र में भी उपलब्ध होता है। जिस समय प्रजापति ने दुहिता के साथ संगम करना चाहा तो पुत्री भाग चली और उसने जिस-जिस रूप में अपने को छिपाया, प्रजापति ने उसी-उसी रूप में अपने को प्रकट किया और अन्त में संगम किया।[३९]

एक अन्यतम प्रसंग में हम पाते हैं कि राजा पुरूरवा कामाभिभूत होकर अत्यन्त विह्वलता के साथ उर्वशी से रतिप्रार्थना करते हुए कातर शब्दों में कह रहे हैं—हे कठोरस्वभाविनी हृदयेश्वरी, मेरे लिये अनुरागपूर्ण मन से क्षण भर भी मेरे निकट ठहर जाओ और मेरी कामवासना को तृप्त कर दो।[४०]

अथर्ववेद (८।६।७) में भी पिता-पुत्री तथा माता-पुत्र के कुत्सित और अवैध सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।१५) में शुनःशेप की कथा के प्रसंग में मनुष्य अपनी माता और भगिनी से पुत्र की प्राप्ति के लिये पत्नी-सम्बन्ध स्थापित करते कहे जाते हैं।[४१]

---

३९. पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिञ्चत्।
स्वाध्योऽजनयन् ब्रह्मदेवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन्॥
Ibid—१०। ५। ६१। ७।

४०. हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे च नाहन्॥
Ibid—१०। ८। ९५। १।

४१. cf. "Dr. S. C. Sarkar observes in the "Ait. Bra". A very old gatha is cited, where for the sake of sons, Men are said to unite with their mother and sister as with a wife.—Earliest Social History of India, pp,—75-6."
—Gangā Vedānka p. 228, F. N X

"प्रोफेसर मेकडोनल और प्रोफेसर कीथ के वैदिक इण्डेक्स १.३९५-३९६ के अनुसार ऋग्वेद में कुमारी-पुत्र के प्रसंग भी अनेक बार अनेक स्थलों पर आये हैं।
—गा० वे० पृ० २२७-२२८।

पौराणिक इतिहास और कामाचरण

प्राचीन इतिहास और पुराण साहित्य में कामाचरण सम्बन्धी चित्राङ्कन तो प्रायः स्थल-स्थल पर उपलब्ध होता है और यदि इसी एक दिशा में लेखनी उठाई जाय तो एतद्विषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हो सकता है। यहां एक अंग होने के कारण कतिपय उदाहरणों का दिग्दर्शन ही पर्याप्त होगा। इस युग में हम पाते हैं कि गृहस्थों और राजाओं की तो बात ही क्या ? ऋषि-महर्षि भी अपनी जीर्ण और वृद्ध वयस में कामाभिभूत होकर तरुणी कन्याओं से विवाह करते थे। परम वृद्ध तथा तपश्चरण के कारण जीर्ण-शीर्णकाय महर्षि च्यवन राजा शर्याति की कन्या सुकन्या को पत्नीरूप में ग्रहण करने के लिये कातर हो उठते हैं। महर्षि सुकन्या के पिता से इस रमणी को पाने के लिये अपनी हार्दिक कामना प्रकट करते हैं और राजा शर्याति शाप के भय से बिना विचार किये महर्षि को पत्नीरूप में अपनी पुत्री को समर्पित कर देते हैं तब महात्मा परम प्रसन्न हो उठते हैं।[४२]

एक दिन महर्षि पराशर तीर्थयात्रा के उद्देश्य से विचरण कर रहे थे। उसी प्रसंग में उन्होंने अनुपम रूप-सम्पन्न और मन्दहासिनी उस दिव्य वसुकन्या (सत्यवती) को देखते ही अपनी कामना प्रकट की। उस कन्या ने अद्भुतकर्मा परम बुद्धिमान् महर्षि के साथ समागम किया तथा तत्काल ही एक शिशु को जन्म दिया।[४३]

---

४२ "अपमानादहं विद्धो ह्यनया दर्पपूर्णया।
रूपौदार्यसमायुक्तां लोभमोहबलात्कृताम् ॥
तामेव प्रतिगृह्याहं राजन् दुहितरं तव।
क्षंस्यामीति महीपाल सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥
ऋषेर्वचनमाज्ञाय शर्यातिरविचारयन्।
ददौ दुहितरं तस्मै च्यवनाय महात्मने ॥
प्रतिगृह्य च तां कन्यां भगवान् प्रससाद ह।
प्राप्तप्रसादो राजा वै ससैन्यः पुरमव्रजत् ॥

भा० वन० १२२।२४–२७।

४३. दृष्ट्वैव स च तां धीमांश्चकमे चारुहासिनीम्।
दिव्यां तां वासवीं कन्यां रम्भोरुं मुनि–पुंगवः ॥
जगाम सह संसर्गमृषिणाद्भुतकर्मणा।
पराशरेण संयुक्ता सद्यो गर्भं सुषाव सा ॥

भा० आदि० ६३। ७१,८१ और ८४।

पूर्वकाल में वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ कण्डु नामक एक मुनीश्वर थे। वे गोमती नदी के तट पर घोर तपश्चरण कर रहे थे। अपने तपश्चर्याकाल में "प्रम्लोचा" नामक एक मञ्जुहासिनी अप्सरा के द्वारा क्षुब्ध होकर महातपस्वी कण्डु ने शताधिक वर्षों का काल मन्दराचल की कन्दरा में उस अप्सरा के संभोग में अज्ञात भाव से व्यतीत किया था। उसके सहवास में नौ सौ सात वर्ष, छः मास तथा तीन दिन का दीर्घकाल व्यतीत हो जाने पर भी महर्षि कण्डु को एकाग्र कामासक्त रहने के कारण केवल एक दिन के समान ही प्रतीत हुआ।[54]

एक अन्य प्रसंग में उल्लेख है कि राजा ययाति को यौवन से वार्धक्य पर्यन्त पूर्णासक्त रहने पर भी विषय-भोगों से जब तृप्ति नहीं हुई तब उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से आगामी सहस्र वर्षों के लिये अपनी वृद्धावस्था देकर उसकी युवावस्था लेने की इच्छा प्रकट की; पर यदु अपनी युवावस्था वृद्ध पिता को देने के लिये सहमत नहीं हुआ। अन्त में ययाति अपने कनिष्ठ पुत्र पूरु को अपना वार्धक्य देकर और उसका यौवन लेकर विश्वाची नामक अप्सरा तथा देवयानी के साथ स्वेच्छानुसार चिरकाल तक विषयवासना में आसक्त रहे। निरन्तर भोगते रहने पर भी राजा काम को अत्यन्त प्रिय मानने लगे।[55]

एक स्थल पर सौभरि नामक एक महामुनि का एक उपाख्यान उपलब्ध होता है। सौभरि बारह वर्षों तक जल के भीतर तपश्चर्या कर चुकने के पश्चात् राजा मान्धाता के पास कन्यार्थी के रूप में उपस्थित हुए। मुनि ने

---

५४. कण्डुर्नाम मुनिः पूर्वमासीद्वेदविदां वरः।
सुरम्ये गोमतीतीरे स तेपे परमं तपः॥
क्षोभितः स तया सार्द्धं वर्षाणामधिकं शतम्।
अतिष्ठन्मन्दरद्रोण्यां विषयासक्तमानसः॥
सप्तोत्तराण्यतीतानि नव वर्षशतानि ते।
मासाश्च षट् तथैवान्यत्समतीतं दिनत्रयम्"॥
—वि० पु० १।१५।११,१३ और ३२।

५५. एकं वर्षसहस्रमतृप्तोऽस्मि विषयेषु त्वद्वयसा विषयानहं भोक्तुमिच्छामि। नात्र भवता प्रत्याख्यानं कर्त्तव्यमित्युक्तस्स यदुर्नैच्छत्तां जरामादातुम्॥ सोऽपि पौरवं यौवनमासाद्य धर्माविरोधेन यथाकामं यथाकालोपपन्नं यथोत्साहं विषयांश्चचार। विश्वाच्या देवयान्या च सहोपभोगं भुक्त्वा कामानामन्तं प्राप्स्यामीत्यनुदिनं उन्मनस्को बभूव। अनुदिनं चोपभोगतः कामानतिरम्यान्मेने।—वि० पु० ४।१०।१०–११, १८ और २०–२१।

राजा से कहा—"हे राजन्, मैं कन्या-परिग्रह का अभिलाषी हूँ, तुम अपनी एक कन्या दो, मेरा प्रणय भंग मत करो। ऋषि के ये वचन सुन कर और उनके जराजीर्ण देह को देखकर भी राजा शाप के भय से अस्वीकार करने में कातर हो उनसे डरते कुछ अधोमुख होकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगे। अन्त में अपने अनुरूप राजा मान्धाता की पचासों कन्याओं के साथ उन्हों ने विवाह-संस्कार सम्पन्न किया और समस्त कन्याओं को ऋषि अपने आश्रम पर ले गये।[४६]

स्मृतियुग पर चार्वाक प्रभाव

अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण से विचार करने पर अवगत होता है कि स्मृति-युग भी चार्वाकवाद से अपने को अछूता नहीं रख सका। न्यूनाधिक मात्रा में यह युग भी इस वाद से अवश्य ही प्रभावित हुआ है। धर्मशास्त्र-संमत नियोगप्रथा में कामाचरण के स्वच्छन्द चित्रांकन का आभास मिलता है। नियोग के प्रसंग में यह कथन है कि गुरुजनों से आज्ञा लेकर पुत्रोत्पत्ति की कामना से पुत्रहीन नारी के साथ देवर, सपिण्ड या सगोत्रीय पुरुष को संगम करना विधेय है। पुत्र-कामना से विधवा भाभी के साथ संगम करने के लिये देवर को अधिकार दिया गया है।[४७]

तान्त्रिक साधनाओं पर प्रभाव

तन्त्रसंमत "वज्रोली" आदि मुद्राओं का सिद्धान्त भी कामपरक ही ज्ञात होता है। तान्त्रिक साधनाओं में स्त्री-साहचर्य की अपेक्षा रहती है।[४८]

---

४६. तस्मिन्नन्तरे बह्वृचश्च सौभरिर्नाम महर्षिरन्तर्जले द्वादशाब्दं कालमुवास। निवेष्टुकामोऽस्मि नरेन्द्र कन्यां, प्रयच्छ मे मा प्रणयं विभाङ्क्षीः। इति ऋषिवचनमाकर्ण्य स राजा जराजर्जरितदेहमृषिमालोक्य प्रत्याख्यानकातरस्तस्माच्च शापभीतो बिभ्यत्किंचिदधोमुखश्चिरं दध्यौ च। कृतानुरूपविवाहश्च महर्षिस्सकला एव ताः कन्यास्स्वमाश्रममनयत्। Ibid ४।२।६९, ७७, ८० और ९६।

४७. (क) अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्त ऋतावियात्॥
—या० स्मृ० १।६८

(ख) देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये॥—मनु० ९।५९

४८. तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्त्तिनी॥—हठयोगप्रदीपिका ३।८४

स्त्रीसहवास के अभाव में तान्त्रिक-सिद्धि आकाश-कुसुम के समान असंभव है। मालती-माधव नाटक में वर्णित कापालिक अघोरघंट अपनी शिष्य कपाल-कुण्डला के साहचर्य में तान्त्रिक योग-साधना करता था।[४९]

उपर्युक्त प्रसंग के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर तो अवश्य पहुँच जाते हैं कि आधुनिक मानवसमाज के आचार-विचार में जो स्वेच्छाचार का व्यापार चल रहा है वह किसी अंश में अभूतपूर्व नहीं है, क्योंकि वेद और पुराण आदि प्राचीन साहित्यों में चित्रित तत्कालीन कामाचरण इसकी अपेक्षा न्यूनतर नहीं था। हाँ, यह तो हमें अवश्यमेव स्वीकार्य है कि वेद और पुराणकालीन कामाचरण का जो चित्र हमारे सामने आता है, वह तत्कालीन समाज में चार्वाकमत के समान सिद्धान्त रूप से व्यापृत नहीं था। किन्तु परोक्ष और वैयक्तिक रूप से जो तत्कालीन कामाचरण का चित्र देखते हैं, उसके चार्वाक सिद्धान्त के सदृश होने में तो सन्देह नहीं है। इस परिस्थिति में यदि हम अपने पूर्वाग्रहों और सांस्कृतिक अन्धविश्वासों को छोड़कर एवं "चार्वाक"— इस रूढार्थक नामविशेष को विस्मृत कर स्वतंत्र मस्तिष्क से चिन्तन करते हैं तो वह लोकाचरण लोकायतवाद से निश्चय ही प्रभावित प्रतीत होता है, क्योंकि स्वेच्छाचारी व्यक्ति अपने व्यापार में तल्लीनता के समय पुण्यापुण्य कर्मों के शुभाशुभ फलदायक परलोक के अस्तित्व को विस्मृत किये रहते हैं। चार्वाक-मत में भी कामाचार को एकान्त स्वतंत्रता और प्रोत्साहन दिया गया है।[५०]

बौद्ध सम्प्रदाय और भौतिकवाद

दर्शनशास्त्र के मर्मस्पर्शी विद्वान् डा० सत्कारी मुखर्जी "बुद्धिस्ट फ़िलॉसफी ऑव यूनिवर्सल फ्लक्स" नामक निबन्ध पुस्तक के "परलोक–समस्या" नामक परिच्छेद[५१] में बौद्ध दार्शनिक दृष्टि से चार्वाक-मत के परीक्षण में प्रतिपादन करते हैं कि चार्वाक पक्ष में भूतचतुष्टय से चैतन्योत्पत्ति की मान्यता है। भूत-चतुष्टय ही चैतन्य की उत्पत्ति का उपादान-कारण है—अर्थात् देह, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, प्राण और मानस आदि समस्त स्थूल-सूक्ष्मादि तत्त्व पृथिवी आदि चार भूतों से उत्पन्न होते हैं। पूर्व देह के चैतन्योद्भूत पूर्व चैतन्य से प्राणी की उत्पत्ति हुई—यह नहीं कहा जा सकता है। भिन्न–भिन्न देह से चैतन्य का आविर्भाव होता है—इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। बौद्धपरम्परा में प्रसिद्ध

---

४९. cf. रा० सा० उ० ६३

५०. cf. नै० च० सर्ग, १७।५९, ७०

५१. Vide FLUX. chap. XV

मत के अनुसार एक विज्ञान से अन्य विज्ञान की उत्पत्ति होती है—इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, जिस आधार पर हम यह कल्पना कर सकें कि "शरीर के नाश होने पर भी चैतन्य की धारा चलेगी"। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि देह ही एकमात्र सत्य है। भ्रूण में कोई ज्ञान रहता है, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता और मदमूर्च्छादि अवस्था में कोई ज्ञान रहता है, वह भी प्रमाणित नहीं हो सकता। विज्ञान शक्तिरूप से रहता है, यह भी कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि शक्ति बिना आश्रय के ठहर नहीं सकती। देह की चैतन्यशक्ति का कोई आधार होना चाहिये, जो नहीं है। तब यह स्वीकार करना होगा कि इन्द्रियादिविशिष्ट देह ही चैतन्य का आधार है। वर्तमान आन्तराली देह के विनाश के अनन्तर और अपर देह की उत्पत्ति के पूर्व आतिवाहिक नाम से प्रचारित सूक्ष्म देह विज्ञान-शक्ति का आधार है और इस प्रकार विज्ञान धारा निरवच्छिन्न चली आ रही है—यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि सूक्ष्म देह के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता। आतिवाहिक देह उत्पत्ति और विनाशशील हैं—ऐसी कल्पना करने से भी अतीत विज्ञान के आश्रयभूत इस देह से स्थूल देह में चैतन्य का संक्रमण किस प्रणाली से संभव होता है—यह भी हम नहीं समझते। और इस पक्ष को स्वीकार करने से गर्भावस्था में गर्भस्थ भ्रूण में चैतन्य का अस्तित्व है, यह भी मानना होगा, परन्तु इस विषय में अणुमात्र भी प्रमाण नहीं मिलता है। अतएव निर्णयतः बौद्धों को आत्मवाद स्वीकार करना होगा, अन्यथा उनको चार्वाकों के समान "देहावसान में चैतन्यावसान" का सिद्धान्त मानना होगा। चार्वाक-मत के प्रतिपादन में यह लक्षणीय होता है कि तत्त्वसंग्रह पंजिका में चार्वाक-दर्शन से कतिपय सूत्रों का उद्धरण किया गया है। यथा—तत्त्वसंग्रह के चार श्लोक (१८६५–१८६८) कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक के चार श्लोकों के उद्धरण हैं और पुनः तत्त्वसंग्रह के तीन श्लोक (१८६९–१८७१) श्लोकवार्त्तिक के ग्यारह (५९–६४ तथा ६९–७३) श्लोकों का सारांश मात्र हैं।[५२]

---

५२. The entire argument put in the mouth of the materialist is bodily taken mutatis mutandis from Kumārila's Śloka-vārtika. The Śloka from 1865 to 1868 are reproduced Verbatim and Śls. 1869 to 1871 are but a summarised Version of Kumārila's Ślokas, 59–64 and 69 to 73, Ātma-vāda, S. V. pp. 703–07.

चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणमात्रवादी हैं, किन्तु चैतन्य अतीन्द्रिय है उस (चैतन्य) का कार्य-दर्शन हम देहादि में करते हैं। तद्रूप चैतन्य के दर्शन केवल प्रत्यक्ष-मात्र नहीं होने से चैतन्य का अभाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि जिस प्रकार वैशेषिक स्वीकृत परमाणु का अस्तित्व-नास्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणु स्वरूपतः प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय वस्तु का अस्तित्व-नास्तित्व केवल सन्देह का ही विषय रहेगा। यह (चैतन्य) नहीं है—यह भी निश्चय नहीं हो सकता। यथा—यदि कोई मनुष्य प्रवासी है तो उस मनुष्य के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह नहीं है। उसके अस्तित्व में संशय हो सकता है, पर निश्चय नहीं। अतएव "देह से चैतन्योद्भूति" यह चार्वाक-मत निश्चयात्मक न हो सकेगा, सन्देहात्मक ही रहेगा।

चैतन्य और देह में तो चार्वाक कार्यकारणसंबंध मानते हैं इसका भी कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सिद्ध होता है। अन्वय—यथा देह की उत्पत्ति के पूर्व चैतन्य का अभाव था और देह की ही उत्पत्ति के पश्चात् चैतन्योत्पत्ति होती है – यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं

Śrīdhara in his Nyāya Kandali employs similar arguments to prove the impossibility of metempsychosis in the Buddhist theory of soul or rather no-soul. Śrīdhara opines that the theory of momentary consciousness would land the Buddhist in rank materialism, which denies post-mortem existence of the Soul or conscious life, to be accurate. We are tempted to believe that Śrīdhara has borrowed his arguments from Kumārila whom he quotes with great respect in other places. It is strange that the editor of the Tattvasaṅgraha has failed to enumerate the Ślokas 1865 to 1868 in that work in the list of quotations from Kumārila, given as an appendix. Perhaps the omission to mention Kumārila as the author of the same by Kamalaśīla is responsible for this overt omission on the part of the editor. It is absolutely necessary that these Ślokas should be noticed in the appendix of the Tattvasaṅgraha.

—FLUX p. 204 F. N. 2

हो सकता है। देह के विनाश से चैतन्य का विनाश होगा—यह भी प्रमाणित नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति और विनाश के द्रष्टा के रूप में साक्षी अपेक्ष्य हो जाता है। अन्वयव्यतिरेक के द्रष्टारूप साक्षी के अभाव में कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। चार्वाकों का कथन हो सकता है कि "विदेहावस्था में चैतन्य के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है"—यह मानने से भी यह भी कहना होगा कि "नास्तित्व का भी प्रमाण नहीं दिखा सकते हैं"। अतएव उपर्युक्त दोनों पक्षों में निश्चितरूप से प्रमाणाभाव रह जाता है।

चैतन्य और देह के मध्य में इतना वैजात्य देखा जाता है कि दोनों में कार्यकारणभाव की कल्पना करना भी संभव नहीं है। चतुर्भूतों में से केवल एक भूत से भी चैतन्योत्पत्ति प्रमाणित नहीं हो सकती है। चतुर्भूतों में पारस्परिक महान् वैषम्य है और तदपेक्षया भूत और चैतन्य में महत्तर वैषम्य है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच कोशों का विवरण है।[53] जड़रूप अन्नमय कोश से प्राणोत्पत्ति का प्रतिपादन हुआ है—यह भी आज तक प्रमाणित नहीं हो सका है। इसी प्रकार प्राण से मनस् की और मनस् से बुद्धि की उत्पत्ति का भी आजतक प्रमाणाभाव ही है।

कार्यकारणभाव के निर्णय के लिये धर्मकीर्ति ने "पंचकारणी" का प्रतिपादन किया है। "पंचकारणी" में दो उपलंभ और तीन अनुपलंभ के होने से कार्यकारण-सम्बन्ध का निर्णय वैज्ञानिक भी रासायनिक प्रयोगशाला में निम्नलिखित पद्धति से जल बनाकर प्रमाणित करता है। यथा—चार अणु हाइड्रोजन और दो अणु ऑक्सिजन के संयोग से दो अणु जल बनता है। जैसे—$२H_२ + O_२ = २H_२O$।

प्रयोग-दर्शन के लिये रासायनिक-प्रयोगशाला में वैज्ञानिक एक शुष्क परीक्षण-नलिका (जिसमें जलीय अंश का सर्वथा अभाव हो) में दो और एक के अनुपात से हाइड्रोजन और ऑक्सिजन का संयोग कराकर जल प्राप्त

---

५३. अन्नात्पुरुषः। स वा एषः पुरुषोऽन्नरसमयः —२।१।१
तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः —२।२।१
तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः —२।३।१
तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः —२।४।१
तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः —२।५।१
cf.—तै० उ०

करता है फिर विद्युद्विच्छेदन की क्रिया से जल की पूर्वरूप (गैस) तथा संयोजित अनुपात में ही परिणति हो जाती है और जल का सर्वथा अभाव हो जाता है। विज्ञान का यह प्रायोगिक तथ्य सर्वथा मान्य है। इससे सिद्ध होता है कि जलीय अंश यौगिक है, जो हाइड्रोजन और ऑक्सिजनरूप कारण का कार्यरूप है।

यहाँ पर लक्षणीय यह होता है कि जलोत्पत्ति के पूर्व जल की अनुपलब्धि थी। अनन्तर हाइड्रोजन और ऑक्सिजन के संयोग से कार्य कारण दोनों की उपलब्धि हुई। अनन्तर जल के अपसारण के पश्चात् कारणभाव और कार्याभाव उपलब्ध होते हैं। अर्थात् कारणकार्य की अनुपलब्धि के होने से इन दोनों में कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। 'पंचकारणी' के क्रम निर्धारण में बौद्धों का प्रतिपादन निम्न प्रकार है (१) उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अनुपलंभ (२) कारण का उपलंभ, (३) कार्य का उपलंभ, (४) पुनः कारण का अनुपलंभ और (५) कार्य का अनुपलंभ—यही पंचकारणी[५४] कहलाती है। नैयायिकादि दार्शनिक इसे "अन्वयव्यतिरेक" नाम से अभिहित करते हैं। अन्वयव्यतिरेक से कार्यकारणभाव का निश्चय होता है। चार्वाकों के दार्शनिक सिद्धान्त में देखना होगा कि वहाँ उपर्युक्त पाँच कारणों का संघटन संभव है या नहीं। देह और चैतन्य का कार्यकारणभाव तभी सिद्ध होगा, जब चार्वाक दिखायेंगे कि देहोत्पत्ति के पूर्व चैतन्य की अनुपलब्धि अर्थात् चैतन्याभाव की उपलब्धि सिद्ध होती है। चैतन्य के अतीन्द्रिय होने के कारण उसकी अनुपलब्धि मात्र से उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। प्रत्यक्ष वस्तु की अनुपलब्धि से ही उसका अभाव सिद्ध हो जाता है, अन्यथा नहीं। अप्रत्यक्ष वस्तु के अदर्शनमात्र से उसका अभाव कदापि सिद्ध हो नहीं पाता है। अतएव कार्यकारणभाव निर्णय का कार्यानुपलंभरूप प्रथम कल्प असिद्ध हो जाता है। द्वितीय मध्यवर्ती कल्प अर्थात् देहोपलब्धि और चैतन्योत्पत्ति—ये दोनों उपलब्ध सिद्ध होते हैं। अर्थात् कार्यकारणरूप अन्वय की पूर्ण सिद्धि होती है। इन्हीं दो उपलंभों—सिद्धिद्वय के ऊपर चार्वाक-दर्शन आधारित है। अनन्तर देहाभाव और चैतन्याभाव के होने से देह और चैतन्य – दोनों की अनुपलब्धि है। अर्थात् धर्मकीर्ति के परिभाषानुसार देह की अनुपलब्धि और चैतन्य की अनुपलब्धि— इन दो अनुपलब्धियों को सिद्ध करना होगा। परन्तु चैतन्य के स्वरूपतः

५४. "तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलंभानुपलंभपंचकनिबन्धनः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलंभकारणोपलंभे सत्युपलंभः उपलब्धस्य पश्चात्कारणानुपलंभादनुपलंभः इति पंचकारण्या धूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते"। —स० द० सं० २।१३-१७

अतीन्द्रिय होने के कारण चैतन्य की अनुपलब्धि से चैतन्याभाव सिद्ध नहीं हो पाता है। अतएव देह के अनुपलंभ से चैतन्य का अनुपलंभ है – यह सिद्ध नहीं होता है। इस कारण से केवल अन्वय अर्थात् धर्मकीर्तिसंमत मध्यवर्ती उपलंभद्वय के सिद्ध होने से भी प्राथमिक अनुपलब्धि एवं पश्चाद्भावी अनुपलंभद्वयरूप व्यतिरेक के प्रत्यक्ष प्रमाण के असिद्ध होने से देहचैतन्य का कारणकार्यभाव का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। अब चार्वाक यह आपत्ति उपस्थित कर सकते हैं कि "अप्रत्यक्ष होने के कारण चैतन्य की स्वरूपतः उपलब्धि नहीं होती है।" यह चार्वाकों की आपत्ति हम मान लेते हैं, परन्तु कार्योपलब्धि तो होनी ही चाहिये। यहाँ कार्य की अनुपलब्धि से कारण का अभाव सिद्ध हो जाता है। परन्तु यह आपत्ति भी युक्तिसह नहीं होती है। कारण के होने से कार्य होगा ही — यह कोई नियम नहीं है। अग्नि की सत्ता में धूम की सत्ता होगी ही — यह सिद्ध नहीं होता है, 'क्योंकि प्रज्वलित अयोगोलक में अग्नि की सत्ता होने से भी धूम की सत्ता नहीं होती है'। कारणरूप अग्नि के साथ आर्द्रेन्धन के संयोग हो जाने पर ही कार्यरूप धूम की उत्पत्ति सिद्ध होती है। चैतन्य के प्रत्यक्षतोदृष्ट यज्ञादि क्रियाकलापरूप कार्य देह के साथ सम्बन्ध के होने से होता है। अतएव देह के विनाश होने पर चैतन्य की यज्ञादि क्रियाओं के अभावमात्र से चैतन्य का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् यज्ञादि क्रियाओं के अभाव में चैतन्य का अभाव हेतु नहीं है, अपितु देह संबंध के अभाव से चैतन्य में क्रिया का अभाव होता है - यह चार्वाकों को मानना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि चार्वाक देह और चैतन्य के मध्य में कार्यकारण सम्बन्ध के निर्णय होने के साधनरूप "पंचकारणी" को स्थापित नहीं कर सकते हैं। अतएव चार्वाक सिद्धान्तों का द्वितीय और तृतीय सूत्र, जिसमें चतुर्भूतों से चैतन्योत्पत्ति[५५] का प्रतिपादन है, अप्रामाणिक हो जाते हैं और चार्वाक-मत अप्रामाणिक अभ्युपगममात्र सिद्ध होता है।

चार्वाकवाद के साधारण सिद्धान्त

जडवाद, भौतिकवाद, नास्तिकवाद, स्वेच्छाचार अथवा कामाचारवाद, लोकायतवाद, लोकायतिकवाद और लौकायतिकवाद आदि शब्द चार्वाकवाद के ही लिये पर्यायरूप में व्यवहृत होते हैं।

---

५५. "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा॥ "तेभ्यश्चैतन्यम्" —चा० सू० २-३।

चार्वाक के दार्शनिक सिद्धान्त में एकमात्र जडतत्त्व की मान्यता है। इनके सिद्धान्त में भूमि, जल, अग्नि और वायु—ये ही चार तत्त्व प्रमेय के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। इन्हीं चार भूतों का उचित मात्रा में पारस्परिक संयोग होने पर स्वभावतः चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार किण्वादि तथा गुड और महुआ आदि मादक द्रव्यों का संयोग होने पर मादकता एवं चूना, पान और सुपारी के एकत्र होने पर रक्तिमा की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव यह सम्प्रदाय पूर्ण जडवादी सिद्ध होता है।

"मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ"—इत्यादि साधारण उक्तियों से तथा स्थूलता और कृशता आदि विशेषणों के योग से देह के अतिरिक्त अन्य किसी भी अतीन्द्रिय आत्मा की सिद्धि नहीं होती। अतएव चार्वाकसम्प्रदाय पूर्णरूप से अनात्मवादी या देहात्मवादी है।

आस्तिकशास्त्रों के सिद्धान्त में आत्मा मृत्यु के समय देह से निकल कर परलोक को चला जाता है। इसके खण्डन में चार्वाकीय प्रतिपादन यह है कि यदि आत्मा का परलोक गमन यथार्थ है तब कभी-कभी बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट हो कर वह परलोक से लौट भी आता, पर ऐसा उदाहरण एक भी नहीं मिलता। अतएव आगत परलोकियों के अभाव से परलोक की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इस कारण से यह सम्प्रदाय अपरलोकवादी सिद्ध होता है।

अचेतन काष्ठ आदि ओषधियों की प्रार्थना तथा जर्फरी तुर्फरी आदि निरर्थक शब्दों के प्रयोग से वेद को नित्य एवं अपौरुषेय नहीं माना गया है। अतएव यह अवैदिकवादी सम्प्रदाय है।

इस सम्प्रदाय में जगत की उत्पत्ति "सत्" से नहीं मानी गई है, क्योंकि जो "सत्" है, वह क्षणिक होता है। जिस प्रकार जलधर अर्थात् मेघ को एक क्षण में देखते हैं, पर क्षणान्तर में वह सम्पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है। अतएव यह सम्प्रदाय पूर्ण असद्वादी है।

जड़वादी या भौतिकवादी होने के कारण यह सम्प्रदाय एकमात्र प्रत्यक्षैक-प्रमाणवादी है। अनुमान, उपमान शब्द आदि प्रमाणों को भ्रान्तिमूलक और प्रत्यक्ष के ही ऊपर आधारित होने के कारण स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में नहीं माना गया है। प्रत्यक्षवादी चार्वाक सम्प्रदाय अतीन्द्रिय ईश्वरादि की सत्ता को भी नहीं मानता इस कारण यह सम्प्रदाय सर्वतोभावेन और स्पष्ट निरीश्वर-वादी है।

जड़वादी होने के कारण चार्वाक-मत में स्वेच्छाचारिता और कामाचारिता को अत्यन्त प्रोत्साहन दिया गया है। इस सम्प्रदाय का आदर्श लौकिक सुखवाद

है। इनकी मन्तव्यता के अनुसार प्रत्यक्ष सुखोपभोग ही में मानव समाज की बुद्धिमत्ता या चतुरता है। दुःख मिश्रित होने पर भी वर्तमान सुख का त्याग मूर्खतापूर्ण है। जिस प्रकार मत्स्य-भोजी मत्स्यों को ग्रहण करने से उपरत नहीं होता, वरंच काँटों को हटाकर मत्स्यों के आदेय भाग को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार दुःखमय रहने पर भी सुखोपभोग का त्याग न करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा कौन आत्महितैषी व्यक्ति होगा, जो भीतर स्वच्छ तण्डुलों से परिपूर्ण धान्यों को बाहर भूसियों से आवृत रहने के कारण त्यागना चाहेगा ? लौकिक सुखवाद ही इनका एकमात्र आदर्श है।"[५९]

अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा सारांश में चार्वाकों की घोषणा है कि यथार्थतः चातुर्भौतिक देह के अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्रियातीत आत्मा नहीं है और देह का नाश भी अवश्यंभावी है—तो इस अवस्था में तपश्चरण आदि क्लिष्ट कर्मों के द्वारा देह को क्लेशित करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं। सुकर्म और कुकर्म के लिये सुख और दुःखरूप फल प्राप्ति का भी कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दृष्टिगोचर होता है। अतएव स्वेच्छाचारितापूर्वक सुखमय जीवनयापन ही श्रेयस्कर है। ऋण लेकर घृत पान करने में भी संकोच नहीं होना चाहिये। ऋण को चुकाना भी निष्प्रयोजन है, क्योंकि मर जाने पर दग्ध हो चुकने वाला देह फिर यहाँ लौटने को नहीं, तो किये गये सुकृत-दुष्कृतरूप कर्मों के लिये सुख-दुःखरूप फलों का उपभोक्ता भी कोई नहीं रह जाता। अतएव स्वेच्छाचरण अथवा कामाचरण के द्वारा सर्वथा आनन्दमय जीवन व्यतीत करना ही सर्वतोभावेन कल्याणकर है।

पाषण्ड, धूर्त, सुशिक्षित और सुशिक्षिततर—इन्हीं चार वर्गों में नास्तिक सम्प्रदाय विभक्त है। इनमें प्रत्येक परवर्ग पूर्ववर्ग की अपेक्षा क्रमशः विकसित और विकसिततर रूपों को धारण करता गया है। नास्तिक-दर्शन आस्तिक भारतीय-दर्शनों का प्रमुख अंग, पूर्वरूप या पृष्ठभूमि है। यदि यह भी कहा जाय कि नास्तिक आचार्यों की झकझोर-नीति के कारण ही आस्तिक भारतीय-दर्शनों में महान् विकास आया तो कदाचित् अनौचित्यपूर्ण न होगा।

---

५९ "त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी" ॥

—स० द० सं० १।२९।

उपलभ्यमान साहित्य

प्रारंभ से ही दर्शनशास्त्र से नैसर्गिक प्रेम और उसमें स्वाभाविक अभिरुचि होने के कारण अपने शोध-कार्य के मुख्य विषय के रूप में मैंने चार्वाक-दर्शन को निर्वाचित किया। नास्तिक-दर्शन के साहित्य एवं उसके व्यावहारिकरूप का स्पष्टास्पष्ट दर्शन हम वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, प्राचीन-इतिहास, पुराण, काव्य और नाटक आदि समस्त आर्यवाङ्मय में पाते हैं, पर वे पूर्वपक्ष के रूप में अथवा अपनी विकीर्ण अवस्था में हैं। एतत्सम्बन्धी कोई भी सर्वाङ्गपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ आज उपलभ्य नहीं है। प्राचीन विद्यामनीषी जगद्गुरु शङ्कर, आर्हतप्रवर हरिभद्रसूरि और बौद्ध-दार्शनिक शान्तरक्षित ने नास्तिक-दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों का दिग्दर्शनमात्र उपस्थित कराया है। प्राचीन गवेषी विद्वानों में मूर्धन्य आचार्य माधव ने अपने "सर्वदर्शनसंग्रह" के प्रथम दर्शन के रूप में चार्वाक-मन्तव्यताओं पर संक्षिप्त परन्तु अङ्गपूर्ण विवरण उपस्थित किया है।

अर्वाचीन विद्वानों में कलिकाता संस्कृत कॉलेज के भूतपूर्व प्राध्यापक श्री दक्षिणारंजन शास्त्री, एम० ए० ने भारतीय भौतिकवाद पर "चार्वाकषष्टि" नामक एक लघुकाय पुस्तक का सम्पादन किया था, जो गत १९२४ ई० में कलकत्ता बुक कम्पनी से प्रकाशित हुई थी। अब वह पुस्तक अप्राप्य-सी हो रही है। "चार्वाकषष्टि" में चार्वाक सम्बन्धी साठ श्लोकों का संग्रह है। उनमें प्रथम ४७ श्लोक नैषधीयचरित के १७ वें सर्ग से, ४८ से ५५ अर्थात् ८ श्लोक "सर्वदर्शनसंग्रह" से, १ श्लोक "विद्वन्मोदतरंगिणी" से और शेष ५७ से ६० तक अर्थात् ४ श्लोक फिर "सर्वदर्शनसंग्रह" से संगृहीत किये गये हैं। प्रत्येक श्लोक का श्री शास्त्री ने अन्वय के साथ "नारायणी" व्याख्या एवं "दर्शनाङ्कुर" भाष्य पर आधारित "सार" नामक भाष्य लिखा है। खोजी विद्यार्थियों के लिये लघुकाय होने पर भी यह पुस्तक उपयोगी है।

गत १९४० ई० में बड़ौदा गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज से जयराशिभट्ट नामक एक उद्भट विद्वान् के द्वारा लिखित "तत्त्वोपप्लवसिंह" नामक दार्शनिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। समीक्षात्मक अध्ययन से अवगत होता है कि यह एकाङ्गी नास्तिकवाद का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि अशेष प्रमाणों का अकाट्य युक्तियों से निरसन किया गया है।

इधर श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय के द्वारा लिखित बृहत्काय दो ग्रन्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं। एक बङ्गीय भाषा में ग्रन्थित "लोकायतदर्शन" १९५६ ई० में कलकत्ते से और द्वितीय आंग्ल भाषा में गुम्फित "लोकायत" १९५९

ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। उक्त दोनों ग्रन्थ दार्शनिकता की अपेक्षा समाजवादिता के प्रवाह में अधिक दूर तक प्रवाहित हुए हैं।

श्री दक्षिणारंजन शास्त्री के द्वारा वंग भाषा में लिखित "चार्वाक-दर्शन" नामक एक लघुकाय पुस्तक १९५९ ई० में कलिकाता पुरोगामी प्रकाशनी से पुनः प्रकाशित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि पुस्तक के प्रणयन में सर्वाङ्गीण दृष्टिकोण से दार्शनिकता की रक्षा का ध्यान रखा गया है।

अपने दृष्टिकोण की विभिन्नता

इस ओर मेरे पूर्ववर्त्ती एवं कृतकार्य आचार्यों के निर्वाचित विषय के अभिन्न रहने पर भी अपने शोध-कार्य के लिये मैंने जिस लक्ष्य पर दृष्टिकोण को आधारित किया है, संभवतः उसकी दिशा भिन्न और नूतन है एवं अपने अन्वेष-निबन्ध की रूपरेखा के निर्माण में जिस दिशा का अवलम्बन लिया है उस ओर भी मेरा प्रयास प्रथम और नवीन ही है---ऐसा समझ कर ही मैंने चार्वाक-दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा में अपने को अग्रसर किया है। वर्तमान निबन्ध में सर्वप्रथम विभिन्न चार्वाक-सम्प्रदायों पर प्रकाश डालने के प्रयत्न में एवं सम्प्रदायों के प्रतिष्ठापन में भारतीय शास्त्राधार पर विवेचन प्रस्तुत हुआ है। इस दिशा में कतिपय अभारतीय दार्शनिकों का मत भी उद्धृत किया गया है। तत्पश्चात् चार्वाकदर्शन की उत्पत्ति के प्रसंग में श्रुति, उपनिषद्, दर्शन, प्राचीन इतिहास, रामायण, महाभारत, पुराण और काव्य आदि प्राचीन शास्त्रों से प्रमाणों का उद्धरण किया है।

नास्तिकवाद चार्वाक सम्प्रदाय के मुख्यतम अंग के रूप में स्वीकृत है, अतएव इसकी विवेचना में पृष्ठभूमि होने के कारण पहले आस्तिकवाद का भी सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षण उपस्थित किया गया है। आस्तिक और नास्तिकवाद के आलोचनात्मक विवेचन में पाणिनीयव्याकरण, पातंजलमहाभाष्य, काशिका, भगवद्गीता, मनुस्मृति, श्वेताश्वतर, कठ, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उपनिषद्, मीमांसा, योग, न्याय आदि सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों के प्रमाणों को यथासंभव संगृहीत किया गया है।

प्रमा, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की मीमांसा तर्कसंग्रह, न्यायकोश, न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य, न्यायकुसुमांजलि और बृहदारण्यकोपनिषद् आदि ग्रंथों के आधार पर की गई है एवं प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि तथा अनुमानादि प्रत्यक्षेतर प्रमाणों की निराकृति में सर्वदर्शनसंग्रह, सांख्यतत्त्वकौमुदी, गौतमसूत्र और वात्स्यायनभाष्य आदि ग्रन्थों को ही अवलम्बन के रूप में ग्रहण किया गया है।

जडतत्त्व अथवा भौतिकतत्त्ववाद का प्रतिष्ठापन बार्हस्पत्यसूत्र, सर्वसि-द्धान्तसंग्रह, सांख्यकारिका और कार्लमार्क्स के विचार पर आधारित है।

परलोक के निराकरण में त्रिषष्टि शलाका, निरुक्त, कठोपनिषद्, बृहदारण्य-कोपनिषद्, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, रामायण, सर्वसिद्धान्तसंग्रह, षड्दर्शन-समुच्चय, तत्त्वसंग्रह और नैषधीयचरित आदि प्रामाणिक ग्रन्थों से उद्धरण लिया गया है।

देहात्मवाद, मनश्चैतन्यवाद, प्राणात्मवाद, अनात्मवाद, स्वभाववाद, पुनर्जन्म, संशयवाद, अज्ञेयवाद, उच्छेदवाद, वेदाप्रामाणिकता और अनीश्वरवाद आदि की सिद्धि में ऐतरेयब्राह्मण, मीमांसा, उपनिषद्, महाभारत, गीता, जातक, कुसुमांजलिबोधिनी, सांख्यकारिका, कामसूत्र, पातंजलमहाभाष्य, बोधिचर्यावतार, मिलिन्दप्रश्न, ऋग्वेद, सूत्रकृतांग, महावग्ग, रामायण और दीघनिकाय आदि ग्रन्थ उपयोग में लाये गये हैं।

वेद की अनित्यता और पौरुषेयता की सिद्धि मीमांसा-दर्शन, शाबरभाष्य, सांख्य-दर्शन ऋग्वेद, सांख्य, न्याय, तैत्तिरीयसंहिता, उपनिषद्, गीता, रामायण और पुराण, आदि शास्त्रों के प्रमाणों से की गई है।

ईश्वर के खण्डन अर्थात् अनीश्वरवाद के प्रतिष्ठापन में सांख्य-दर्शन, सर्वदर्शन-संग्रह, प्रकरणपंजिका और दीघनिकाय आदि ग्रन्थों का निःसंकोच भाव से उपयोग किया गया है।

निबन्ध के एक अध्याय में केवल उपलब्ध चार्वाकवाद, लोकायतवाद, नास्तिकवाद और भौतिकवाद के साहित्यों का संचय है। इस अध्याय में पुराकालीन दर्शन, इतिहास, रामायण, तथा जैन बौद्ध और पुराण आदि संस्कृतवाङ्मय के शास्त्रों में उपलब्ध साहित्य संगृहीत हुए हैं।

मूल साहित्यांशों का मैंने अपना स्वतन्त्र हिन्दीरूपान्तर देकर यत्र-तत्र यथावश्यक प्रासंगिक तथा प्रामाणिक संस्कृत भाष्यों का भी उद्धरण किया है और तत्सम्बन्धी चार्वाक-सिद्धान्तों के पुष्टीकरण के लिये पादटीकाओं में शास्त्रीय प्रमाणों का उद्धरण हुआ है। साहित्य-सम्बन्धी कालक्रम के निर्धारण में ऐतिहा-सिकता की रक्षा की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। एतत्प्रसंग में प्राचीन शास्त्रों के अतिरिक्त अर्वाचीन ऐतिहासिक आचार्यों के विचारों का भी पूर्ण सदुपयोग करने की चेष्टा की गई है।

षष्ठ अध्याय में चार्वाकवाद का निराकरण है। इस प्रसंग में यथाक्रम प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और

ऐतिह्य—इन सम्पूर्ण प्रमाणों को, परलोक के अस्तित्व को, "सत्" से जगत् की उत्पत्ति को, वेद की अपौरुषेयता एवं नित्यता को और अतीन्द्रिय ईश्वर की सत्ता को आलोचनात्मक युक्तियों के द्वारा प्रमाणित तथा सिद्ध किया गया है। इस दिशा में वेदोपनिषद्, गीता, न्यायदर्शन, न्यायकुसुमांजलि, प्रकाश टीका और स्मृतिपुराण आदि प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थों का आधार ग्रहण किया गया है।

इसके पश्चात् उपसंहार के साथ ग्रन्थ की समाप्ति हुई है।

द्वितीय परिच्छेद

चार्वाक सम्प्रदाय

लोकायत—सुखवाद—एप्युकुरिस और सुखवाद—पाषण्ड-सम्प्रदाय—जल्प—वितण्डा—तत्त्वोपप्लवसिंह—धूर्तसम्प्रदाय—सुशि-क्षितसम्प्रदाय—सुशिक्षिततरसम्प्रदाय—भारतेतर लोकायतवाद।

सम्प्रदाय

यति सदानन्द के मत की उपस्थिति के साथ भूतवाद के साधारण चार सम्प्रदायों के प्रतिपादन में डा० राधाकृष्णन कहते हैं कि तर्क का मुख्य विषय है—आत्म-तत्त्व की निर्धारणसम्बन्धी धारणा। एक भूतवादी सम्प्रदाय आत्मा को स्थूल शरीर से अभिन्न मानता है; द्वितीय सम्प्रदाय आत्मा को इन्द्रियों से से अभिन्न मानता है; तृतीय सम्प्रदाय आत्मा को प्राण से अभिन्न मानता है और चतुर्थ सम्प्रदाय आत्मा को मनस् से अभिन्न मानता है। अतएव (१) शरीरात्मवादी, (२) इन्द्रियात्मवादी, (३) प्राणात्मवादी और (४) मानसात्मवादी या मनश्चैतन्यवादी—ये ही चार भौतिकवाद के मुख्य सम्प्रदाय हैं।[1]

चार्वाक लोग विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त थे। बृहस्पति को इस मत का आदि प्रवर्त्तक माना गया है। यह मत पहले बृहस्पति-रचित सूत्रों में गुम्फित था, इस कारण से इन सूत्रों को "बार्हस्पत्यसूत्र" और इस दर्शन को "बार्हस्पत्य-दर्शन भी कहा जाता था। किन्तु बृहस्पति इस मत के प्रवर्त्तक थे—इस विषय में विद्वानों का मत एक नहीं है। ऋग्वेद के लौक्य बृहस्पति ने "असत्" से "सत्" की उत्पत्ति प्रतिपादित की है।[2] दुर्गासप्तशती के टीकाकार नागोजिभट्ट ने "असत्" का शब्दार्थ जड तथा "सत्" का शब्दार्थ चैतन्य किया है।[3] यदि यह अर्थ ग्राह्य है तब तो लौक्य बृहस्पति का जड से चैतन्य का उत्पत्तिरूप अर्थ-प्रतिपादन स्वीकार करना होगा, क्योंकि "जडस्वभाव भूतचतुष्टय

---

१. Sadānanda speaks of four different materialistic Schools. The chief point of dispute is about the Conception of the soul. One school regards the soul as identical with the gross body, another with the senses, a third with breath, and a fourth with the organ of thought.

I. Phil. I. p. 280.

२. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥

—ऋग्वेद १०।७२।२

३. सत् ब्रह्मवर्गः असत् जडवर्गः

—अ० १, श्लो० ६३

से चैतन्योत्पत्ति—यह चार्वाकों का अपना सैद्धान्तिक मत है। अतएव लौक्य बृहस्पति ही चर्वाक मत के आदिप्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं। न्यायकुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने बुद्ध को चार्वाक से अभिन्न घोषित किया है। "बुद्धदेवेर नास्तिकता" नामक पुस्तक में हीरेन्द्रनाथ दत्त ने चार्वाक और बौद्ध-मत में स्वल्पमात्र ही पार्थक्य निर्देशित किया है।

समीक्षण से ज्ञात होता है कि ये दोनों सम्प्रदाय असद्वादी और वेद-विरोधी होने कारण नास्तिक वर्ग में गणनीय हैं। इसी कारण उपर्युक्त कतिपय विद्वानों ने बौद्ध तथा चार्वाक-सम्प्रदायों को अभिन्न निर्दिष्ट किया है।

मैत्रायणी ने कापालिकों को लोकायतिकों से अभिन्न प्रदर्शित कर दोनों सम्प्रदायों को अस्वर्ग्य, तस्कर तथा साधु-समाज से वर्जित माना है।[४]

लोकायत

यह कहना कठिन है कि लोकायत शब्द का प्रकृत तथा अभिप्रेत अर्थ क्या है। "लोकायत" शब्द की व्युत्पत्ति दो शब्दों के योग से संभावित है। लोक + आयत या अयत के योग से "लोकायत" शब्द निष्पन्न हुआ है। 'यम्' धातु के आगे 'क्त' प्रत्यय के योग से "आयत" या चेष्टार्थक 'यत' धातु के आगे 'अ' प्रत्यय के योग से "अयत" शब्द व्युत्पन्न होता है। 'अयत' शब्द की निष्पत्ति 'नञ्' समास से निषेध अर्थ में होती है। अग्गवंश में प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ माना जाता है—"अध्यवसायी" और द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार तद्विपरीत "अनध्यवसायी"। प्रो० तुच्ची (Tucci) बुद्ध-घोष की 'सारत्थ-पकासिनी' के एक अनुच्छेद के उद्धरण में इसका अर्थ "आयतन" करते हैं और Prof Tucci की व्याख्या के अनुसार 'लोकायत' का शब्दार्थ होता है मूर्ख और दूषित लोक।[५]

सम्भवतः, प्रत्यक्ष परिदृश्यमान इस लोक में सर्वाधिक प्रसार होने के कारण यह मत "लोकायत" नाम से प्रख्यात हुआ। इस मत में अनुमान आदि

---

४. अथ ये चान्ये ह वृथा कषायकुण्डलिनः कापालिनोऽथ ये चान्ये ह वृथातर्कदृष्टान्तकुहकेन्द्रजालैर्वैदिकेषु परिस्थातुमिच्छन्ति तैः सह न संवसेत् प्राकाश्यभूता वै ते तस्करा अस्वर्ग्या इत्येवं ह्याह।

नैरात्म्यवादकुहकैर्मिथ्यादृष्टान्तहेतुभिः।
भ्राम्यन् लोको न जानाति वेदविद्यान्तरन्तु यत्॥

—मैत्र्युपनिषद् ७।८

५. cf. H. I. Phil, Vol. III. pp. 514–5

प्रमाणगम्य पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक आदि परोक्ष लोकसत्ता की मान्यता नहीं है। लोकायत-सम्प्रदाय भूतवाद तथा उच्छेदवाद में आस्था रखता है। बुद्धघोष ने "लोकायत" का "वितण्ड—सत्य" अर्थ किया है। लोकायत-मतावलम्बी बुद्धिवाद पर आस्थावान् होते हुए पर पक्ष का खण्डन करना अपना लक्ष्य मानते थे। स्व पक्ष की स्थापना में इनकी प्रवृत्ति नहीं थी, प्रत्युत इनका संकेत शुष्क तर्क की सहायता से वैदिक मार्गानुयायियों के पक्ष का खण्डन-मात्र था। प्रारम्भ से ही ये वैतण्डिक थे। जयन्तभट्ट ने इन्हीं को लक्ष्य कर कहा है कि लोकायत-मत में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का कोई विचार नहीं। यह सम्प्रदाय वितण्डावादी मात्र है।[६] बुद्धघोष ने लोकायतवाद को वितण्डावाद माना है।[७]

बार्हस्पत्य, नास्तिक तथा पाषण्ड आदि के लिए पर्याय के रूप में लोकायत, लोकायतिक, लौकायतिक आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। शब्दशास्त्र के उक्थादिगणीय लोकायत शब्द से पठन और ज्ञान के अर्थ में "उक्" प्रत्यय के योग से "लोकायतिक" और "लौकायतिक" शब्दों की सिद्धि हुई है।[८] उस मत के आचार्य और शिष्य लोकायतिक और लौकायतिक नामों से अभिहित होने लगे। अतएव, अब लोकायतिक सम्प्रदाय के पाणिनि के पूर्ववर्त्ती होने में सन्देह के लिए कोई सम्भावना नहीं है और तब सिद्ध होता है कि पाणिनि के पूर्ववर्त्ती समय में लोकायत-मतावलम्बी थे।

---

६. "न हि लोकायते किञ्चित्कर्त्तव्यमुपदिश्यते।
वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः॥

ननु च यावज्जीवं सुखं जीवेदिति तत्रोपदिश्यते। न स्वभावसिद्धत्वेनात्रोपदेशवैफल्यात्। धर्मो न कार्यस्तदुपदेशेषु न प्रत्येतव्यमित्येवं वा यदुपदिश्यते तत्प्रतिविहितमेव पूर्वपक्षवचनमूलत्वाल्लोकायतदर्शनस्य। तथा च तत्रोत्तर ब्राह्मणं भवति न वा अरे अहं मोहं ब्रवीमि अविनाशी वा अरेऽयमात्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवतीति। तदेवं पूर्वपक्षवचनमूलत्वाल्लोकायतशास्त्रमपि न स्वतन्त्रम्।"

—न्या० मं०, आ० ४, पृ० २७०-२७१

७. "वितण्डासत्थं विञ्ञेय्यं यं तं लोकायतम्।"

—H. I. Phil. p. 512, F. N. 3

८. "तदधीते तद्वेद" और "क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्"

—पा० व्या० ४।२।५९-६०

आदि कवि वाल्मीकि ने लोकायतिक ब्राह्मणों का प्रसंग उपस्थित किया है[९]। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लोकायत शब्द का उल्लेख किया है[१०]। शङ्कराचार्य ने एक प्रसंग में कहा है कि लोकायतिक-सम्प्रदाय देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। यथा—

"लोकायतिकानामपि चेतन एव देह इति लोकायतिका देहातिरिक्तस्य आत्मनोऽभावं मन्यमानाः।"

गीताभाष्य में एक सूत्र के अन्त में लोकायतिक शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—

"काम एव प्राणिनां कारणमितिलोकायतिकदृष्टिरियम्।"

महाभारत में भी लोकायतिक शब्द का दर्शन मिलता है—

"लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम्।"

बृहत्संहिता की टीका में भट्ट उत्पल ने लौकायतिक शब्द को प्रयुक्त किया है—

"अपरे अन्ये लौकायतिकाः स्वभावं जगतः कारणमाहुः[११]।

पालि-परम्परा में दीघनिकाय के ब्रह्मजाल, सामञ्ञफल, अम्बट्ठ, सोणदण्ड और कुटदन्त सुत्तों में लोकायतिकों के अनेक प्रसंग दृष्टिगोचर होते हैं। अङ्गुत्तरनिकाय, मिलिन्दप्रश्न तथा दिव्यावदान (रोमन, पृ० ६१९) आदि बौद्ध-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में लोकायतिक शब्द का बहुधा प्रयोग उपलब्ध होता है।

लोकायतशास्त्र के पारदर्शी विद्वान् छब्बगिय भिक्खु की चर्चा विनयपिटक में हुई है[१२]।

अष्टमशती हरिभद्रसूरि ने अपने "षड्दर्शन-समुच्चय" के चार्वाक प्रकरण को लोकायत शब्द से आरंभ कर और लोकायत शब्द से ही समाप्त भी किया है। यथा—

"लोकायता वदन्त्येवम्............।
लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं निवेदितः[१३]॥

---

९. "क्वचिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे
—वा० रा०, २।१००।३८

१०. cf. F. n. I, 5

११. Vide शास्त्री० p. 162

१२. cf. महाविभंगीय भिक्खुविभंग

१३. cf. ष० द० स० श्लो० १ और ८।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी के अनुमान के निराकरण में लौकायतिक शब्द का उल्लेख करते हुए कहा है—

"अनुमानमप्रमाणमिति लौकायतिकाः[१४] ।"

आचार्य वात्स्यायन ने निम्नाङ्कित छः सूत्रों का उद्धरण कर अन्त में लौकायतिक शब्द का प्रसंग दिया है[१५] । यथा—

न धर्मांश्चरेत् ।
एष्यत्फलत्वात् ।
सांशयिकत्वाच्च ।
कोह्यबालिशो हस्तगतं परहस्तगतं कुर्यात् ।
वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात् ।
वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापण इति लौकायतिकाः ।

गीता की टीका में आचार्य मधुसूदन ने लौकायतिक शब्द का उल्लेख किया है[१६]—

शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः सर्वज्ञ इति लौकायतिकाः ।

व्याकरणशास्त्र के महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने एक स्थल पर लोकायत शब्द का उल्लेख करते हुए कहा है कि भागुरि नामक आचार्य के द्वारा प्रणीत भागुरी नाम की टीका लोकायतशास्त्र की व्याख्यात्री है[१७] ।

इस प्रकार अवगत होता है कि भिन्न-भिन्न शास्त्रकारों के द्वारा प्रयुक्त लोकायत, लोकायतिक और लौकायतिक—ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के निर्विचार प्रकाशक हैं और उन-उन शास्त्रकारों ने चार्वाकवाद के साथ इस वाद में किसी प्रकार के पार्थक्य का निर्देश नहीं किया है । इससे भी लोकायतिकों की प्रत्यक्ष जीवनसम्बन्धी आस्था का आभास मिलता है ।

नास्तिक

लोकायत और चार्वाक शब्दों की अपेक्षा नास्तिक शब्द की अधिक व्यापकता हो गई है । जैन, बौद्ध और कापालिक आदि सम्प्रदाय भी वेद

---

१४. cf. शास्त्री० P. 162

१५. का० सू० १।२।२५–३०

१६. cf. शास्त्री० P. 163

१७. वर्णिका भागुरी लोकायतस्य

—७।३।४५

विरोधी होने के कारण नास्तिक नाम से अभिहित होते हैं। लोकायत अथवा चार्वाक-सम्प्रदाय तो परलोकविरोधी होने के कारण सम्पूर्णरूप से नास्तिक नाम से प्रसिद्ध है। बार्हस्पत्य शब्द यदाकदाचित् यद्यपि बृहस्पति के मतानुयायी अर्थशास्त्रज्ञाता एवं बौद्धमतावलम्बी के अर्थ को लक्षित करता है किन्तु "बार्हस्पत्यदर्शन" शब्द के कथन से तो चार्वाक अथवा लोकायत-दर्शन का ही बोध होता है। नास्तिक शब्द का उल्लेख उपनिषद् में भी उपलब्ध होता है[१८]।

चार्वाक

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'लोकायत' के लिये बहुधा चार्वाक शब्द का प्रयोग होता है। चार्वाक शब्द के व्युत्पन्नार्थ अनेक प्रकारों से सिद्ध होते हैं। इस शब्द के अर्थनिष्पादन में विविध वैयाकरणों एवं आचार्यों की विविध पद्धतियाँ हैं। चार्वाक शब्द की सिद्धि दो पद्धतियों से होती है। एक 'चर्व' धातु के आगे उणादि प्रत्यय के योग से और द्वितीय 'चारु' और 'वाक' इन दो शब्दों के योग से। आचार्य हेमचन्द्र के मत से चार्वाक उन्हें कहते हैं जो पुण्य और पाप के परोक्ष फलरूप वस्तुजात को चर्वित कर जाते हैं अर्थात् परोक्षभूत परलोक आदि का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते।[१९] संस्कृत कोष में चारु को बृहस्पति का पर्यायवाचक माना गया है।[२०] तदनुसार चार्वाक का शब्दार्थ बृहस्पति का वचन होता है। तारानाथ तर्कवाचस्पति के मत से चारु का साधारण शब्दार्थ होता है—सुन्दर अथवा मनोरम और तदनुसार बहुव्रीहि समास करने पर चार्वाक शब्द का अर्थ होता है—सुन्दर, मनोरम अथवा मनोनुकूल है वचनमय उपदेश जिसका वह[२१] (व्यक्तिविशेष या सम्प्रदाय)। यही चार्वाक शब्द की संक्षिप्त अर्थनिष्पत्ति हुई। ह्विटनी (Whitney) ने

---

१८. cf. मैत्र्युपनिषद् ३।५

१९. "चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यते पुण्यपापादिकं परोक्षजातमिति चार्वाकाः।"

—उणादि सूत्रम् ३७

२०. Vide शब्दार्थ-कौस्तुभ, पृ० ४३० and Monier p. 393.

२१. "चारुः लोकसम्मतः वाकः वाक्यम् यस्य सः।"

—वा० चतुर्थ भाग, पृ० २९२१

चार्वाक का शब्दार्थ मधुरभाषी (Sweet tongued) किया है।[२२] कुल्लूकभट्ट ने स्मृति की टीका में चार्वाक शब्द का नामोल्लेख किया है।[२३]

विवेचन करने पर उपर्युक्त अशेष अर्थ युक्तिसङ्गत ही अवगत होते हैं, क्योंकि चार्वाक-परम्परा के सामाजिक व्यवहार में स्वेच्छाचार और कामाचार की पूर्ण स्वतन्त्रता के कारण इनके उपदेश स्वभावतः मनोनुकूल लगते हैं। 'चर्व अदने' धातु से व्युत्पन्न चार्वाक का शब्दार्थ अधिकतर युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि चर्व धातु भोजनार्थक है और इस सम्प्रदाय में भोजन, पान और भोग के लिये पूर्ण प्रोत्साहन और स्वच्छन्दता है। यथा—

"पिब खाद च जातशोभने[२४]।"
'त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा[२५]।" इत्यादि

लोकायत-मत और चार्वाक-मत दोनों एक ही वाद हैं तथा जडवाद के प्रतिपादक होने के कारण पूर्ण नास्तिकवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह कहना कठिन है कि लोक में इस सम्प्रदाय का कब प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु गम्भीर चिन्तन से अवगत होता है कि यह वाद भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। गवेषी विद्वानों का कथन है कि इस मत की चर्चा ऋग्वेद में भी है।[२६] याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को इस मत का उपदेश देते हुए कहा है—"इन भूतों के मिलन से ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर विनष्ट हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता।[२७] इस सम्प्रदाय में स्पष्टास्पष्टरूप से स्वेच्छाचार या कामाचार का पूर्ण तथा व्यावहारिक प्रचार रहा है। लोक में लोकायतवाद की अधिकतर प्रसिद्धि चार्वाक नाम से हुई है। चार्वाक बृहस्पति का शिष्य था, यह भी मान्यता है। यह भी उल्लेख मिलता है कि चार्वाक नामक कोई राक्षस भी था, जो दुर्योधन का मित्र और पाण्डवों का शत्रु था। उसने युधिष्ठिर के नगर-प्रवेश के समय संन्यासी के वेष में आकर उनके प्रति दुर्वचन कहे थे। बदरिकाश्रम में जाकर कभी उसने घोर

२२. Cārvāc, Cārvāka, Cārvadana, (Cāru-Vac) etc.
—Whitney : Sanskrit Grammar, Rule 233,

२३. Vide. मनु० १२।९५

२४. प० द० सं० ३

२५. प्र० च० २।५०

२६. cf. मिश्र० भा० पृ० ८३

२७. "भूतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीति"
—बृ० उ० २।४।१२

तपस्या की और तप से प्रसन्न होने पर ब्रह्मा जी से चार्वाक ने अपने लिए किसी भी प्राणी से भय न होने की वर-याचना की और ब्रह्मा जी ने कुछ संशोधन के साथ उसको वह वर दिया। अन्त में चार्वाक का वध उसी के द्वारा अपमानित ब्राह्मणों के क्रोधानल से हुआ।[२८] व्याकरण के कुछ प्राचीन उद्धरणों से सूचित होता है कि लोकायत-शास्त्र के उद्‌भट पण्डितों की संज्ञा "चार्वी" थी[२९] और उसी से 'चार्वाक" शब्द व्युत्पन्न हुआ, जो आचार्य का नाम न रहकर उनकी विरुदावली के लिए पीछे चलकर प्रयोग में आने लगा। दशरथ के एक लोकायत-मतावलम्बी जाबालि नामक मंत्री का भी उल्लेख मिलता है।[३०] लोकायत-सम्प्रदाय अति प्राचीन था और संभवतः पाणिनि ने नास्तिक-सम्प्रदायों में उसे सन्निविष्ट किया है।

मन्त्रयुग के ऋषि बृहस्पति ने इस मत का प्रवर्तन किया और अन्यान्य ऋषियों ने उनको सहयोग दिया। फलस्वरूप, सुसंगठित नास्तिक-दार्शनिक-मत का उद्‌भव हुआ। बृहस्पति द्वारा प्रवर्तित यह मत दार्शनिकता की दृष्टि के विचार करने पर जितना भी स्थूल क्यों न प्रतिपन्न हो और इसका स्थान कितना भी निम्नस्तरीय क्यों न हो, परन्तु यह भारतीय मस्तिष्क से निःसृत "आदि-दर्शन" है। यही दर्शन-मत भारतवर्ष में स्वाधीन चिन्तन का पथ-प्रदर्शक है। पश्चात् , मन्त्रयुग के बृहस्पति ने बार्हस्पत्य दर्शन-सम्बन्धी सूत्र-ग्रन्थ का प्रणयन कर इस मत को एक सुसम्बद्ध और सुविन्यस्त दर्शन-प्रस्थान के रूप में परिणत किया। कालान्तर में यही शास्त्र गुरुशिष्य-परम्परा के क्रम से चार्वाक के हाथों में आया। चार्वाकों ने भी पुनः शिष्य-उपशिष्यों की सहायता से इस शास्त्र को प्रवर्धित कर लोकायत, अर्थात् लोक में विस्तृत और प्रचारित किया। इस चार्वाक-दर्शन का गौरव असामान्य है। इस दर्शन को पूर्वपक्ष के रूप में पाकर अन्यान्य दर्शन-शास्त्र सुसमृद्ध और परिपुष्ट होकर शक्तिशाली बने।

अन्नंभट्ट के मत से सम्पूर्ण सृष्टि में अशेष प्राणियों का निसर्ग से ही सुख-

---

२८. cf. म० भा० शान्ति० अ० ३८-३९

२९. सम्माननं पूजनम्। नयते चार्वी लोकायते। चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी, स लोकायते शास्त्रे पदार्थान्नयते, उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति ते युक्तिभिः स्थाप्यमानाः सम्मानिताः पूजिता भवन्ति।

—काशिका, १।३।३६

३०. द्र० वा० रा० २।१०९।१०-१८

प्राप्ति[31] एवं दुःख-निवृत्ति[32] के लिए निरन्तर प्रवर्धमान प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कोई भी प्राणी किसी भी अवस्था में और किसी भी परिमाण में दुःख-सहन के लिए अन्तःकरण से प्रस्तुत नहीं मिलता। योगशास्त्रप्रणेता महर्षि पतंजलि ने अनागत, अर्थात् भावी, दुःख की हेयता का प्रतिपादन किया है।[33]

सुखवाद

प्रत्येक प्राणी उपलभ्यमान सुख की अपेक्षा महत्तर सुख की तथा उपलब्ध दुःख-निवृत्ति की अपेक्षा अधिकतम दुःख-निवृत्ति की सतत कामना करता है। पत्नी, पुत्र, विभव, पशु, मित्र आदि, ये ही लौकिक सुखों के प्रधान साधन हैं। शास्त्रों में इनकी प्राप्ति के लिये यज्ञ-विधान है। यथा—"यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत"।[34] पुनश्च "पत्नीकामो यजेत," "पुत्रकामो यजेत," "ऋद्धिकामो यजेत," "पशुकामो यजेत" और "मित्रकामो यजेत" इत्यादि[35] वैदिक विधि-वाक्यों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में काम्य-कर्मों की ही प्रधानता थी एवं पत्नी, पुत्र, धन, पशु, मित्र, आदि की कामना से उन-उन पदार्थों की उपलब्धि तथा उपभोग करने से जो अनुकूल "वेदना" होती है, वही तो सुख है। जप, याग, दान आदि कर्म तो उपलक्ष्यमात्र हैं। स्वर्ग में केवल सुख की अनुभूति होती है।[36] इसी कारण वैदिक ऋषियों ने विधान किया—स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए, "स्वर्गकामो यजेत[37]। किस उपाय से सुख के परिमाण में निरन्तर वृद्धि की जाय, इसी

---

३१. "सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम्—तर्कसंग्रह, पृ० ७१"

३२. "प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्—Abid 72"

३३. "हेयं दुःखमनागतम्—यो० द०, २।१६"

३४. द्र० तैत्तिरीयसंहिता, २।१।१।४

३५. cf. शास्त्री० पृ० ३४७

३६. इमा रामाः सरथाः सतूर्याः, न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥
—क० उ० १।१।२५

तथा च

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥
—गीता० ९।२०

३७. द्र० ने० च० ना० १७।३७

उद्देश्य से समस्त जीव कर्म करने में सतत प्रवर्त्तमान हैं। एक क्षण भी कोई प्राणी अकर्मण्य नहीं रहता है। प्रत्येक प्राणी प्रत्येक क्षण में कर्म करने के लिये प्रकृति से प्रेरित हो रहा है।[३८]

बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में "पंचकामगुणदिट्ठधम्मनिब्बानवाद" नामक एक मत प्रचलित था।[३९]

इस मत के अनुसार पंच इन्द्रियों की सेवा या भोग के द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट चरम लक्ष्य तक उपनीत हो सकता है। महावीर के "स्याद्वाद" से भी विदित होता है कि उनके समय में भी इस प्रकार का एक मत प्रचलित था।[४०] चार्वाक एकमात्र काम, अर्थात् विषयोपभोग को ही पुरुषार्थ मानते हैं—"काम एवैकः पुरुषार्थः"।[४१]

पक्षान्तर में श्रुति कहती है—श्रेयस् (विद्या) और है तथा प्रेयस् (अविद्या) और ही है वे दोनों विभिन्न प्रयोजनवाले होते हुए पुरुष को बन्धन में डालते हैं। उन दोनों में "श्रेयस्" के अवलम्बन करनेवाले का शुभ और "प्रेयस्" के वरण करनेवाले का पुरुपार्थ से पतन होता है।[४२]

परवर्त्ती काल में इन्हीं "प्रेयस्" और "श्रेयस्" के मध्य पार्थक्य-सृष्टि के फलस्वरूप भोगवाद और त्यागवाद का प्रादुर्भाव हुआ। जिन्होंने प्रेयस् की उपासना की, उन्होंने श्रेयस् को त्यागा और जिन्होंने श्रेयस् को अपनाया, वे प्रेयस् से वंचित हुए। भोग के द्वारा श्रेयस् को उपलब्ध नहीं किया जा सकता और त्याग के द्वारा प्रेयस् की उपलब्धि असम्भव है। यही परवर्त्ती दार्शनिक मनीषियों का अभिप्राय है। इस प्रकार दार्शनिक दल दो भागों में विभक्त हुए—एक दल भोगवादी और अन्य दल त्यागवादी हुआ, एक दल सुखवादी और अन्य दल दुःखवादी, एक दल के मत में जगत् में सुख का आधिक्य है। दुःख के रहने पर भी वह नगण्य है और अन्य दल के मत में जगत् दुःखमय मरुभूमि है, इस

---

३८. नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —गीता ३।५

३९. द्र० दी० नि०, ब्रह्मजालसुत्त।

४०. सूत्रकृताङ्ग १।१।२।२८–२९

४१. द्र० गीता० म० नी० १६।११

४२. "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयोवृणीते॥"
—क० उ० १।२।१

कारण जगत् में लेशमात्र भी प्रकृत सुख नहीं, जो कुछ है भी, वह केवल आभासमात्र। यह सुख का आभास क्षणिक है, अल्प है और दुःखमिश्रित है, अतएव सुख और उसके साधन भोग के परित्याग के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। चार्वाक-सम्प्रदाय भोगवादी है। महर्षि वात्स्यायन के मत में भी शरीर की स्थिति की रक्षा के लिये काम की उतनी ही उपयोगिता है, जितनी दैनिक आहार की। चार्वाक-मत में सर्वतोभावेन सुखमय जीवन व्यतीत करने का आदेश है। सुख सम्पादन में असाधुता का भी आश्रय ग्रहण करना पड़े तो उसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जल जाने पर यह शरीर पापपुण्यरूप कर्म के लिये फलभोगी नहीं ठहर सकता। अतएव पूर्ण स्वच्छन्द होकर सुखभोग करने में ही चातुरी है[४३] अन्यान्य दार्शनिक-सम्प्रदाय त्यागवादी हैं। चार्वाक भोगजनित सुख को क्षणिक, अल्प और दुःखमिश्रित होने पर भी उस (सुख) का अनादर या तिरस्कार नहीं करते।

भोगसुख क्षणिक होने के कारण मिथ्या है, ऐसा कथन औचित्यपूर्ण कदापि नहीं, क्योंकि क्षण भी मिथ्या नहीं। मालती-कुसुम की आयु, किंशुक के समान दीर्घ नहीं होती, तब भी कोई उसे मिथ्या मानकर त्याग नहीं देता। आयु की दीर्घता ही सत्यासत्य के निर्धारण में एकमात्र मानदण्ड नहीं। उद्यान के सद्योविकसित सुरभिमय पुष्पों की अपेक्षा कृत्रिम पुष्पों की स्थायिता तो अनेकगुण अधिक होती है, फिर भी उद्यान के सद्योविकसित सुरभिमय पुष्पों की उपेक्षा कर कोई बुद्धिमान् व्यक्ति कृत्रिम कुसुमों का आदराधिक्य नहीं करता। सरोवर के एक प्रस्फुटित कमल की अपेक्षा पर्वत के शिलाखण्ड के अधिक दीर्घस्थायी होने पर भी कोई चतुर व्यक्ति उस सरोजात कमल का तिरस्कार कर शिलाखण्ड का आदर नहीं करता। किसी वस्तु की क्षणस्थायिता ही अनादर का कारण नहीं बन सकती है।

अल्प होने के कारण भी भोगसुख का तिरस्कार नहीं किया जाता। कतिपय अल्पों की जब समष्टिरूप में परिणति हो जाती है, तब वे अल्प नहीं रह जाते, वे महान् से भी महत्तर बन जाते हैं। मानव-जीवन में भोगजनित यही "अल्प" सुख का समष्टि-रूप बृहत् आकार धारण कर लेता है।

दुःखमिश्रित होने से भी सुख की उपेक्षा समीचीन नहीं। जो अवर्जनीयरूप से सुख के साथ-साथ आ पड़े, तद्रूप दुःख को स्वीकार कर सुख का उपभोग

---

४३. "शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः"

—का० सू० १।२।४६

and cf. प्र० च० २।५० also

करना श्रेयस्कर है। जैसे—मत्स्यभोजी छिलकों और काँटों से मिश्रित मछलियों को ग्रहण कर लेता और पश्चात् छिलकों और काँटों को अनुपादेय समझ उन्हें छोड़ देता और जो भाग उपादेय होता, उसे ग्रहण कर लेता है। छिलकों और काँटों के भय से उपादेय मछलियों का वह कदापि परित्याग नहीं करता। धान्यार्थी तृणसमेत धान्य को ग्रहण कर लेता है और उसमें जो भाग उपादेय होता है, उसे ग्रहण कर अनुपादेय भाग तुष आदि को छोड़ देता है, किन्तु तृण आदि अनुपादेय भाग के भय से कोई भी बुद्धिमान् धान्य का परित्याग नहीं करता। पशुओं के कारण अपचय के होने के भय से कोई भी कृषक धान्यबीज के वपन से पराङ्मुख नहीं होता। भिक्षुओं की याच्ञा के भय से कोई भी व्यक्ति अन्नादि की पाक-क्रिया से विरत नहीं होता।[४४] यदि कोई भीरु दुःख के भय से प्रत्यक्ष सुख का परित्याग करे, तो उसे पशु के समान मूर्ख समझना ही उचित होगा। प्राचीन आचार्यों का कथन है—विषयोपभोगजनित सुख दुःख-मिश्रित होने के कारण त्याज्य है—ऐसा विचार मूर्ख-मण्डली में ही शोभा पाता है। आत्महितैषी पुरुष तुषकणयुक्त समझकर उत्तमोत्तम और शुभ्रतण्डुलयुक्त धान्य को कभी नहीं त्यागता[४५]। बुद्धिमान् व्यक्ति कण्टक तथा तुष आदि असार अंशों का त्याग कर और सार अंश का ग्रहण कर तृप्ति-सुख को प्राप्त करते हैं। अतएव, यदि सुखोपभोग में दुःख का उपभोग अपरिहार्य भी हो, तो भी यथा-सम्भव उस दुःख का परिहार कर सुख का उपभोग ही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है। क्षणिक होने पर भी, अल्प होने पर भी, व्यक्तिगत होने पर भी और दुःखमिश्रित होने पर भी जो सुख वर्त्तमान मुहूर्त्त में प्राप्त है, उसका त्याग करना उचित नहीं। कल प्राप्त होनेवाले मयूर की अपेक्षा आज (का) उपलभ्यमान कपोत अधिक मूल्यवान् है।[४६] अतीत पर तुम्हारा अधिकार नहीं। भविष्य पर विश्वास न करो। केवल वर्त्तमान प्रत्यक्षरूप में उपलभ्यमान है, अतएव उस (वर्त्तमान) को इच्छानुसार सुख-भोग के द्वारा सार्थक करो। भोग-सुख में ही जीवन-यापन

---

४४. नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।
नहि मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते ॥ (का० सू० १।२।४८)।

४५. त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्म पुंसाम्,
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचयारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्,
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी।

—प्र० च० २।५०

४६. वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात्। (का० सू० १।२।२९)।

करो और ऋण से भी घृतपान करने में संकोच न करो, क्योंकि काम्य वस्तु का उपभोग ही मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य और पुरुषार्थ है।

एप्युकुरस और सुखवाद

पाश्चात्य भूभाग में ग्रीस देशवासी एक प्राचीनयुगीय दार्शनिक पण्डित ने इसी मत को प्रतिध्वनित कर प्रतिपादित किया है।[४७] हमारी अशेष क्रियाओं का लक्ष्य सुख और दुःख है—सुखलाभ और दुःखवर्जन। अशेष प्राणी सहज वृत्ति के वश में सुख की खोज और दुःख के वर्जन में अग्रसर हैं। यदि हमारी सभी चेष्टाएँ, सभी कामनाएँ और सभी कर्मकलाप इसी रूप में सुख और दुःख से संपृक्त हों, तो हम संभवतः सुख को परम मंगल तथा दुःख को परम अमंगल घोषित कर सकते हैं। इस दार्शनिक ने सुख और दुःख के सम्बन्ध में चार सूत्रों का प्रणयन किया है। यथा—(१) जो सुख दुःख का कारण नहीं, वह आदरणीय है, (२) जो दुःख सुख का कारण नहीं, वह वर्जनीय है, (३) जो सुख बृहत्तर सुख का अन्तराय है, वह वर्जनीय है और (४) जो दुःख बृहत्तर दुःख का निवारण करता है; अथवा बृहत्तर सुख अर्जन करता है वह सहनीय है। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का मत है कि एप्क्यिुरस का सुखवाद धूर्त सम्प्रदायी चार्वाक के ही सदृश है, क्योंकि एप्युकुरस का मत भी चार्वाक के समान ही नैतिकता और सदाचार के आदर्श का सर्वथा त्याग कर केवल ऐन्द्रियिक सुखोपभोग को लक्षित करता है।[४८]

एप्युकुरस के मत से मनुष्य के पक्ष में मृत्यु कोई अमांगलिक वस्तु नहीं है—मृत के पक्ष में भी नहीं है, जीवित के पक्ष में भी नहीं है। मृत (व्यक्ति) को किसी प्रकार की अनुभूति नहीं रहती, जीवित के निकट मृत्यु उपस्थित नहीं होती। अतएव, मृत वा जीवित किसी भी अवस्था में मनुष्य मृत्यु के अस्तित्व की उपलब्धि कर नहीं सकता। मृत्यु से कभी मनुष्य का अकल्याण नहीं हो सकता। अतएव, व्यर्थ मृत्यु से भीत न होकर सम्पूर्ण जीवन को सुखोपभोग में

---

४७. भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास में भौतिकवाद के प्रतिपादन में जो स्थान बृहस्पति तथा चार्वाक का है, वही स्थान भौतिकवाद के संस्थान तथा प्रचारमें ग्रीस के प्राचीन इतिहास में डिमाक्रिटस (४६० ई० पू०), एप्युकुरस (३४२ ई० पू०) तथा लूक्रेशियस (९५ ई० पू०) का है। इसकी पूर्ण सूचना के लिए द्रष्टव्य "मेटिरियलिज्म" शीर्षक लेख (इ० रि० ए०, भाग ८)

४८. cf. भा० शास्त्र० पृ० २१

लगाना ही बुद्धिमान् का कर्तव्य है, While you live, live happily'— यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ।[४९]

सुखवादी चार्वाक अनेक सम्प्रदायों में विभक्त थे। जैसे—(१) पाषण्ड, (२) धूर्त (३) सुशिक्षित और (४) सुशिक्षिततर। अब क्रमशः इन साम्प्रदायिक मतों का दार्शनिक विवेचन करना वांछनीय है।

पाषण्ड सम्प्रदाय

वेदवादियों ने वेदविरुद्धाचारी नास्तिकों को पाषण्ड[५०], पाषण्डी, पाषण्डक, पाषण्डिक, आदि नामों से अभिहित किया है। जो दर्शन तथा संसर्ग से पापदान करता है, वेदवादियों के मत में वही पाषण्ड है अथवा, जो दुष्कृत से रक्षा करता है, उसे "पा", अर्थात् वेदधर्म कहा जाता है, उसी "पा", अर्थात् वेदधर्म का जो खण्डन करता है, वह पाषण्ड कहा जाता है। वेदवादियों के मत से यही पाषण्ड शब्द की व्युत्पत्ति और निवर्चन है। पाषण्ड के लिए स्मृति में कुत्सित वचन कहे गये हैं[५१]

बौद्ध और जैन साहित्यों में स्थल-स्थल पर पाषण्ड या वितण्डावाद का उल्लेख मिलता है। अपने प्रतिपक्षियों तथा विरुद्धवादियों को ही उन्होंने पाषण्ड तथा वैतण्डिक नाम से अभिहित किया है। वेदवादियों ने बौद्धों और जैनों को पाषण्ड कहकर अधिक्षेप किया है और पाश्चान्तर में बौद्धों ने और जैनों ने भी अपने मत के विरोधी वेदवादियों को पाषण्ड कहकर अपमानित किया है।[५२]

---

४९. cf. शास्त्री, पृ० १५०

५०. [पापं सनोति दर्शनसंसर्गादिना ददाति, पा√सन् + ड, पृषो० साधुः, वा पाति रक्षति दुष्कृतेभ्यः, √ पा + क्विप्, पा वेदधर्मः तं षण्डयति, खण्डयति, पा√षण्ड + अच्–पाषण्ड + कन्] [पा त्रयीधर्मः तं षण्डयति, पा√षण्ड् + णिनि]

—शब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ६८६

५१. "कितवान्कुशीलवान् क्रूरान्पाषण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरा ।।
पाखण्डस्थान्-श्रुतिस्मृतिबाह्यव्रतधारिणः ।"

—मनु० और कुल्लूक० ९।२२५

पाषण्डी—वेदबाह्यागमविहितकर्मकारी —न्या० को० पृ० ४९९

५२. शास्त्री, पृ० १६१

पाषण्डों का सिद्धान्त वितण्डात्मत होता है। परमत में दूषण दिखाना और उसका खण्डन करना ही वितण्डावाद का एकमात्र लक्ष्य होता है। वितण्डावादी अपने किसी स्वतंत्रमत की स्थापना नहीं करते, परमत में दोषारोपणमात्र इनका कर्त्तव्य होता है। वितण्डावादियों का अपना कोई अभिमत सिद्धान्त है भी नहीं। गौतम ने अपने "न्यायदर्शन" में "वितण्डा" का विस्तृत विवेचन किया है। "वितण्डा" के पूर्व "वाद" और "जल्प" का विवेचन हुआ है। शास्त्रार्थ के दो उद्देश्य होते हैं—पहला उद्देश्य है यथार्थ तत्त्व का निर्णय और दूसरा उद्देश्य है सभा में विजय-प्राप्ति। यदि पहले उद्देश्य को लेकर शास्त्रार्थ किया जाता है, तो उसे "वाद" कहते हैं। इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों प्रकृत तत्त्व के जिज्ञासु या बुभुत्सु होते हैं। वे जिज्ञासा के भाव से विवाद में प्रवृत्त होते हैं, युयुत्सु-भाव से नहीं। न्यायशास्त्र में "वाद" की परिभाषा बतलाई गई है।

अर्थात्, खण्डन-मण्डन के लिए तर्क और प्रमाण का ही आश्रय लिया जाता है, छल आदि का नहीं। पाँचों अवयवों—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन-से युक्त अनुमान का प्रयोग होता है। इन लक्षणों से युक्त जो पक्ष-प्रतिपक्ष का अवलम्बन किया जाता है, उसी का नाम "वाद" है।[५३] किन्तु, जल्प में केवल विजिगीषा का भाव रहता है।

जल्प

जिस कथा अर्थात् शास्त्रार्थ में केवल विजय की इच्छा से वादी और प्रतिवादी प्रवृत्त होते हैं उस (कथा) को "जल्प" कहते हैं। जल्प में दोनों पक्ष केवल विजिगीपु होकर वाद और प्रतिवाद उपस्थित करते हैं। स्वपक्ष की विजय और परपक्ष की पराजय ही उभय पक्ष का उद्देश्य रहता है। प्रतिपक्षी को पराजित करने के लिये छल-बल आदि उचितानुचित सभी उपायों का प्रयोग निःसंकोचभाव से किया जाता है। छल, जाति, हेत्वाभास आदि अवैध अस्त्रों का उपयोग करते हुए शास्त्रार्थी नई-नई युक्तियों के द्वारा अपने प्रतिद्वन्द्वी को नीचा दिखलाने में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। जल्प में एकमात्र विजय-प्राप्ति के उद्देश्य से स्वपक्ष की दुर्बलता जानते हुए भी वादी-प्रतिवादी असत्पक्ष का भी अवलम्बन लेकर अपनी-अपनी प्रतिभा और वाक्चातुर्य के बल पर

---

५३. "प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः,
पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः"।

—न्या० द० १।२।१

अपने-अपने पक्ष को सिद्ध करना चाहते हैं। दोनों पक्षों में जो अधिक प्रतिभा-शाली तथा वाक्चतुर होता है, वही विजयी माना जाता है।[५४]

वितण्डा

उस जल्प को वितण्डा कहते हैं, जिसमें जल्पक परपक्ष का खण्डन तो करता है, पर अपना कोई भी पक्ष स्थापित नहीं करता। वितण्डा में परपक्ष में दूषणमात्र दिखलाया जाता है, किन्तु स्वपक्ष की स्थापना नहीं की जाती। वितण्डाबादी का कार्य केवल ध्वंसात्मक होता है, क्योंकि वैतण्डिक अवैध उपायों के अवलम्बन से परमत को दूषित करने की चेष्टा करता है और साथ-साथ अपना मत भी उपस्थित नहीं करता। वितण्डावादी एकपाक्षिक आक्रमण करते हुए भी परपक्षीय आक्रमण सहने के लिये तैयार नहीं होता।[५५] तर्कशास्त्र में जल्प और वितण्डवाद को हेय माना गया है, क्योंकि यह विवाद-मात्र है और निरर्थक भी। किन्तु कभी-कभी दुष्ट अथवा मूर्खों की कुसंगति से अपने को सुरक्षित रखने के लिये वितण्डा की भी उपयोगिता होती है। जिस प्रकार क्षेत्र में उत्पन्न धान्य आदि की रक्षा के लिये कृषक चारों ओर से काँटो का घेरा बना देते हैं, उसी प्रकार मूर्खों के आक्रमण से तत्त्व की सुरक्षा के लिये जल्प और वितण्डा का प्रयोग भी विधेय होता है।[५६]

बौद्ध साहित्य में इसी श्रेणी को लक्ष्य कर कहा गया है, "वितण्डसंल्लापं लोकायतिकवादम्"[५७]। संशयवाद और वितण्डावाद, ये दोनों नेतिमूलक सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं। नेतिमूलक सम्प्रदायी के मत में कोई भी मत प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।

पाषण्ड-सम्प्रदायी किसी भी तत्त्व को तत्त्व मानकर स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत चार्वाक-मत के आदि प्रवर्त्तक आचार्य बृहस्पति के मत को भी प्रमाण-रूप में नहीं मानते। ईश्वरादि-विषयक आप्तादि बचनों को मानने की बात दूर रही, सर्वसम्मत और सर्वस्वीकृत प्रत्यक्ष प्रमाण को भी प्रमाण मानकर स्वीकार नहीं करते। एतत्सम्प्रदायी चार्वाक नास्तिक, वैतण्डिक, हेतुक,

---

५४. "यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपलम्भो जल्पः।" —Ibid १।२।२

५५. "स (जल्पः) प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।" —Ibid १।२।३

५६. "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्"। —न्या० द० भा० १।२।२

५७. Vide H. I. Phil. Vol III. p. 512

लौकायतिक, तत्त्वोपप्लववादी प्रभृति नामों से परिचित थे। सर्वत्र सन्देह उत्पन्न करने में ही इनकी चरितार्थता थी। अभयदेव सूरि ने इन्हीं को लक्ष्य कर कहा है "सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः"[५८]। "तत्त्वोपप्लवसिंह" के रचयिता जयराशि भट्ट हैं है।

तत्त्वोपप्लवसिंह

गत १९४० ई० में गायकवाड ओरियण्टल सिरीज से प्रकाशित "तत्त्वोपप्लवसिंह" नामक संस्कृतग्रन्थ के रचयिता के रूप में जयराशि भट्ट नामक चार्वाकदर्शन के एक मर्मस्पर्शी विद्वान् का प्रसंग आया है[५९]। जयराशि किस वर्ण या जाति का था इस का कोई स्पष्ट प्रमाण ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु वह अपने नाम के अन्त में भट्ट की उपाधि लगाता है, इससे अनुमान होता है कि वह जाति से ब्राह्मण था। यद्यपि कतिपय ब्राह्मणेतर जैन आदि अन्य विद्वानों के नाम के साथ भी यदाकदा यह भट्ट की उपाधि दृष्टिगोचर होती है, परन्तु 'तत्त्वोपप्लव' ग्रन्थ में जैन और बौद्ध विषयक निर्दय और कटाक्षपूर्ण खण्डन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि जयराशि न तो जैन सम्प्रदायी है और न बौद्ध सम्प्रदायी। जयराशि ने जैनों को मूर्ख, नीच और दम्भी आदि अपमानात्मक शब्दों से विशेषित किया है[६०] और इसी प्रकार बौद्धों के विशेषणों में अज्ञान, जड और मूर्ख आदि तिरस्कारात्मक शब्दों का प्रयोग किया है[६१]।

---

५८. cf. शास्त्री पृ० ४१

५९. भट्टश्रीजयराशिदेवगुरुभिः सृष्टो महार्थोदय—
स्तत्त्वोपप्लवसिंह एव इति यः ख्यातिं परां यास्यति ॥"
"पाखण्डखण्डनाभिज्ञा ज्ञानोदधिविवर्धिताः।
जयराशेर्जयन्तीह विकल्पा वादिजिष्णवः ॥"

—जयराशि० पृ० १२५, पं० १५-१८

६०. "इमामेव मूर्खतां दिगम्बराणामङ्गीकृत्य उक्तं सूत्रकारेण : यथा—
'नग्न श्र(म)णक दुर्बुद्धे कायक्लेशपरायण।
जीविकार्थेऽपि चारम्भे केन त्वमसि शिक्षितः ॥"

—Ibid ७९।१५-१८

६१. "इति तद्बालविलसितम्" —Ibid २।९२६

इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता जिसमें जैन अथवा बौद्ध मतावलम्बी किसी भी विद्वान् ने अपने सम्प्रदाय का सम्पूर्ण भाव से विरोध किया हो। जयराशि के माता-पिता अथवा गुरु-शिष्य की परम्परा आदि से सम्बन्धित इस ग्रन्थ में कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती, परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ से यह स्पष्टीकरण तो अवश्य हो जाता है कि जयराशि बार्हस्पत्य चार्वाक सम्प्रदायी अवश्य था। वह अपने को बृहस्पति की परम्परा का अनुगामी मान कर बृहस्पति से भी एक सोपान अग्रगामी और उच्चतर बौद्धिक स्तर पर प्रतिष्ठित मानता है। अत्यंत ओजस्वी शब्दों में वह गर्जन के साथ कहता है कि जो विचारविकल्पात्मक तत्त्व सुरगुरु बृहस्पति के मस्तिष्क में नहीं आये, वे मेरे इस ग्रन्थ में ग्रथित हैं।[६२]

बृहस्पति की चार्वाकमान्यता का जयराशि सम्पूर्णरूप से अनुयायी था, यह सिद्धान्त निर्विवाद है। पर यहां प्रश्न यह उठता है कि जयराशि बुद्धि से ही उस परम्परा का अनुगामी था अथवा आचार से भी? इसका उत्तर सरल नहीं है। "तत्त्वोपप्लव" के आन्तरिक परिशीलन से तथा चार्वाक-सम्प्रदाय की उपलभ्यमान थोड़ीबहुत सामग्रियों से अवगत होता है कि जयराशि बुद्धि से ही चार्वाक सम्प्रदाय का अनुगामी रहा होगा। साहित्यिक इतिहास से चार्वाक के निजी आचारों के विषय में कुछ भी सूचना नहीं मिलती। यद्यपि हरिभद्र सूरि आदि अन्य सम्प्रदाय के विद्वानों ने षड्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थों में चार्वाक के अभिमतरूप कुछ नीतिविहीन आचारों का निरूपण अवश्य किया है, पर उससे यह निःसन्देह नहीं कहा जा सकता कि अन्य सम्प्रदाय के द्वारा वर्णित आचार चार्वाकसम्प्रदाय में कर्त्तव्यरूप से पालित होते होंगे।

इसके पश्चात् प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी धूर्त चार्वाकों की गणना है। नेतिमूलक सम्प्रदायी संशयवाद से ही असद्वादी धूर्त्त चार्वाकों का आविर्भाव हुआ।

"जडचेष्टितम्"	—Ibid ३२।४
"नह्यबालिश एवं वक्तुमुत्सहेत।	—Ibid ३८।१५-१६
"तदेतन्मुग्धाभिधान (नं) दुनोति मानसम्"	—Ibid ३९-१७-१८
"तद्बालवल्गितम्"	—Ibid ३९।२४-२५
"मुग्धबौद्धैः"	—Ibid ४२।२२
"तन्मुग्धविलसितम्"	—Ibid ५३।९

६२. ये याता नहि गोचरं सुरगुरोर्बुद्धेर्विकल्पा दृढाः।
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाखण्डदर्पच्छिदि॥
—Ibid १२५।१३-१६

धूर्त्त-सम्प्रदाय

ब्राह्मणद्वेषी, वैदिकधर्मविरोधी, अहिंसा प्रभृति बौद्धनीति-प्रचारक, धूर्त्त, छलनापटु, ब्राह्मणवेषधारी राक्षस, ब्रह्मराक्षस या असुरविशेष के रूप में महाभारत में वर्णित हुआ है। अतः विदित होता है कि परवर्त्ती काल में यही धूर्त्तसम्प्रदाय का प्रवर्त्तक हुआ था।

धूर्त्त-सम्प्रदायी चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। न्यायादि-सम्मत अनुमान आदि किसी भी प्रमाण की मान्यता इनके सम्प्रदाय में नहीं है। देह को ही आत्मा माना गया है और इस परिदृश्यमान जगत् को आकस्मिक और चातुर्भौतिक। इनके मत में पृथिवी, जल, अग्नि और वायु, इस जड भूत-चतुष्टय के मिलन से चैतन्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है। इस श्रेणी के चार्वाक के सिद्धान्त में परलोक, स्वर्गनरक, पुनर्जन्म, धर्माधर्म आदि विषयों की मान्यता नहीं। इस जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता भी कोई नहीं। इस चातुर्भौतिक देह से भिन्न अन्य कोई भी पुण्यापुण्यरूप कर्मों के फलोपभोगी चेतन आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं। मोह के ही कारण इस मिथ्याभूत संसार में पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग; बन्धन-मुक्ति आदि का अनुभव होता है। जो चतुर या प्रेक्षावान् व्यक्ति है, वह स्वेच्छाचारिता के साथ लौकिक सुखोपभोग के द्वारा अपना आनन्दमय जीवन-यापन करता है और जो मूढ है, वह परलोक, आत्मा, ईश्वर आदि व्यर्थकी चिन्ता में लीन रह कर अपने को सांसारिक सुखसाधनों से वंचित रखता है।[६३] आत्मकेन्द्रित, संकीर्ण, स्थूल इन्द्रियोपभोग-जनित पशु-सुलभ सुख को ही पुरुषार्थ मानकर ग्रहण किया गया है। रमणी के आलिङ्गनादि से उत्पन्न विषय-सुख को ही इस मत में पुरुषार्थ माना गया है।[६४] एकान्त पशुधर्मी होने पर भी इस प्रकार का सुख शरीर-स्थिति के लिए अनपेक्षणीय नहीं। इन्द्रियग्राम की यथोचित रूप में तृप्ति नहीं होने से मनुष्यों के उन्माद आदि रोगों से आक्रान्त होने की सम्भावना हो सकती है।[६५] निकट

---

६३. "न स्वर्गो नैव जन्मान्यदपि च नरको नाप्यधर्मो न धर्मः,
कर्ता नैवास्य कश्चित्प्रभवति जगतो नैव भर्ता न हर्ता।
प्रत्यक्षान्यन्न मानं न सकलफलभुग्देहभिन्नोऽस्ति कश्चित्—
मिथ्याभूते समस्तेह्यनुभवति जनः सर्वमेतद्धि मोहात्॥"
—वि० त० ३।२

६४. अङ्गनालिङ्गनाजन्यं सुखमेव पुमर्थता। —स० द० सं० ५।५६-५७

६५. तथा ग्रामोऽपि, अन्यथा रागोद्रेकादुन्मादादिदोषेण न शरीरस्थितिरिति।
—का० सू० ज० १।२।४६

भविष्य में अधिकतर और उत्कृष्टतर सुख-प्राप्ति की एकान्तसम्भावना होने पर भी इस श्रेणी के चार्वाक वर्त्तमान काल में उपलभ्य बिन्दुमात्र सुख के परित्याग के लिए भी प्रस्तुत नहीं होते। यहाँ ईश्वर, परलोक आदि के अस्तित्व की मान्यता नहीं। कार्यकारण-सम्बन्ध तथा कर्मों के फल को भी ये नहीं मानते। ऐहिक, दैहिक और क्षणिक सुख ही स्वर्ग है तथा कण्टक आदि से जनित दुःख ही नरक है। देह का नाश ही मोक्ष माना गया है। यह सम्प्रदाय उच्छेद-वादी और देहात्मवादी नाम से आख्यात है। धूर्त्त चार्वाकों के मत के याथातथ्य रूप में अनुसरण करने से लोक-यात्रा का निर्वाह कठिन हो जाता है। संभव है इसी कारण सुशिक्षित चार्वाक का आविर्भाव हुआ। धूर्त चार्वाक निर्बोध होते थे। वे शनैः शनैः निन्दित और उपहसित होकर विलुप्त हो गये। बौद्धपूर्व युग में वैदिक ऋषियों के स्वाधीन चिन्तन के फलस्वरूप, संशयवाद, नास्तिकवाद और वस्तुवाद में, इस चार्वाक-मत की उत्पत्ति हुई, बौद्धयुग के सुतीक्ष्ण और सुदृढ़ युक्तिवाद में इसका प्रसार हुआ और बौद्धान्तर युग में धूर्त्त चार्वाकों की पशु-सुलभ स्थूल सुखवादरूप निर्बुद्धिता के कारण इसका लोप हुआ।

कवि भट्टनारायण (८ शती) की कृति में हमें मुनिवेषधारी एक धूर्त्त चार्वाक की चर्चा मिलती है। जिस समय स्वपक्षीयविजय संवाद से द्रौपदी और युधिष्ठिर अपार हर्ष पारावार में मग्न होकर अपने राज्याभिषेक के लिए सामग्री-संचय कर रहे हैं उसी समय दुर्योधन का मित्र चार्वाक पिपासाकुल तपस्वी के वेष में युधिष्ठिर के सम्मुख उपस्थित होता है। वह धूर्त्त चार्वाक दुर्योधन के गदा-प्रहार से भीम के धराशायी होने का मिथ्या समाचार सुनाता है और द्रौपदी तथा युधिष्ठिर दोनों सहसा शोकाकुल हो उठते हैं।[६६]

सुशिक्षित सम्प्रदाय

चार्वाक के सुशिक्षित सम्प्रदाय में लोकयात्रा निर्वाह के लिए अनुमान-प्रमाण की मान्यता है, और कार्यकारण-सम्बन्ध को नहीं स्वीकार करने से लोक-यात्रा का निर्वाह भी नहीं हो सकता, इसलिए यथोचित परिमाण में कार्य-कारण-सम्बन्ध के प्रामाण्य की मान्यता है, किन्तु सुशिक्षित चार्वाक-सम्प्रदाय के अनुयायी भी, अनुमान की सहायता से जिस रूप में ईश्वर, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल, स्वर्ग, नरक आदि की प्रतिपन्नता हो, उस रूप में अनुमान के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते।[६७] इनके मत में अर्थ और काम, ये दो पुरुषार्थ मान्य

६६. वेणीसंहार, अङ्क, ६

६७. लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपीष्यत एव। यत्तु कैश्चिल्लौकिकं

हैं। वात्स्यायन ईश्वर के अस्तित्व और परलोक की सत्ता को मानते हैं। इनकी गणना नास्तिकों के अन्तर्गत नहीं हो सकती, किन्तु उन्होंने काम या सुख का जो उच्च आदर्श उपस्थापित किया है, वह यद्यपि धूर्त्त चार्वाकों को मान्य नहीं है, फिर भी सुशिक्षित चार्वाकों ने उसका सादर ग्रहण किया है। इस श्रेणी के चार्वाकों के सुखवाद में कुछ दूरदर्शिता भी है। इनके मत में केवल वर्तमानकालीन सुख पर निर्भर रहकर भविष्य में उपलब्ध होने वाले उत्कृष्टतर सुख के प्रति निरुद्यम-भाव अनपेक्षणीय समझा गया है, क्योंकि उपर्युक्त धूर्त्त-सम्प्रदाय से अपेक्षित वर्तमानकालीन सुखमात्र के उपभोग से प्रकृत सुख का ही आत्मघात घटित हो जाता है। मनुष्य-समाज में इस प्रकार का अलस तथा असहिष्णु मनोभाव विपज्जनक होता है। कारण, ये ही सुखवादी भविष्य कालीन प्रचुर शस्य-लाभ की सम्भावना होने पर भी वर्त्तमानकालीन विश्राम-जनित छोटे सुख को विसर्जित कर भूमि-कर्षण तथा बीज-वपन प्रभृति कर्मों के लिए क्लेश को स्वीकार नहीं करेंगे। इनके मत से सुखभोग की आकांक्षा को सुसंयत नहीं कर सकने पर सुख का भोग असम्भव हो जाता है। पशु-सुलभ अनियन्त्रित सुख सुखपदवाच्य नहीं हो सकता। इन्द्रियों को नियन्त्रित तथा मार्जित नहीं करने से वे वन्य पशु की इन्द्रियों के समान उद्दाम तथा उच्छृङ्खल हो उठेंगी। इस प्रकार का सुख कभी सुसभ्य और सुशिक्षित समाज के लिए आदर्श नहीं हो सकता। एकान्त भाव से आत्मकेन्द्रिक स्थूल इन्द्रियोपभोग-जनित सुख के ही काम्य हो जाने से लोकयात्रा या समाज-व्यवस्था व्याहत हो जाती है। अपने सुख के छोटे अंश को उत्सर्ग कर अन्य को नहीं दे सकने से सामाजिक जीवन-यापन भी असम्भव हो जाता है। इस सुशिक्षित श्रेणी के चर्वाकों ने बहुजनोपभोग्य, निष्कलुष तथा कालान्तर स्थायी एवं कलाविद्यादि के अनुशीलन से लभ्य सूक्ष्मतर सुखानुभूति का भी वरण किया है। पुरन्दर-प्रमुख सुशिक्षित चार्वाकों ने अर्थशास्त्र और कामशास्त्रानुमोदित चौंसठ कलाओं को व्यावहारिक रूप से स्वीकार किया है।[६८] पुरन्दर के मत में लोकयात्रा-निर्वाहक अनुमान का भी प्रामाण्य ग्राह्य है। यह सम्प्रदाय सुशिक्षित नाम से प्रख्यात है।[६९]

सुशिक्षिततर सम्प्रदाय

इस श्रेणी के चार्वाक कुछ और अग्रसर हुए हैं और उनका प्रतिपादन है कि जीवमात्र जो साधारण सुखकामना करता है, वह हमारा पुरुषार्थ नहीं कहा

मार्गमतिक्रम्य अनुमानमुच्यते तन्निषिध्यत इति।—त०सं० प० १४८२

६८. द्रष्टव्य—का० सू० १।३।१६

६९. Vide शास्त्री०, १५०–१५१

जा सकता। हम जीव होने पर भी मनुष्य हैं। हमारे पुरुषार्थों में मनुष्योचित सुख-दुःख का परित्याग कर जो सुख समझा जाता है, तन्मात्र सुख ही सच्चा सुख नहीं है। दुःख को आत्मसात् कर जो सुख उपलभ्य है, वह सुख सच्चा सुख है। उसी सुख का नाम भूमा है, "भूमैव सुखम्"। भूमा ही आनन्द है और आनन्द ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।

जीवमात्र साधारणतः आहार-विहार प्रभृति जैव प्रयोजन के अभाव की पूर्ति होने पर ही आकांक्षा से निवृत्ति लाभ करता है और तब वह सुखी होता है। जीवमात्र के लिए इसी प्रयोजन-साधन की आकांक्षा स्वाभाविक रहती है। मनुष्य भी एक जीव है, अतएव उसकी भी यही आकांक्षा है। जिस स्थान में इस अकांक्षा को बाधा होती है, उसी स्थान पर उसे दुःख होता है और जहाँ आकांक्षा की पूर्त्ति होती है, वहीं उसे सुख होता है। यह सुख जैविक है, इसमें मनुष्यता नहीं।

प्राणिजगत् के मध्य में केवल मनुष्य को एक प्रकार की और आकांक्षा है। वह जैव प्रयोजन की आकांक्षा नहीं, वह ज्ञान की आकांक्षा है, कर्म की आकांक्षा है, प्रेम की आकांक्षा है। इस प्रकार आकांक्षा का अन्त नहीं, निवृत्ति नहीं, परि-तृप्ति नहीं, और यह केवल उपयोग से शान्त होने वाली नहीं। यह कहती है—और, और, और[७०]। यह सीमित जैव सुख को अग्राह्य कर, दुःख का वरण कर असीम अनन्त के अनुसन्धान में अग्रसर होना चाहती है। यही आकांक्षा की गति है, किन्तु गन्तव्य स्थान नहीं। यह आकांक्षा ही मनुष्यत्व है, यही भूमा की साधना है और यही आनन्द की तपस्या है। जैव सुख की आकांक्षा की निवृत्ति या परितृप्ति है, आनन्द की आकांक्षा की परितृप्ति वा निवृत्ति नहीं है। जैव सुख के विपरीत दुःख है, आनन्द के विपरीत दुःख नहीं। आनन्द दुःख को स्वीकार कर आत्मसात् कर लेता है। इस श्रेणी के चार्वाक केवल जैव सुख को सुख मानकर स्वीकार नहीं करते। वे उपनिषद् के ऋषि के साथ स्वर मिलाकर बोलते हैं, भूमा आनन्द ही यथार्थ सुख है।[७१] अल्प, सीमित जैव सुख, सुख नहीं है। असीम, अनन्त, परितृप्तिहीन आनन्दमय सुख ही भूमा है और भूमा को ही ज्ञातव्य मानना होगा। इन चार्वाकों के मत में आचार्य

---

७०. "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥"—वि० पु० ४।१०।२३

७१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञा-सितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।—छा० उ० ७।२३।१

बृहस्पति और उनके "सुखमेव पुरुषार्थः" इस सूत्र में सुख शब्द से बृहत्तर सुख को अर्थात् आनन्द या भूमा को ही लक्ष्य किया गया है। "काम एवैकः पुरुषार्थः"[७२] इस सूत्र में भी "काम" शब्द के द्वारा मनुष्योचित उदात्त कामना को ही लक्ष्य किया गया है, जैव-आकांक्षा को नहीं, अतएव आनन्द ही मनुष्य का पुरुषार्थ है, जैव सुख नहीं।

इस सम्प्रदाय के चार्वाकों ने कार्य के रूप में उपनिषदों के अध्यात्मवाद के प्रति आत्मसमर्पण किया है, अतएव इनकी गणना "सुशिक्षिततर" चार्वाकों में की जाती है।[७३] जयन्त ने अपनी न्यायमंजरी में धूर्त और सुशिक्षित— दो ही सम्प्रदायों का विवरण दिया है।[७४]

भारतेतर-लोकायतवाद

चिरअतीतकाल एवं दूर दिशा की ओर दार्शनिक दृष्टि के निक्षेप करने पर हम पाते हैं कि अभारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय पर भी प्राचीन काल से ही लोकायतिक जडवाद का प्रभाव रहा है। चीन और यूनान (Greece) आदि प्राचीन और सभ्य देश भी प्रचुर मात्रा में चार्वाकवाद से प्रभावित रहे हैं।[७५]

---

७२. cf गीता० म० नी० १६।११

७३. Vide शास्त्री०, पृ० १५१–१५२

७४. Vide H. I. Phil. Vol.I. III, p. 516

७५. cf. यूनान (Greece) के द्वितीय राष्ट्रपति क्लीन्थर्स (ई० पू० ३३१ शती) के साम्प्रदायिक सिद्धान्त E R. E. Vol. III. pp. 684–8

यूनानी दर्शन-साहित्य में भी बहुधा जडवाद का प्रसंग मिलता है। पिथागोर नामक एक गणित विज्ञाता का समय विद्वानों ने ई० पू० ५८२– ४९३ निर्धारित किया है। औपनिषदिक ऋषियों के समान वह ठोस विश्व को छोड़कर काल्पनिक जगत् में विचरण करता था। बुद्धिवाद पर उसने अपनी मन्तव्यता विवृत की है।

एपीकुरु (Epicurus) (ई० ३४१–२७० शती) की आस्था भूतवाद पर थी। एकमात्र प्रत्यक्षप्रमाणवादी होने के कारण चार्वाकवादियों के समान एकान्तभोगवादी था।

फिर्हो एलिस (ई० पू० ३६५–३७० शती) यूनान का एक प्रख्यात दार्शनिक पण्डित था। उसके साहित्य के अवलोकन से अवगत होता है

चीन और जड़वाद

चीनी धर्म और दर्शन को अनेक लेखकों ने भूतवादी घोषित किया है। उनमें से एच० ए० गाइल्स नामक एक दार्शनिक विद्वान् ने तो भूतवाद को कन्फ्युसियस, (Confucianism) ताओ (Taoism) और बौद्धमतों के समान एक पृथक् मत स्वीकार किया है। भूतवाद को इस अर्थ में समझना तो भ्रामक होगा। क्योंकि वे दार्शनिक, जो वैयक्तिक ईश्वर को मानते अथवा परमात्मा को एक स्थूल आकार देते हैं, भौतिकवादी नहीं कहे जा सकते। भूतपदार्थ भौतिकवाद के अनुसार सत्य का आधार है। यह विश्वज्ञान-सम्बन्धी जड़वाद है, जो नैतिक जड़वाद से भिन्न है। नैतिक भूतवाद अहंकार, सुख तथा इन्द्रियपरायणता को ही जीवन का उद्देश्य मानता है। चीन देश में दोनों ही मत प्रचलित हैं, किन्तु वे उनके महान् धर्मों के मूल में नहीं हैं, यद्यपि भूतवादी प्रवृत्तियां उनमें कभी-कभी दृष्टिगोचर होती हैं। दृश्यमान जगत् को छायारूपी एवं तथ्यहीन मानने वाले बौद्ध-मत पर भी भूतवादी होने का कटाक्ष नहीं किया जा सकता है। ताओ के मत को अतीन्द्रिय एवं दुर्बोध तथ्य मानने वाले ताओवादी भी इसी के तदनुरूप हैं, किन्तु कन्फ्युसियस-मत के विषय में क्या कहा जाय ? उसे तो प्रायः भूतवादी ही कहा गया है। दार्शनिक, तत्त्व-विचार को अस्वीकार करते हुए कन्फ्युसियस सम्प्रदायी (confucianist) नास्तित्ववाद को हितकारी समझ कर उसमें ही विश्वास करते थे, यद्यपि वे लौकिक एवं परम्परागत व्यावहारिकताओं के प्रति भी उदासीन नहीं थे। मृत्यु के विषय में उनका मत था कि जब हम जीवन के विषय में अज्ञान हैं तो मृत्यु के विषय में कैसे सज्ञान हो सकते हैं। भूत प्रेतों के अस्तित्व में इनकी कोई विशिष्ट मन्तव्यता नहीं थी। उनके मत में एक श्रेष्ठ सत्ता की मान्यता थी, जिसे स्वर्ग माना जाता था। वैयक्तिक ईश्वर को नहीं मानने के कारण ही उन पर नास्तिकता का आरोप लगाया गया है। स्वर्ग के अस्तित्व के विषय में इनका कोई प्रतिपादन नहीं। कन्फ्युसियस (Confucianism) की अपेक्षा उनके अनुयायिवर्ग विशेषतः सुंग (द्वादश शती) के राज्यकालीन दार्शनिक सम्प्रदाय को भौतिकवादी घोषित कर अन्याय किया गया है। इस भूतवादी सम्प्रदाय का प्रधान "चु सी" नामक व्यक्ति है, जो पूर्ण द्वैतवादी है। उसके सिद्धान्त में वस्तु और युक्ति—इन दो तत्त्वों की मन्तव्यता है। इन दोनों के संमिश्रण से ही विश्व के विवर्त्तन (क्रमिक आविर्भाव, विकास तथा विस्तार आदि) की क्रिया हुई। इस मत में तत्त्व पाँच प्रकार के हैं। यथा—(१) धातु,

---

कि जगत् की सृष्टि के लिए ईश्वर की कुछ भी प्रयोजनीयता नहीं है।
—द० दि० पृ० ५–३५

(२) काष्ठ, (३) जल, (४) अग्नि और (५) पृथिवी। इन्हीं पाँच तत्त्वों के योग से विश्व की सृष्टि हो जाती है।[७६]

इस प्रकार चार्वाक सम्प्रदाय का विश्लेषणात्मक परिचय उपलब्ध होता है। उपर्युक्त विवेचन से अवगत होता है कि यह सम्प्रदाय संशयवादी, जडवादी, उच्छेदवादी, दृष्टवादी हेतुवादी, प्राणात्मवादी, भूतचैतन्यवादी, नैरात्म्यवादी, स्वभाववादी, सुखवादी और ऐहिकसर्वस्ववादी है। चार्वाक बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के अन्तर्गत नहीं, क्योंकि बौद्ध और जैन परम्पराओं में परलोक की वड़ी मान्यता है किन्तु चार्वाक सम्प्रदाय में परलोक का सर्वथा अभाव माना गया है। चार्वाकों का आचार कापालिकों के आचार से भी भिन्न है, अतः ये कापालिक श्रेणी में भी गणनीय नहीं हो सकते। चार्वाक सम्प्रदाय बार्हस्पत्य, नास्तिक, लोकायतिक और पाषण्ड नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाकों का विचार एक, सिद्धान्त एक और व्यवहार भी एक ही होता है। इनके आन्तरिक और बाह्य—दोनों आचरण समान होते हैं। इनके सम्प्रदाय में वर्ण और जातिभेद नहीं—"नोत्तमाध्यममध्यमाः"। इन्हें मृत्यु का भय नहीं, क्योंकि मरण ही मोक्ष है—"मरणमेवापवर्गः"। महाभारत के मत से ये वसुधा के कोने-कोने में व्याप्त हैं—"चरन्ति वसुधां कृत्स्नाम्"। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि का अस्तित्व नहीं। ऋषि-मुनि और देवता आदि की मान्यता नहीं तथा प्रत्यक्षेतर किसी तत्त्व का अस्तित्व भी नहीं है।[७७]

चार्वाक सम्प्रदाय की एक ही नीति है और तदनुसार चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा गोचरीभूत वस्तु, घटना या पदार्थ ही सत्य हैं और तदितर वस्तु, घटना या पदार्थ कदापि विश्वासास्पद नहीं हो सकते।[७८] सत्यता की सच्ची परीक्षा के लिये चक्षु को ही सच्चा मापनयन्त्र माना गया है।[७९] चक्षूरूप मापनयन्त्र से जिसकी परीक्षा नहीं हो सकती है उसकी सत्ता सन्देहास्पद ही है, निश्चयास्पद कदापि नहीं। इस प्रकार शास्त्रों में चार्वाक सम्प्रदाय की संक्षिप्त विवृति उपलब्ध होती है।

---

७६. E. R. E. Vol. VIII. pp. 492–493 for detailed description cf. E. R. E., Index, p. 369

७७. cf. शास्त्री० पृ० १७२

७८. "चक्षुर्वै सत्यम्" —बृ० उ० ५।१४।४

७९. "चक्षुर्वै प्रतिष्ठा" —Ibid ६।१।३

तृतीय परिच्छेद

चार्वाक दर्शन की उत्पत्ति

ऋग्वेद के बृहस्पति–राजनीति के बृहस्पति–महाभारत के बृहस्पति–अर्थशास्त्र के बृहस्पति–गणपति बृहस्पति–तैत्तिरीयब्राह्मण के बृहस्पति–धर्मशास्त्र के बृहस्पति–नैरात्म्यवादी बृहस्पति–पौराणिक बृहस्पति–सूत्रकर्त्ता बृहस्पति–पुरन्दर बृहस्पति–भागुरी टीका–रामायण में नास्तिकवाद–जैन सम्प्रदाय और चार्वाक–बौद्ध सम्प्रदाय और भूतवाद ।
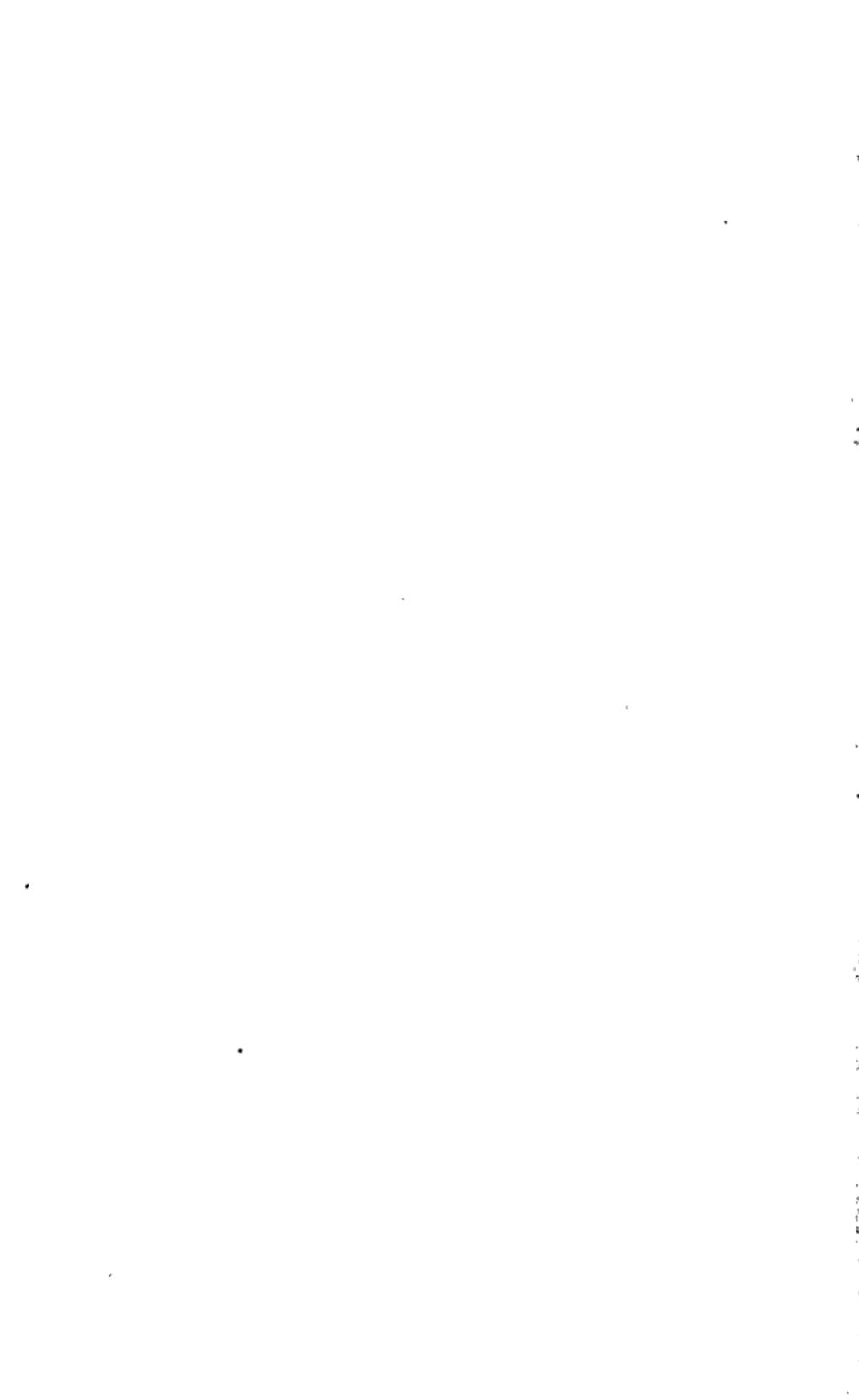
चार्वाक-दर्शन की उत्पत्ति

बार्हस्पत्य लोकायत और चार्वाक इन तीन शब्दों में से प्रत्येक एक दूसरे का परस्पर पर्यायवाचक और सिद्धान्ततः अभिन्नार्थक है। इनका दार्शनिक सिद्धान्त है—जडवाद[1] और नास्तिकवाद। इस वाद का आविर्भाव लोक में कब हुआ, इसका समाधान लिखित प्रमाण के आधार पर कठिन है। किन्तु इतना तो अवश्य ही प्रतीत होता है कि यह मत मानवज्ञान के विकास का सर्वप्रथम रूप है। चार्वाक सिद्धान्तों से अवगत होता है कि इसका प्रवर्तन सन्देहवाद या संशयवाद की आधारभित्ति पर हुआ है। श्रुतियों में भी संशयवाद की चर्चा मिलती है। वहाँ परलोकगामी आत्मा के अस्तित्व के विषय में स्पष्ट रूप से सन्देह का प्रतिपादन है। श्रुति स्वयं संशयालुभाव से कहती है कि कौन जानता है कि आत्मा परलोक में जाता है।[2] अन्य स्थल पर मृत मनुष्य की आत्मा के अस्तित्व के विषय में यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् अतीन्द्रिय आत्मा रह जाता है और कोई कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा विनष्ट हो जाता है।[3] पूर्व अध्याय में यह विवेचन हो चुका है कि उपनिषद्-काल में भी जडवाद का उल्लेख पाया जाता है। याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री मैत्रेयी को इस मत का उपदेश देते हुए कहा है: इन भूतों के मिलन से चेतन ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर विघटन से वह विनष्ट हो जाता है, मरने के पश्चात् ज्ञान का अस्तित्व नहीं रह जाता। गीता और पुराणादि शास्त्रों में भी इस मत के यत्र-तत्र दर्शन होते हैं।[4]

---

१. "पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि"
"तेभ्यश्चैतन्यम्" —बा० सू० २-३

२. "को हि तद्वेद यद्यमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वा" —cf. नै० च० ना० XVII. 62

३. "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" —क० उ० १।१।२०

४. "× × × × नित्यं वा मन्यसे मृतम्
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि—
तथा प्रतितद्विनाशं नित्यं वा मन्यसे मृतं मृतो मृत इति।"
"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

बृहस्पति को नास्तिक-मत का आदि प्रवर्तक माना जाता है। हेमचन्द्र का कथन है कि जो बृहस्पति के मत का अनुसरण करता है वह बार्हस्पत्य अर्थात् नास्तिक है।[५] अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस नास्तिक मत के प्रवर्त्तक कौन बृहस्पति थे, जिनके मत का अनुसरणकर्त्ता बार्हस्पत्य-सम्प्रदाय नाम से आख्यात हुआ। क्योंकि शास्त्रों में अनेक बृहस्पतियों का उल्लेख है। यथा—

आंगिरस और लौक्य

ऋग्वेद में बृहस्पति नामक दो ऋषि प्रसिद्ध हैं, जिनमें एक आंगिरस बृहस्पति हैं और दूसरे लौक्य बृहस्पति।[६] लौक्य बृहस्पति के मत में "असत्" से "सत्" की उत्पत्ति हुई। चार्वाकों ने नास्तिक सम्प्रदायी लौक्य बृहस्पति के इस मत को ग्रहण किया है। चार्वाकों का प्रतिपादन है कि "असत्" जडवर्ग है और "सत्" चैतन्य-वर्ग है और "जड" से "चैतन्य" की उत्पत्ति होती है। नागोजि भट्ट ने भी "असत्" का शब्दार्थ "जड" बताया है।[७]

राजनीति-शास्त्र

अश्वघोष आंगिरस बृहस्पति को राजशास्त्र प्रवर्त्तक के रूप में परिचय देते हुए कहते हैं कि जिस राजशास्त्र को, भृगु और अंगिरा ये दोनों वंशकर ऋषि प्रवर्तित न कर सके, उसे कालक्रम से उन दोनों के पुत्र भार्गव, शुक्राचार्य और

असत्यं यथा वयम् अनृतप्राया तथा इदं जगत् सर्वम् असत्यम् अप्रतिष्ठं च न अस्य धर्माधर्मौ प्रतिष्ठा अतः अप्रतिष्ठं च इति ते आसुरा जना जगद् आहुः अनीश्वरं न च धर्माधर्मसव्यपेक्षकः अस्य शासिता ईश्वरो विद्यते इति अतः अनीश्वरं जगदाहुः।

किं च अपरस्परसंभूतं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुरुषयोः अन्योन्यसंयोगाद् जगत् सर्वं संभूतम्। किम् अन्यत् कामहेतुकम् एव कामहैतुकं किम् अन्यत् जगतः कारणं न किञ्चिद् अदृष्टं धर्माधर्मादि कारणान्तरं विद्यते जगतः काम एव प्राणिनां कारणम् इति लोकायतिकदृष्टिः इयम्॥"

—गीता शा० २।२६ और १६।८ cf. प० पु० सृ० १३।३१९–३३४; वि० पु० ३।१८।२४–३० तथा वा० रा० २।१०८।१४–१७। २।१०८।१४–१७

५. "बार्हस्पत्यस्तु नास्तिकः" —अ० चि० ३।८६२

६. cf. ऋग्वेद १०।७२।२

७. cf. दु० स० १।६३

आंगिरस बृहस्पति ने प्रवर्त्तित किया। अतएव यह राजनीति शौक्र और बार्हस्पत्य-नीति के नाम से संसार में प्रख्यात हुई।[८]

महाभारत के वनपर्व में बृहस्पति-नीति का विवरण मिलता है।[९] इससे ज्ञात होता है कि बृहस्पति ने शुक्र का रूप धारण कर इन्द्र के अभय और असुरों के क्षय के लिए नैरात्म्यवाद-रूप अविद्या की सृष्टि की। उसके द्वारा असुर मंगल को अमंगल और अमंगल को मंगल मानकर कीर्त्तन करते हुए बोलने लगे—"वेद आदि शास्त्रों के विरोधी धर्म का अभिचिन्तन किया जाय[१०]"। इसके अतिरिक्त महाभारत में एक और बृहस्पति का नामोल्लेख मिलता है और उसी स्थल में, शुक्राचार्य के साथ, बृहस्पति को वंचनाशास्त्रकर्त्ता कहकर उनका परिचय दिया गया है[११] संस्कृत साहित्य के "प्रतिमा" नाटक में महाकवि भास ने बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र की चर्चा की है और वात्स्यायन ने अर्थशास्त्र का संकलयिता कहकर एक अन्य बृहस्पति का परिचय दिया है[१२]। आजकल जो बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र उपलभ्य है, उसके एक सूत्र में कहा गया है कि लोकायत ही एकमात्र शास्त्र है और जो सर्वथा अधिमान्य है[१३]। अतएव, अर्थशास्त्रकार बृहस्पति के साथ लोकायत शास्त्रकार बृहस्पति का किसी प्रकार का संयोग नहीं है, ऐसा दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक अन्य बृहस्पति का उल्लेख मिलता है। उन्होंने गायत्री देवी के मस्तक में एक बार आघात किया था। गायत्री देवी के मस्तक के चूर्ण हो जाने से मस्तिष्क छिन्न-भिन्न हो गया था, किन्तु गायत्री की मृत्यु नहीं हुई, मस्तिष्क के प्रत्येक खण्ड की वसा से एक-एक वषट्कार देव की उत्पत्ति

---

८. "यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ।
तयोः सुतौ तौ च ससर्जतुस्तत्—कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च"

—बु० च० १।४६

९. "नीतिं बृहस्पतिप्रोक्तां भ्रातृन्मेऽग्राह्यत्पुरा —cf. शास्त्री० पृ० १५३

१०. मै० उ० ७।९

११. उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येत तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः॥

cf. शास्त्री० पृ० १५४

१२. "बृहस्पतिरर्थाधिकारिकम्" का० सू० १।१।७

१३. "सर्वथा लोकायतिकमेव शास्त्रम्" —बा० अ० २७

हुई[१४]। गायत्री वैदिक धर्म का बीजरूप है। अतः वेदविरोधी होने के कारण संभव है यही चार्वाक-मत के प्रवर्तक हों।

तर्कवादी

एक और बृहस्पति हैं। वे धर्मशास्त्र-प्रेणता हैं। परन्तु, मनु आदि धर्मशास्त्र प्रेणताओं के समान ही वेदपन्थी होते हुए भी वे तर्कप्रेमी हैं। उनके मत से शास्त्र की अपेक्षा युक्ति की ही प्रधानता है। उनका कथन है कि केवल शास्त्र का आश्रय लेकर तत्त्व-निर्णय करना उचित नहीं, क्योंकि युक्तिहीन विचार से धर्म की हानि होती है।[१५] वेदपन्थियों के मत से असुरों को वंचित करने के-लिए उन्होंने वेद-विरुद्ध मत का उपदेश दिया था। अतएव, इनका भी चार्वाक-मत-प्रवर्त्तक होना असम्भव नहीं है।

अहिंसावादी

बौद्ध नैरात्म्यवादी होते हैं। महाभारत के एक बृहस्पति से युधिष्ठिर ने जिज्ञासा की—"अहिंसा, वैदिक धर्म, ध्यान, इन्द्रिय-संयम, तप और गुरुशुश्रूषा, इनमें सबसे श्रेष्ठ कौन धर्म है?" बृहस्पति ने इस जिज्ञासा का उत्तर दिया था—"अहिंसाश्रय धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है।[१६] बृहस्पति के इस उपदेश को बौद्धधर्म के समान ही माना जा सकता है। अतएव बौद्ध के समान अहिंसावाद के उपदेष्टा महाभारतीय बृहस्पति को चार्वाक-मत प्रवर्त्तक माना जा सकता है। सदानन्द यति ने "अद्वैतब्रह्मसिद्धिः" नामक पुस्तक में "तथा च बार्हस्पत्यानि सूत्राणि" कह कर तीन सूत्र उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार भास्कराचार्य आदि गवेषी विद्वानों ने यथाप्रसंग विभिन्न बार्हस्पत्य सूत्रों को उद्धृत किया है।[१७] भट्टनारायण (अष्टमशती) ने मुनिवेषधारी एक चार्वाक की चर्चा की है, जो युधिष्ठिर और द्रौपदी के समीप तृषित होकर आता है तथा असत्य संवाद सुना कर उन्हें वंचित कर देता है।[१८]

---

१४. शास्त्री० पृ० १५५

१५. "केवलं शास्त्रमाश्रित्य नैव कार्या विचारणा।
युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥"

—Kane, Vol. I, sloka 376

१६. भा० अनु० और आश्व ५।२५–२७

१७. cf. शास्त्री० p. 156

१८. cf. F. N. 2. 66

उपर्युक्त विश्लेषणात्मक विवरणों के अध्ययन से हमें प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अनेक साहित्यों में कतिपय बृहस्पतियों का दर्शन मिलता है। उनमें से प्रत्येक पृथक्-पृथक् विषय के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं। कोई असद्वाद के प्रतिपादक हैं, कोई राजनीति के प्रणेता हैं; कोई नैरात्म्यवाद के समर्थक हैं; कोई प्रतारण के पक्षपाती हैं; कोई अर्थनीति के संकलयिता हैं; कोई अवैदिकवाद के प्रवर्त्तक हैं; कोई तर्कवाद के परिपोषक हैं; कोई अहिंसावाद के उपदेष्टा हैं और कोई परलोक के अनस्तित्त्व के प्रचारक हैं।

इस परिस्थिति में यह निर्धारण करना एक जटिल समस्या हो जाती है कि उपर्युक्त अनेक बृहस्पतियों में से कौन एक चार्वाक-मत के आदि प्रवर्त्तक हो सकते हैं क्योंकि उपरिवर्णित बृहस्पतियों में से किसी भी एक के मत में स्पष्टरूप से आस्तिकवाद का आभास लक्षित नहीं होता है। यह भी संभावना है कि "बृहस्पति" व्यक्तिवाचक संज्ञा न होकर प्राचीन युग में प्रतिभा की विलक्षणता के कारण व्यक्तिविशेष को "बृहस्पति" की उपाधि दी जाती होगी। आजकल भी विशिष्ट प्रतिभाशाली विद्वानों को विविध उपाधियों से विभूषित करने की प्रथा है। यथा—"महामहोपाध्याय" और "विद्यावाचस्पति" आदि। संभवतः प्राचीन काल के "बृहस्पति"—उपाधिधारी आचार्यों ने बार्हस्पत्य-मत का प्रवर्त्तन एवं प्रचार किया और कालक्रम से परवर्ती युग में बार्हस्पत्य सूत्रों का संकलन हुआ। किन्तु किसी एक ही विशिष्ट बृहस्पति को यदि चार्वाक-मत-प्रवर्त्तक मान लिया जाय, तो वे ऋग्वेदीय ऋषि "लौक्य" ही हो सकते हैं, क्योंकि इन्हीं (लौक्य बृहस्पति) के सिद्धान्त में जड़-वर्ग से चैतन्योत्पत्ति का प्रतिपादन है और चार्वाक सम्प्रदाय का यह मुख्यतम सिद्धान्त है कि पृथिवी, जल, तेजस् और वायु— इन्हीं चार जड तत्त्वों के उचित सम्मिलन से जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। सृष्टिक्रिया में इन चार तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ अपेक्षित नहीं है और ये चार तत्त्व जड ही हैं। अतएव लौक्य बृहस्पति के चार्वाक-मत के आदि प्रवर्त्तक होने में किसी प्रकार संशय की संभावना प्रतीत नहीं होती है।

पौराणिक बृहस्पति

पौराणिक युग में भी हम दैत्यों के समक्ष नास्तिक-मत का प्रचार करते हुए एक बृहस्पति को पाते हैं। इनके मत में भी वैदिक साधन प्राणिमात्र के लिए क्लेशसाध्य हैं और वैदिक श्राद्ध आदि यज्ञों की उपासना का विधान स्वार्थसाधक क्षुद्र व्यक्तियों के लिए ही विधेय है।[१९]

---

१९. प० पु० १।१३।३१९–३३४ और ३६–३८

विष्णुपुराण में भी हिंसाविधेयक वेदों, देवताओं और ब्राह्मणों की कटु आलोचना और घोर निन्दा की गई है। हव्यभोजी देवताओं की अपेक्षा पत्रभोजी पशुओं को ही उत्तम बतलाया गया है। यह भी कहा गया है कि यज्ञ में बलि किए गये पशु को यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो यज्ञकर्त्ता यजमान क्यों नहीं यज्ञ में अपने पिता को ही निहत कर स्वर्ग में भेज देता ? यदि किसी अन्य पुरुष के भोजन करने से भी किसी पुरुष की तृप्ति और परिपुष्टि हो सकती है, तो विदेश की यात्रा के समय पाथेय ले जाने का परिश्रम करने की आवश्यकता क्या है ? पुत्रगण घर पर ही श्राद्ध कर दिया करें। अतः यह समझकर कि "यह श्राद्ध आदि कर्मकाण्ड-अन्धश्रद्धा ही है", इसके प्रति उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है।[२०]

सूत्रकर्ता बृहस्पति

इसके पश्चात् सूत्रकर्ता बृहस्पति का प्रसंग उपस्थित होता है। यद्यपि बृहस्पति के द्वारा प्रणीत अर्थशास्त्रीय सूत्रग्रन्थ मुद्रित हुआ है, किन्तु बृहस्पति के द्वारा चार्वाकमत-सम्बन्धी सूत्रग्रन्थ के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती। प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक के प्रणेता कृष्णमिश्र ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि वाचस्पति ने लोकायतशास्त्र का प्रणयन कर उसे चार्वाक को समर्पित किया और चार्वाक ने अपने शिष्योपशिष्यों के द्वारा उसका पूर्णरूप से प्रचार किया।[२१] माधवाचार्य ने "बृहस्पतिमतानुयायी" कहकर चार्वाक का परिचय दिया है। उन्होंने चार्वाकदर्शन-प्रकरण की समाप्ति के समय "तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाऽप्युक्तम्" कहकर ग्यारह श्लोक भी उद्धृत किये हैं।[२२]

किन्तु, लौक्य बृहस्पति को बार्हस्पत्य चार्वाकमत का प्रवर्त्तक मान लेने पर भी वे बार्हस्पत्य-सूत्रप्रणेता बृहस्पति हो नहीं सकते। ऋग्वेद के मन्त्र-युग और लौकिक संस्कृत के सूत्र-युग के मध्य में समय के दृष्टिकोण से बहुत बड़ा व्यवधान पड़ जाता है। वैदिक ऋषि के मन्त्रों की वैदिक भाषा और बार्हस्पत्य सूत्रों की लौकिक संस्कृत भाषा भी एक नहीं। अतएव, बार्हस्पत्यमत के आदि प्रवर्त्तक ऋषि लौक्य बृहस्पति और बार्हस्पत्य सूत्र-प्रणेता बृहस्पति एक

---

२०. cf. ३।१८।३५–४०

२१. "वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम्।
तेन च शिष्योपशिष्यद्वारेण बहुलीकृतं तन्त्रम्॥
—अंक २, पृ० ४६

२२. cf. स० द० सं० १।१३–१४ और १०९

नहीं हो सकते। अन्ततोगत्वा दो बृहस्पतियों का तो अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा।

कुछ विद्वानों के मत से लोकायत और चार्वाक दो अलग-अलग नास्तिक-दर्शन के सूत्रकार थे, क्योंकि लोकायत और चार्वाक द्वारा लिखित पृथक्-पृथक् सूत्रों को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उद्धृत किया है। लोकायत द्वारा प्रणीत पन्द्रह सूत्रों का विवरण मिलता है। यथा—षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न के तीन सूत्रों को "लोकायतसूत्राणि" कहकर उद्धृत किया है।[२३] वाचस्पतिमिश्र ने "इति लौकायतिकाः" कहकर एक सूत्र का उद्धरण किया है।[२४] वात्स्यायन ने "इति लौकायतिकाः" कहकर छह सूत्र उद्धृत किये हैं।[२५] मधुसूदन ने "इति लोकायतिकाः" कहकर एक सूत्र को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है।[२६] शंकर ने "इति लौकायतिकदृष्टिरियम्" कहकर एक सूत्र का उल्लेख किया है।[२७] कमलशील ने "लौकायतिकस्य" कहकर तीन सूत्रों का उद्धरण किया है।[२८]

चार्वाक-प्रणीत दो सूत्रों का विवरण शास्त्रों में उपलब्ध होता है। यथा—अभयदेवसूरि ने "चार्वाकसूत्रम्" कहकर एक सूत्र को और फिर उन्होंने "इति चार्वाकैरभिहितम्" कहकर अन्य एक सूत्र को उद्धृत किया है।[२९]

पुरन्दर

शास्त्रों में पुरन्दर नामक एक बार्हस्पत्यमत के सूत्रकार का परिचय मिलता है। सम्भवतः यही पुरन्दर सुशिक्षित चार्वाक सम्प्रदायी हैं। पुरन्दर के द्वारा प्रणीत चार्वाकमत के प्रतिपादक दो सूत्रों का विवरण उपलब्ध होता है। प्रथम सन्मतिप्रकरण की टीका में अभयदेवसूरि ने 'एतच्च पौरन्दरं सूत्रम्" यह कहकर एक सूत्र का उल्लेख किया है और पुनः शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका में कमलशील ने "पुरन्दरस्त्वाह" यह कह कर द्वितीय सूत्र का उद्धरण किया है।[३०] पुरन्दर प्रमुख सुशिक्षित चार्वाकों ने लोकयात्रोपयोगी

२३. Vide शास्त्री 174
२४. Ibid
२५. Ibid 175
२६. Ibid
२७. cf. गीता० शा० XVI. 8
२८. Vide शास्त्री 175
२९. Ibid 175
३०. द्र—शास्त्री० पृ० १७५

काम और लौकायतिक सिद्धान्तों का प्रामाण्य भी स्वीकार किया है। शान्तरक्षित ने अपनी कारिकाओं में ऐसे चार्वाकैकदेशी एवं लोकप्रसिद्ध अनुमान प्रमाण के अनुयायी सम्प्रदायों की चर्चा की है।[31] शान्तरक्षित के शिष्य कमलशील ने तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका में यथाप्रसंग पुरन्दर का मत उद्धृत किया है। अतः यह स्पष्ट है कि पुरन्दर प्रमुख सुशिक्षित चार्वाकों का मत तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षित को परिज्ञात था। कमलशील शान्तरक्षित के समसामयिक थे। पण्डितों के मत से शान्तरक्षित का समय अष्टम शतक है। अतएव यह सिद्ध होता है कि पुरन्दर अवश्य ही शान्तरक्षित और कमलशील के पूर्ववर्त्ती थे।

कम्बलाश्वतर

कम्बलाश्वतर नामक एक अन्य सूत्रकार का भी उल्लेख मिलता है। इनके मत में 'प्राणापानाद्यधिष्ठित' काय से ही ज्ञान की उत्पत्ति युक्तिसिद्ध प्रतिपादित हुई है। शान्तरक्षित ने कम्बलाश्वतर के प्रणीत तत्प्रतिपादक एक सूत्र का उल्लेख किया है।[32] कम्बलाश्वतर का समय ई० पू० ५००—५५० निर्धारित किया गया है। इससे यह निश्चय होता है कि देहात्मवादी सम्प्रदाय का अस्तित्व कम्बलाश्वतर के समय में था।

भागुरि

व्याकरणशास्त्र में लोकायतशास्त्र पर 'भागुरी' नामक टीका के लेखक 'भागुरि' नामक आचार्य के नाम का संकेत मिलता है। यथा—"वर्णिका भागुरी लोकायतस्य, वर्तिका भागुरी लोकायतस्य[33]" इससे अवगत होता है कि निश्चय ही लोकायत नामक ग्रन्थ था और उसके ऊपर ई० पू० १५० के पूर्व अथवा ई० पू० ३०० के भी पूर्व न्यूनतः एक टीका तो अवश्य थी, क्योंकि वार्तिक सूत्र के प्रणेता आचार्य कात्यायन का समय ई० पू० १५०—३०० के मध्य में ही संभावित है।[34] संभवतः यही तर्क और हेतुशास्त्र के ऊपर प्राचीन पुस्तक थी।

---

३१. "लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपीष्यत एव, यत्तु कैश्चिल्लौकिकं मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते तन्निषिध्यते।" —त० स० प० १४८२

३२. "कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम्॥" —त० स० १८६४

३३. cf. व्या० म० और कैयट टीका ७।३।४५

३४. cf. H. I. Phil. Vol. III, P. 516

भट्टोजी-भट्टोजि दीक्षित ने व्याकरण में भागुरि' नामक आचार्य का नामोल्लेख किया है ।[३५] इससे अवगत होता है कि उस समय तक लोकायत शास्त्र अपने अस्तित्व में अवश्य था ।

वाल्मीकि

महाकाव्य या रामायण के युग में भी हमें नास्तिक संप्रदाय की मन्तव्यताओं की चर्चा दृष्टिगोचर होती है । जाबालि नामक एक ब्राह्मण पण्डित था । राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् शोक से व्याकुल भरत को आश्वासन देते हुए धर्म के परिज्ञाता रामचन्द्र के प्रति उसने धर्म-विरोधी वचन कहे थे :—

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ।।

जाबालि ने मृत पितरों के उद्देश्य से विधेय अष्टका आदि श्राद्धकर्म के प्रति खण्डनात्मक वाक्य कहे थे । उसने यज्ञ-जाप, दीक्षा-दान, तप-संन्यास आदि वैदिक धर्मों को दाम्भिक बतलाकर परलोक का खण्डन किया है ।[३६]

जैन सम्प्रदाय और चार्वाक

ईश्वरानपेक्षी दर्शनों में चार्वाक दर्शन के पश्चात् जैन दर्शन का स्थान है । जैनमत का आरम्भ प्रागैतिहासिक युग में ही हुआ है । जैनों के अनुसार जैनमत के प्रवर्त्तक चोबीस तीर्थंकर थे । अत्यन्त प्राचीन काल से ही इन तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही थी । ऋषभदेव इस परम्परा के प्रथम तीथकर माने जाते हैं और वर्द्धमान या महावीर इसके चौवीसवें या अन्तिम

---

३५. "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ।"
—सि० कौ० अव्यय प्रकरण

३६. "अष्टका पितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः ।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥
यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात्प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥
दानसंवनना ह्येते ग्रंथा मेधाविभिः कृताः ।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥
स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते ।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥" —वा० रा० २।१०८।१४-१०

तीर्थंकर थे। विष्णुपुराण में महात्मा नाभि और मेरुदेवी से उत्पन्न ऋषभ नामक एक राजर्षि का विवरण है।[३७] संभव है—यही दिगम्बर जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर हैं। जैन-दर्शन नास्तिक-दर्शनों में परिगणित होता है, क्योंकि कुछ सिद्धान्तों में इसका आस्तिक दर्शनों से स्वाभाविक मतभेद भी है, तथापि यह दर्शन उसी पथ का पथिक है, जिससे होकर आस्तिक-दर्शनों की विचार-धारा प्रवाहित होती है। जैन सम्प्रदाय के धार्मिक, दार्शनिक तथा काव्यादि, ग्रन्थों में चार्वाक, लोकायतिक, बार्हस्पत्य, नास्तिक और वाममार्गीय मत का उल्लेख पाया जाता है।

सूत्रकृताङ्ग

जैन सम्प्रदाय के आगम साहित्यों में सूत्रकृताङ्ग का स्थान द्वितीय है। आस्तिक वाङ्मयों में जो स्थान वेद का है और बौद्ध वाङ्मयों में त्रिपिटिक का वही स्थान जैन वाङ्मयों में आगम का है। आगम साहित्य उसे कहा जाता है जो अर्थ रूप से साक्षात् जिनभाषित हो शब्दरूप से उन (तीर्थंकरों) के मुख्य अधिकारी गणधरों के द्वारा उपनिबद्ध हो। सिद्धान्त और भाषा की दृष्टि से सूत्रकृताङ्ग की प्राचीनता अत्यन्त प्रामाणिक है। सूत्रकृताङ्ग के सर्वप्रथम समयाध्ययन में प्राचीन दार्शनिक मतों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के प्राचीन टीकाकार आचार्य शीलांक चार्वाक के लिये 'वाममार्गं'

---

३७. ऋषभ देव धर्मपूर्वक राज्यशासन तथा विविधि यज्ञों का अनुष्ठान करने के अनन्तर अपने वीर पुत्र भरत को राज्याभिषिक्त कर तपश्चरण के लिये पुलहाश्रम को चले गये। महाराज ऋषभ ने वहाँ भी वानप्रस्थ आश्रम की विधि से रहते हुए तप तथा नियमानुकूल यज्ञानुष्ठान किये। वे तपश्चरण के कारण सूख कर अत्यन्त कृश हो गये और उनके शरीर की शिराएँ दिखाई देने लगीं। अन्त में अपने मुख में एक पत्थर की बटिया रख कर उन्होंने नग्नावस्था में महाप्रस्थान किया—

> कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान् ॥
> अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथिवीपतिः।
> तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ ॥
> वानप्रस्थविधानेन तत्रापि कृतनिश्चयः।
> तपस्तेपे यथान्यायमियाज स महीपतिः ॥
> तपसा कर्षितोऽत्यर्थं कृशो धमनिसन्ततः।
> नग्नो वीटां मुखे कृत्वा वीराध्वानं ततो गतः ॥ —II. 1. 28-31

शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि ये लोग गुप्त रूप से अनाचार प्रवृत्तियों में संलग्न रहे हैं ।[३८] जैन परम्परा प्रतिपादित चार्वाकाभिमत चतुर्भूतों के अतिरिक्त पंचम भूत के रूप में आकाश का भी विवरण मिलता है । सर्वप्रथम चार्वाकमत का ही खण्डन करते हुए कहा गया है कि कुछ लोगों का कथन है कि पृथिवी, जल, तेजस् वायु और आकाश - ये पांच महाभूत हैं ।[३९] इनसे एक चैतन्य की निष्पत्ति होती है और कायाकार में परिणत पाँच भूतों में से किसी एक के विनाश हो जाने पर चैतन्य-शक्ति का भी विनाश हो जाता है ।[४०]

उपर्युक्त चार्वाक-मान्यता सम्बन्धी सूत्रांश पर टीका करते हुए आचार्य शीलांक चार्वाकमत का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य ने चार्वाक के लिये भूतवादी, बार्हस्पत्य, लौकायतिक और वाममार्ग शब्दों का भी प्रयोग किया है। पृथिवी आदि पाँच महाभूत जब कायाकार में परिणत हो जाते हैं तब एक चिद्रूप आत्मा की उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु आत्मा भूतस्वरूप ही होता है । भूतों से अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों के द्वारा अभिमत परलोकानुयायी तथा सुखदुःखभोक्ता जीव नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं होता । उक्त चार्वाकमत की विवेचना में आचार्य विस्तार के साथ कहते हैं—"पृथिवी आदि पंच महाभूतों से अतिरिक्त आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि भूतातिरिक्त स्वतन्त्र आत्मतत्त्व का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है । प्रमाण एक मात्र प्रत्यक्ष ही है । अनुमानादिक प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि अनुमानादिकों में इन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता । अतः अनुमानादिकों में व्यभिचार की संभावना बनी रहती है और जहाँ व्यभिचार की संभावना हो तथा केवल सादृश्य में बाधा संभव हो तो वह लक्षण ही दूषित हो जाता है और सर्वत्र अविश्वस्तता की स्थिति उपस्थित हो जाती है । कथन भी है कि केवल हस्तस्पर्श के आधार पर विषम पथ पर दौड़ने वाले अन्धे का पतन जिस प्रकार असंभव नहीं उसी प्रकार अनुमान प्रधान विचार से सत्य की शोध करने वाले का

---

३८. 'यथा वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति'

—शीलाङ्क पृ० १३

३९. "सन्ति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगासपंचमा ।"

—सूत्रकृताङ्ग १।१।१।७, पृ० १५

४०. "ए ए पंच महब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया
अह तेसिं विणासेणं विणासो होइ देहिणो ।" —Ibid १।१।१।८

पतन भी असंभव नहीं है। अस्तु, जब एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तब उस प्रत्यक्ष के द्वारा तो भूतातिरिक्त आत्मा का ग्रहण होता नहीं है और जो भूतों में चैतन्य उपलब्ध होता है वह भूतों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वह चैतन्य कायाकारपरिणत भूतों से ही अभिव्यक्त हो जाता है, जिस प्रकार मद्य के समुदित अंगों में मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कारण होता है तदनुरूप ही उसका कार्य भी होता है। जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न घट मृत्तिकारूप ही होता है—तदतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। इसी प्रकार चैतन्य तत्त्व भी भूतों से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह भूतों का ही कार्य है। जिस प्रकार जल से बुद्बुद की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार भूतातिरिक्त आत्मा के अभाव होने से भूतों से ही चैतन्याभिव्यक्ति होती है। यहाँ उन लोकायत सिद्धान्तों का वर्णन है, जो आकाश को भी पंचम भूत के रूप में स्वीकृत करते हैं। अतः मूल सूत्रगत चार्वाकवाद के लिये पंचभूतवाद का उपन्यास असंगत नहीं है। यदि भूतातिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ नहीं है, फिर लोक में 'मृत' शब्द का व्यवहार किस आधार पर होता है ?[४१] इस शंका के समाधान में चार्वाकों का उत्तर है कि कायाकार में परिणत भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाने पर कालान्तर में यदा कदाचित् उन भूतों में से वायु या तेजस अथवा दोनों (वायु और तेजस्) का अपगम हो जाता है तब देवदत्तादि नामधारक आत्मतत्त्व का भी विनाश हो जाता है और तब मृत प्राणी के लिये मृतव्यवहार की प्रवृत्ति होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि भूतों से अतिरिक्त कोई आत्मतत्त्व था और वह कहीं चला गया है।

आगे चलकर सूत्रकृतांग में चार्वाकमत का ही तज्जीव तच्छरीरवादी के रूप में उल्लेख किया गया है। प्रत्येक शरीर एक आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा जैसा कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। जब तक शरीर रहता है तब तक ही तत्स्वरूप आत्मा भी रहता है। परलोकगामी आत्मा जैसा कोई तत्त्व नहीं है, क्योंकि प्राणी मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता है। और जब आत्मा नहीं है

४१. "पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि 'तेभ्यः' कायाकारपरिणतेभ्यः 'एकः' कश्चिच्चिद्रूपा भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति, न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते × × × अथैषां कायाकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य 'विनाशे' अपगमे वायोस्तेजसश्चोभयोर्वा 'देहिनो देवदत्ताख्यस्य 'विनाशः' अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्त्तते, न पुनर्जीवापगम इति" —शीलाङ्क १।१।१।७–८

तब पुण्य-पाप भी नहीं हैं और न इस लोक से अतिरिक्त कोई परलोक ही है। शरीर के नाश हो जाने पर देही (आत्मा) का भी विनाश हो जाता है।[४२]

टीकाकार आचार्य शीलांक का कथन है कि कायाकार परिणत भूतों में चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है और भूतसमुदाय के विघटन होने पर चैतन्य का विनाश हो जाता है। इसलिये जब तक शरीर विद्यमान रहता है तब तक तत्स्वरूप आत्मा की भी विद्यमानता रहती है। शरीर के अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है। शरीर से भिन्न अपने कर्मफल का भोक्ता आत्मा नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, जो परलोक में गमन करता हो, क्योंकि प्राणी औपपातिक नहीं हैं अर्थात् एक जन्म से दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं। औपनिषदिक कथन भी है कि इन भूतों से विज्ञानघन (आत्मा) उत्पन्न होता है और इनके विनाश के पश्चात् विनष्ट भी हो जाता है। परलोक जैसी कोई स्थिति नहीं है।[४३]

जब आत्मरूप कोई धर्मी नहीं है तो फिर पुण्य और पाप का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। और पुण्य-पाप के अभाव हो जाने पर परलोक का भी अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि परलोक पुण्य-पाप के फलभोग के लिये ही है। अस्तु, शरीर के विनाश होने पर अर्थात् भूतों के विघटन होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है। ऐसा नहीं है कि शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता हो और वह परलोक में आकर पुण्य-पाप का फलानुभव करता हो। इस सम्बन्ध में अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते हैं। यथा जल से भिन्न जल-बुद्बुद् कोई भिन्न पदार्थ नहीं है उसी प्रकार भूतों से अतिरिक्त आत्मा भी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिस प्रकार कदलीस्तंभ के एक के पश्चात् एक बाह्य छाल का अपनय न करने पर अन्त तक छाल ही की विद्यमानता रहती है और भीतर में कोई सारभूत स्वतन्त्र तत्त्व दृग्गोचर नहीं होता है इसी प्रकार भूतसमुदाय के विघटित होने पर भीतर में आत्मा नामक कोई सारभूत स्वतन्त्र पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है। जिस प्रकार अलातचक्र घुमाने पर अतद्रूप चक्रबुद्धि उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार भूतसमुदाय भी विशिष्ट क्रियोपेत होने पर जीव

४२. "पत्तेअं कसिणे आया जे बाला जे अ पंडिआ।
संति पिच्चा न ते संति नत्थि सत्तोव वाइआ॥
नत्थि पुण्णे न पावे वा नत्थि लोए इतो वरे।
सरीरस्स विणासेणं विणासो होई देहिणो॥"

--सूत्रकृताङ्ग १।१।१।११-१२

४३. cf. F N. 2. 27

की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य पदार्थ के बिना ही विज्ञान बहिर्मुखाकार रूप से अनुभूत होता है उसी प्रकार आत्मा के बिना भी भूतसमुदाय में आत्म प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार दर्पण में स्वच्छता के कारण प्रतिबिम्बित होने वाला बहिर्गत पदार्थ भी अन्तर्गत-सा लक्षित होता है, किन्तु वस्तुतः वह वैसा है नहीं। इसी प्रकार ग्रीष्म में पार्थिव उष्मा के कारण परिस्पन्दमान मरीचिसमूह जलाकार विज्ञान को उत्पन्न कर देता है और गन्धर्व नगरादि आकाश में स्वस्वरूप से अतथाभूत होते हुए भी तथाभूत प्रतिभासित होते हैं उसी प्रकार आत्मा भी भूतसमुदाय के कायाकार में परिणत होने पर भूतों से भिन्न सत्ता न रखते हुए भी भिन्नता की भ्रान्ति उत्पन्न कर देता है। यदि भूतातिरिक्त आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं है और उसके द्वारा क्रियमाण पुण्य-पाप भी नहीं है तो फिर यह जगत् की विचित्रता कैसे घटित हो सकती है ? हम देखते हैं—कोई धनी है तो कोई दरिद्र, एक सुभग तो अन्य दुर्भग, एक सुखी तो अन्य दुःखी, एक सुरूप तो अन्य कुरूप, एक रोगी तो अन्य नीरोग। इस प्रकार जगद्वैचित्र्य का क्या कारण है ? इन शंकाओं के समाधान में चार्वाकीय प्रतिपादन है कि जगत् की विचित्रता स्वभावसंभूत है। देखा जाता है कि एक पाषाणखण्ड की देवप्रतिमा बनाई जाती है और वह चन्दन, पुष्प, विलेपन आदि का उपभोग करती है और तद्रूप अन्य पाषाणखण्ड के ऊपर मल-मूत्र किये जाते हैं। खण्डद्वय का किया पुण्य-पाप जैसा कुछ भी नहीं है, जिसके उदय से इस प्रकार का अवस्थाविशेष हो। अतः स्पष्ट है कि जगत् की विचित्रता पुण्य-पाप के आधार पर नहीं है, किञ्च स्वभाव पर ही आधारित है[४४]। स्वभाव वाद की सिद्धि में कहा गया है—कण्टकों की तीक्ष्णता, मयूर के वर्ण की विचित्रता और कुक्कुट की विविधवर्णता देख कर हम समझ सकते हैं कि जगत् का वैचित्र्य स्वभाव से ही निर्मित हुआ है।

रायपसेणइय सुत्तं

जैन-साहित्य के सूत्रकृताङ्ग सूत्र से ऊपर चार्वाक परम्परा का दिग्दर्शन हो चुका है। सूत्रकृताङ्ग का स्थान अंग साहित्य में है। अंग साहित्य के पश्चात् उपांग साहित्य का स्थान आता है। चार्वाक परंपरा का उपांग साहित्य में क्या स्थान है और वह कितनी प्राचीन है—इसका संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है। 'रायपसेणइय-सुत्तं' उपांग साहित्य का द्वितीय सूत्र है। इसमें भगवान् महावीर के मुख से अपने से पूर्वकालीन केकय प्रदेश

---

४४. "तथाहि कायाकरपरिणतेपु ००० न प्रेत्य संज्ञास्तीति
पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणम् ००० स्वभावेन भवन्ति हि"
——शीलाङ्क १।१।१।११–१२

के पएसी (प्रदेशी) नामक राजा के कथानक का वर्णन है। यह राजा चार्वाक की विचारधारा का पक्षपाती था—यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु उसकी जीवनचर्या और आत्मन् के अस्तित्व में अविश्वासिता आदि के उल्लेखों से ध्वनित होता है कि वह चार्वाक अर्थात् नास्तिक-विचारधारा का पूर्ण पक्षपाती था।

राय पएसी

राजा पएसी (प्रदेशी) अधार्मिक तथा अधर्म प्रचारक था। उसके शील तथा आचार में कहीं भी धर्म के लिये स्थान नहीं था। अधर्म से ही यह अपनी आजीविका चलाता था। इसके मुख से 'मारो, काटो' की ही भाषा निकलती थी। प्रकृति से ही यह क्रोधी था। यह गुरुजनों को न आदर करता था और न विनय। और तो क्या, यह क्रूर राजा अपने जनपद की भी देख-रेख सम्यक् प्रकार से नहीं करता था।[४५]

केशीश्रमण

भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के केशीश्रमण एक बार राजा पएसी (प्रदेशी) की सेयविया (श्वेतंबी) नामक नगरी में आते हैं और राजा पएसी के साथ आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व के संबन्ध में संवाद होता है। यह संबाद अत्यन्त विस्तृत है और जैनागम साहित्य में आत्मा के अस्तित्व के समर्थन के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

राजा पएसी अपनी नास्तिकविचारधारा का प्रश्न उपस्थित करता हुआ कहता है कि आत्मा और शरीर ये दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं, किन्तु यह शरीर ही जीव है। यदि शरीर से भिन्न जीव होता तो वह मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म ग्रहण करता। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि मेरा पितामह एक अत्यन्त अधार्मिक राजा था। आस्तिकों के सिद्धान्त के अनुसार तो पापकर्मा होने के कारण वह मृत्यु के उपरान्त नरक में गया होगा। मैं अपने पितामह का अत्यन्त प्रिय था। अतः नरक से आकर पितामह मुझसे अवश्य कहते "तू अधर्माचरण न कर; देख, मैं पाप-कर्म करने के कारण नरक में गया हूँ और दुःख पा रहा हूँ।" किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ मेरा दादा नहीं आया और मुझ से कुछ नहीं कहा। अतः सिद्ध होता है कि दृष्ट शरीर से भिन्न परलोकगामी आत्मा जैसा कोई तत्त्व नहीं है।

---

४५. 'अधम्मिए ००० करभरवित्तिं पवत्तेइ'

—रायपसेणइय, पृ० २७४–२७६

केशीश्रमण ने नरक से दादा के न आने के लिये पराधीनता का तर्क उपस्थित किया। इस पर पएसी अपनी पितामही के सम्बन्ध में कहता है कि मेरी पितामही अत्यन्त धर्मचारिणी थी अतः वह आपकी मान्यता के अनुसार स्वर्ग में गई होगी। स्वर्ग में तो वह स्वतन्त्र है। उसे तो वहां से आकर बताना चाहिए था, किन्तु वह भी नहीं आई। इससे सिद्ध होता है कि पुनर्जन्मग्राही आत्मा जैसा कोई तत्त्व नहीं है। केशीकुमार ने इसका समाधान किया कि मर्त्यलोक अत्यन्त मलिन और अपवित्र है, अतः देवता लोग (स्वर्ग से) यहां आने की इच्छा नहीं करते हैं। राजा ने इस पर एक और तर्क उपस्थित करते हुए कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही लौहकुम्भी में बन्द कर दिया और सब ओर से सीसे के रस से उस लौहकुम्भी के छिद्र आदि भी सम्यक् प्रकार से बन्द कर दिये थे। कुछ दिनों के पश्चात् देखा कि लौहकुम्भी यथापूर्व थी उसमें कहीं भी कोई छिद्र नहीं था और भीतर में चोर मर चुका था। यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मतत्त्व होता हो उसके कुम्भी से बाहर परलोक जाते समय उस कुम्भी में कहीं न कहीं छिद्र अवश्य होना चाहिए था। अतः स्पष्ट है कि आत्मा नामक कोई शाश्वत, पुनर्जन्मग्राही और स्थायी तत्त्व नहीं है।

राजा पएसी बालक और वृद्ध की अवस्था के सम्बन्ध में कहता है कि एक बालक बाण के द्वारा लक्ष्यभेदन की क्रिया में तरुण के समान कुशल क्यों नहीं होता है और एक युवक जितना भार उठा सकता है उतना वृद्ध क्यों नहीं उठा सकता है ? इन दोनों उदाहरणों में शरीर ही आत्मा के रूप से लक्षित होता है। क्योंकि शरीर से भिन्न यदि आत्मा होता तो बालक और वृद्ध के शरीर में तरुण के समान ही कार्य करने की क्षमता होती।

राजा ने कहा कि एक बार मैंने प्राणदण्ड के अपराधी चोर को जीवित दशा में तौला और पुनः उसे मरने के पश्चात् भी तौला किन्तु परिमाण एक सा ही रहा—न्यूनता कुछ नहीं आई। यदि शरीर से भिन्न आत्मा होता तो मरने के पश्चात् आत्मा की मात्रा निकल जाने के कारण मृत शरीर का परिमाण न्यूनतर हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ।

राजा ने चोर का ही एक और उदाहरण उपस्थित किया—उसने कहा कि मैंने चोर के शरीर के खण्ड-खण्ड कर दिये और सम्यक् प्रकार से निरीक्षण किया, किन्तु मुझे कहीं भी शरीर से भिन्न जीव दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

राजा ने हाथी जैसे विशालकाय और कुन्धवा जैसे लघुकाय प्राणी का उदाहरण देते हुए कहा कि दोनों के शरीर में आत्मा तो एक सा ही है—आस्तिक दृष्टि से। फिर क्या कारण है कि कुन्धवा की अपेक्षा हाथी में आहार-

विहार और बल-वीर्य आदि का आधिक्य है ? इससे अवगत होता है कि शरीर ही अपनी स्थिति के अनुसार आहार आदि क्रियाएँ करता है। यदि जीव शरीर से भिन्न होता तो जीव (हाथी और कुन्थवा में) एक समान ही आहार-विहार करता।

अन्त में राजा ने केशीकुमार श्रमण से सीधा प्रश्न किया—आप तो बहुत दक्ष और ज्ञानी हैं इसलिये क्यों नहीं अपनी हथेली पर आमलक के समान आत्मा को रखकर मुझे दिखला देते ? केशीश्रमण ने वृक्षों को प्रकम्पित करनेवाले वायु का उदाहरण उपस्थित करते उत्तर दिया—"राजन्, तुम स्पर्शवान् वायु को प्रत्यक्ष तो नहीं देख सकते हो तो क्या तुम्हारे प्रत्यक्ष नहीं देखने से वायु नहीं है ? प्रकम्पन क्रिया के कारण (द्वारा) वायु अवश्य अनुमानित है। जब भौतिक वायुतत्त्व को तुम नहीं देख सकते और उसके अस्तित्व का विश्वास करते हो तब फिर इन्द्रियातीत आत्मा को तुम देख ही कैसे सकते हो ?[४६]

यह लम्बा प्रसंग है। राजा ने अपने नास्तिक पक्ष का पूर्ण दृढ़ता और तर्क के साथ समर्थन किया है। यह तो ठीक है कि राजा केशीकुमार श्रमण के उपदेश से आस्तिक बन जाता है, किन्तु इस कथा प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर से पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ के शासनकाल में भी नास्तिक-वाद पूर्णरूप से प्रचार में था। प्रदेशी जैसे राजा नास्तिक विचारधारा के कट्टर अनुयायी थे और तदनुसार उन्मुक्त और भोगप्रधान जीवन व्यतीत करते हुए वे किसी प्रकार संकोच नहीं रखते थे।

आचार्य हेमचन्द्र के मत में भूतचतुष्टयवादी चार्वाकों का सिद्धान्त ही महत्त्व-पूर्ण था, क्योंकि जैन धर्म के एक महान् आचार्य होते हुए भी उन्होंने अपने सम्प्रदाय के प्राचीन सूत्रांग जैसे स्वतःप्रमाणरूप आगम ग्रन्थ में प्रतिपादित पंचभूतवादी चार्वाकमत का उल्लेख नहीं किया। अवगत होता है कि पंचभूत-वादी चार्वाकों की अपेक्षा भूतचतुष्टयवादी चार्वाक ही अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। फलतः यत्र तत्र आस्तिकवादियों के द्वारा चतुर्भूतवादी सिद्धान्तों का ही खण्डन किया गया है।

आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रम जैन साहित्याकाश के एक महान् तथा उज्ज्वल नक्षत्र हैं। उनका साहित्य जैन दर्शन में एक विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण

---

४६. "तुब्भे णं भंते × × × अण्णो जीवो अण्णं शरीरं, णो तं जीवो णो तं शरीरं। × × × जहा व से पुरिसे अयभारिए ॥"
Ibid पृ० ३०६–३२८

स्थान रखता है। विशेषावश्यक महाभाष्य उनकी सर्वत: प्रसिद्ध वह महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसमें दर्शनशास्त्र की सर्वोत्कृष्ट मीमांसा की गई है।

गणधरवाद उसी विशेषावश्यक भाष्य का वह महत्त्वपूर्ण अंश है जिसमें विहार पावापुरी के प्रथम समवसरण में भगवान् महावीर से तत्कालीन इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वानों की तत्त्वचर्चा हुई है। इस प्रसंग के लिये जैन धर्म में एक विशिष्ट स्थान है। इन्द्रभूति गौतम और वायुभूति गौतम नास्तिक-विचारधारा के पक्षपाती-से लगते हैं। आत्मा के सम्बन्ध में इनका विश्वास चार्वाकपरम्परा से मिलता है। आचार्य जिनभद्र ने इन्द्रभूति और वायु-भूति का पक्ष जिस रूप में उपस्थित किया है उसे संक्षेप में हम यहाँ निबद्ध करते हैं।

इन्द्रभूति-पक्ष

आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता। जो पदार्थ सर्वथा अप्रत्यक्ष होता है अर्थात् जिसका ज्ञान कभी प्रत्यक्ष से नहीं होता उसका सद्भाव भी कभी नहीं होता है। जैसे आकाशपुष्प का। आकाशपुष्प प्रत्यक्ष से भी नहीं जाना जाता। अतएव संसार में उसका अभाव है। इसी प्रकार आत्मा भी कभी प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता है. अतः आत्मा का भी अभाव है। जिस पदार्थ का अस्तित्व होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान से अवश्य ही ज्ञात होता है। यथा घट आदि। यदि कोई यह कहे कि परमाणु का अस्तित्व तो है, किन्तु वह प्रत्यक्ष से जाना नहीं जाता। अतः जो प्रत्यक्ष से अग्राह्य है वह वस्तु ही नहीं है—यह कथन औचित्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि परमाणु अपने वर्तमान स्वरूप में भले ही नहीं दृष्टिगोचर हो, किन्तु जब बहुत से परमाणु मिलकर घटादिस्कन्ध (पिण्ड) के रूप में परिणत हो जाते हैं तब वे निश्चय ही दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु आत्मा तो कभी भी किसी भी दशा में प्रत्यक्ष के द्वारा न तो देखा जाता है और न जाना जाता है। अस्तु, अब यह सिद्ध हुआ कि आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

अब रहा अनुमान प्रमाण का विषय। वह भी आत्मा के अस्तित्त्व को सिद्ध नहीं कर सकता है। अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षमूलक होता है, अर्थात् वह प्रत्यक्ष के द्वारा दृष्ट पदार्थों को ही जानता है। जब प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्वोक्त स्थापना के प्रकाश में आत्मा को नहीं जान सकता तो उसे अनुमान कैसे जान सकता है ? जिस व्यक्ति ने कभी प्रत्यक्ष में अग्नि को देखा ही नहीं, वह धूम देख कर अग्नि का अनुमान भला कैसे कर सकता है ?

आगम प्रमाण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आगम प्रमाण भी प्रत्यक्षमूलक ही होता है। प्रत्यक्ष से ज्ञात पदार्थ का द्रष्टा के द्वारा कथित वचन ही आगम होता है। जबकि पूर्व लेखानुसार प्रत्यक्ष से आत्मा का ज्ञाता कोई हो ही नहीं सकता तो वह वचन से उस का विवरण कैसे उपस्थित कर सकता है? यदि प्रत्यक्ष से ज्ञान किये बिना कोई वर्णन करेगा तो उसका वह वर्णन असत्य ही सिद्ध होगा। अस्तु, सिद्ध हुआ कि आत्मा आगम प्रमाण का भी विषय नहीं है।

आगम प्रमाण के सम्बन्ध में एक बात और है कि सब आगम परस्पर विरोधी हैं। एक परम्परा के आगम आत्मा का अभाव बताते हैं, तो दूसरी परम्परा के आगम आत्मा के सद्भाव की स्थापना करते हैं। इस परिस्थिति में किस आगम को सत्य माना जाय? अतः आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह ही बना रहता है। किसी निश्चित तथ्य पर नहीं पहुँचा जा सकता है।[४७]

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता और आगमों के परस्पर विरोधी होने के कारण विचारक के संशय की निराकृति नहीं हो पाती है।

वायुभूतिपक्ष

पृथिवी आदि भूतसमुदाय के मिलन से चेतना उत्पन्न हो जाती है। जब भूत अलग-अलग रहते हैं तब उनमें चेतनाशक्ति अवगत नहीं होती, किन्तु परस्पर मिलन से वह उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार धातकी (धाय) के पुष्प,

---

४७. "जीवे तुह संदेहो पच्चक्खं जं न घिप्पइ घडो व्व।
अच्चंतापच्चक्खं च नत्थि लोए खपुप्फं व॥
न य सोऽणुमाणगम्मो जम्हा पच्चक्ख-पुव्वयं तंपि।
पुव्वोवलद्धसंबंधसरणओ लिंगलिंगीणं॥
न य जीवलिंगसंबंधदरिसणमभू जओ पुणो सरओ।
तल्लिंगदरिसणाओ जीवे संपच्चओ होज्जा॥
नागमगम्मो वि तओ भिज्जइ जं नागमोऽणुमाणाओ।
न य कासइ पच्चक्खो जीवो जस्सागमो वयणं॥
जं चागमा विरुद्धा परोप्परमओऽवि संसओ जुत्तो।
सव्वप्पमाणविसयाइओ जीवोत्ति ते बुद्धी॥"
—विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गाथा–१५४९–१५५३

गुड़ और जल आदि अलग-अलग मद्याद्यांगों में मद्य का सद्भाव नहीं ज्ञात होता है। किन्तु जब वे परस्पर मिलकर एक विशिष्ट प्रकार से मद्य के रूप में परिणत होते हैं तो उनमें मादक की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यही बात पृथिवी आदि भूतसमुदाय से मिल कर उत्पन्न होने वाले तथाकथित चेतन के सम्बन्ध में भी है।

मद्य के उत्पादक कारण के मिलने पर उत्पन्न होने वाला मद्य जिस प्रकार कालान्तर में नाश के कारण के मिलने पर नष्ट भी हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी आदि भूतों से उत्पन्न होने वाली चेतना भूतसमुदाय से उत्पन्न होकर नाश के कारण के मिलने पर कालान्तर में नष्ट भी हो जाती है।

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से यही निश्चय होता है कि आत्मा पृथिवी आदि भूतों का धर्म है। स्वयं कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो प्रत्येक समुदायी (जिसके मिलन से समुदाय बना हो) में उपलब्ध नहीं होता हो, किन्तु उनके समुदाय में उपलब्ध होता है वह समुदाय का धर्म अर्थात् गुण होता है। जैसे मद्य अपने विभिन्न अंगों में उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उनके समुदाय में उपलब्ध होता है, अतः मद्य अपने समुदाय का गुण है। उसी प्रकार चेतना भी भूतों के एकत्र होने पर उत्पन्न होती है और भूतों के अलग-अलग होने पर उत्पन्न नहीं होती है। अतः वह स्पष्ट ही भूतों के समुदाय का धर्म है। यहाँ भूत धर्मी है और चेतना उसका धर्म है। धर्म और धर्मी अर्थात् गुण और गुणी सर्वथा भिन्न होते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न नहीं हैं, अर्थात् जो शरीर है वही आत्मा है। शरीररूप धर्मी में तथाकथित चेतन आत्मा धर्म है और वह धर्म शरीर का है। अतः वह शरीर से भिन्न नहीं हैं।[४८]

अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वांत्रिंशिका नामक ग्रन्थ का जैन संप्रदाय की विद्वमण्डली में आदराधिक्य है। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक-मन्तव्यताओं के निराकरण और अनुमान प्रमाण की उपयोगिता में हेमचन्द्र

---

४८. "वसुहाइ-भूयसुमुदय-संभूवा चेयण त्ति ते संका।
पत्तेयमदिट्ठा वि हु मज्जंगमउव्व समुदाये॥
जह मज्जंगेसु मओ वीसुमदिट्ठो वि समुदए होउं।
कालन्तरे विणस्सइ तह भूयगणम्मि चेयण्णम्॥"

—Ibid १६५०-१६५१

का कथन है कि केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा चार्वाक स्वेतर व्यक्ति का अभिप्राय भी नहीं समझ सकते इसके लिये उन्हें अनुमान का आश्रय लेना ही होगा। अनुमान प्रमाण की अमान्यता में चार्वाक-संप्रदायी नास्तिकों को बोलने की चेष्टा न कर मौन धारण कर लेना चाहिये, क्योंकि चेष्टा और परिचित्त में महान् अन्तर है।[४९]

स्याद्वादमंजरी

इस पर स्याद्वामंजरी नामक अपनी प्रसिद्ध टीका में श्री मल्लिषेण सूरि नास्तिक मत का प्रतिपादन करते हैं कि चार्वाकों का अभिमत एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः पंच इन्द्रियविषयों के बाह्य कोई वस्तु नहीं है।[५०] और बाह्य वस्तु के अभाव में प्रत्यक्षेतर प्रमाणों की कोई आवश्यकता अथवा उपयोगिता नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रमाण को न मानकर भी अन्य व्यक्ति की चेष्टा से अन्य व्यक्ति का अभिप्राय समझ लिया जाता है। इसलिये चार्वाक संप्रदाय में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण की अधिमान्यता है।[५१] भौतिक जडवाद के समर्थन में चार्वाकों का कथन है कि जिस समय पृथिवी, जल, तेजस् और वायु—ये चार तत्त्व शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं, उस समय उनसे स्वयं चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाती है।[५२] अतएव चतुर्भूतों से भिन्न चैतन्य नामक कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि यदि पृथिवी आदि चतुर्भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती तो सोकर उठने वाले व्यक्ति में वह चैतन्य शक्ति कहाँ से आ जाती है? सोने के समय के पूर्व तो चेतन शक्ति नष्ट हो जाती है।[५३] यदि शरीर और चैतन्य

---

४९. "विनानुमानेन पराभिसन्धिमसंविदानस्य तु नास्तिकस्य
न सांप्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च हहा प्रमादः ॥"
—अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, २०

५०. "प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकाः।"
—स्याद्वाद० पृ० १३०

५१. ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणम्।"
—Ibid p. 131

५२. 'कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्यः स उत्पद्यते' —Ibid p. 132

५३. 'कुहस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदयः। असंवेदनेन चैतन्यस्याभावात्।'
—Ibid p. 133

का कोई सम्बन्ध नहीं है तो शरीर में विकार के उत्पन्न होने से चेतना में विकृति क्यों हो जाती है ?[५४]

ऋषभदेव

भगवान् ऋषभदेव जैनपरम्परा के प्रथम तीर्थंकर माने गये हैं। इनका अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल में माना गया है। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक कहाकाव्य में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् ऋषभदेव का जीवन-चरित्र लिखा है। भगवान् ऋषभदेव का आत्मा अपने पूर्वजन्मों में किस प्रकार धर्माराधन करता हुआ विकास के पथ पर अग्रसर हुआ इसका एक बहुत सुन्दर चित्रण प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

महाबल

सम्राट् महाबल एक विषयासक्त राजा था। वह धार्मिक भावना से शून्य रहकर निरन्तर भोगमय जीवन यापन कर रहा था। स्वयंबुद्ध मंत्री ने राजसभा में ही राजा को धर्मोपदेश दिया और धर्माराधन के लिये महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दी। इस पर महाबल राजा के सम्भिन्नमति नामक अन्य मंत्री ने स्वयंबुद्ध मंत्री के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए चार्वाकपरम्परा के सिद्धान्त का मण्डन किया और बतलाया कि आत्मा और उसका पुनर्जन्म जैसा कोई भी तत्त्व नहीं है। फिर कष्टसाध्य धर्माराधन की क्रियाओं से क्या लाभ है? सम्भिन्नमति मन्त्री का प्रतिपादित यह नास्तिकवाद त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित में इस प्रकार चित्रित किया गया है:—
(१) "वर्तमान जीवन के ऐहिक भोगों को त्याग कर परलोक के लिये यत्न करना हस्तगत मधुराम्ल अवलेह्य को त्यागकर कोहनी को चाटने के समान है। (२) धर्म का फल परलोक में मिलता है—यह कथन भी असंगत है, क्योंकि परलोकगामी आत्मा का ही जब अभाव है तो फिर परलोक का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। (३) पृथिवी, जल, तेजस् और वायु—इस भूतचतुष्टय से चेतनाशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिस प्रकार गुड, पिष्ट और जल आदि (मद्योपकरणों) से एक विलक्षण मदशक्ति का स्वयं आविष्कार हो जाता है। (४) शरीर से पृथक् शरीरी अर्थात् आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जो शरीरत्याग के पश्चात् परलोकगामी होता हो। (५) अतएव संसार के वैषयिक सुखों का निःसंकोचभाव से उपभोग करना श्रेयस्कर है। आत्मा को सांसारिक सुखों से वंचित करना औचित्यपूर्ण नहीं, क्योंकि संसार में स्वार्थ-ध्वंस ही

---

५४. 'कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्यविकृतिः।' —Ibid

सर्वाधिक मूर्खता है। (६) धर्म और अधर्म की आशंका रखना उचित नहीं। ये दोनों (धर्माधर्म) सुखोपभोग में विघ्नकारक हैं और वास्तव में खरविषाण के समान धर्माधर्म की कोई सत्ता ही नहीं है। (७) एक प्रस्तरखण्ड जब प्रतिमा आदि के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अंगराग, माला, वस्त्र और अलंकारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूपी प्रस्तरखण्ड ने ऐसा कौन सा पुण्य किया है? (८) और एक अन्य प्रस्तरखण्ड है जिस पर बैठकर लोग मलमूत्र करते हैं। उस प्रस्तरखण्ड ने कौन-सा पापकर्म किया है? (९) यदि प्राणी कर्म से जन्मग्रहण करते और मरते हैं तो फिर ये जल के बुद्‌बुद् किस पुण्यापुण्य कर्म से उत्पन्न और विलीन होते हैं? (१०) अस्तु, जब तक चेतन है तब तक ही इच्छानुसार चेष्टाएं होती हैं। जब चेतन का विनाश हो गया तब फिर उसका जन्म नहीं होता। (११) जो प्राणी मरता है वही फिर से उत्पन्न होता है—यह केवल वचनमात्र है, क्योंकि आत्मा की सिद्धि किसी भी प्रकार से नहीं होती है। (१२) शिरीषपुष्पों के समान मृदुल शय्या पर रूपलावण्यसम्पन्न रमणियों के साथ निःसंकोच भाव से रमण करना ही श्रेयस्कर है। (१३) अमृत के तुल्य भोज्य और पेय पदार्थों का यथाभिलषित स्वच्छन्दभाव से आस्वादन करना ही कल्याणकारक है। वह शत्रु है, जो इसका निषेध करता है। (१४) कर्पूर, अगरु, कस्तूरी और चन्दन आदि विलास सामग्रियों से चर्चित मनुष्य को सौरभनिष्पन्न होकर अहर्निश विलासमय जीवनयापन करना उचित है। (१५) संसार में उद्यान, यान और चित्रशाला आदि जो कुछ भी दृश्य हैं, नेत्रों की तृप्ति के लिये उन्हें निरन्तर देखना ही उचित है। (१६) वेणु, वीणा और मृदंग आदि की मधुर गीतध्वनियों से अहर्निश कर्णामृत का आस्वादन करना उचित है। (१७) मनुष्य को आजीवन वैषयिक सुखोपभोग के द्वारा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही उचित है। धर्म-कार्यों के लिये चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि धर्माधर्म का फल कहीं कुछ भी नहीं है।"[५५]

आचार्य हेमचन्द्र के उपर्युक्त कथाप्रसंग से ध्वनित होता है कि चार्वाक-सम्प्रदाय की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है। मानव सभ्यता के आदिम युग में भी कुछ लोग भोगवाद विचारपरम्परा के पक्षपाती थे तथा आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं रखते

---

५५. "त्यक्त्वा यदैहिकान्भोगान् ००० धर्माधर्मफलं क्व तत्।"
—त्रिषष्टिशलाका० १।१।३२९–३४५

थे और यह नास्तिकवाद की परम्परा गुप्तरूप से इतस्ततः कोणों में ही नहीं पनप रही थी, किन्तु विराट् राजसभाओं में भी मुक्त रूप से इस लोकायत मत पर वाद-विवाद चलते रहते थे।

इस प्रकार जैन सम्प्रदाय में चार्वाकमत का उल्लेख मिलता है। जैन साहित्यों में चार्वाकमत का प्रतिपादन तो हुआ है, पर सिद्धान्तरूप से उसकी स्वींकृति नहीं है। केवल पूर्व पक्ष के रूप में उल्लेख हुआ है और तत्पश्चात् निराकरण भी किया गया है। इससे ध्वनित होता है कि जैन और तत्पूर्व युग में भी चार्वाकमतावलम्बी सम्प्रदाय की विद्यमानता थी।

बौद्ध सम्प्रदाय और भूतवाद

बौद्धदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् डाक्टर टी० आर० वी० मूर्ति नैरात्म्यवाद के प्रतिपादन में कहते हैं कि केवल बौद्ध सम्प्रदाय ही नैरात्म्यवादी नहीं है, अपितु जैन और कतिपय ब्राह्मण सम्प्रदायों ने भी बौद्धों के समान आत्मन् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया है। माधवाचार्य ने बौद्ध मत को कुछ ही अंशों में चार्वाकाभिमत जडवाद से न्यूनतर माना है। अपने सर्वदर्शन संग्रह में बौद्धदर्शन प्रकारण को परम्पराक्रम से चार्वाकदर्शन के तुरन्त पश्चात् अव्यवहित रूप में प्रतिष्ठापित किया है। आत्मवादी (सम्प्रदाय) के लिये नैरात्म्यवाद से अन्य अवांछनीय तत्त्व हो नहीं सकता और इसी नैरात्म्यवाद के कारण उदयनाचार्य ने बौद्ध मत का अनेक युक्तियों के साथ खण्डन किया है।"[५६] इस कारण से बौद्धमत को नास्तिकवर्ग में रखने में सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं होना चाहिये।

केवल परलोकास्तित्व में आस्थावान् होने के कारण एक चतुर्थांश रूप से बुद्ध की आस्तिक श्रेणी में गणना हो सकती है किन्तु नैरात्म्यवादिता, वेदाप्रामाण्य-

---

५६. "The Buddhists are not the only ones in taking their philosophy as nairātmyavāda. Jaina and Brāhmanical systems invariably characterise Buddhism as denial of the ātman, substance or soul. Mādhavācārya considers the Buddhist only slightly less objectionable than the materialist (cārvāka); in the gradation of systems he makes in his SarvadarŚana-sangraha, Bauddha-darŚana immediately follows the Cārvāka. For an ātmavādin nothing could be more pernicious than the denial of the self. Udayanācārya very significantly calls his refutation of Buddhistic Doctrines."

— C. phil. B. p. 27

वादिता और निरीश्वरवादिता के कारण तो बुद्ध तीन चतुर्थांश रूप से निःसंदेह नास्तिक श्रेणी में ही परिगणनीय हो जाते हैं। यथार्थ आस्तिकवादी सम्प्रदाय तो वही है, जिसे आत्मन् परलोक और ईश्वर के अस्तित्व तथा वैदिक प्रामाणिकता की मान्यता हो। इस परिस्थिति में बौद्ध दर्शन को नास्तिक सम्प्रदाय में स्थापित करना अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा। महापण्डित राहुल सांकीत्यायिन ने पुरातत्त्व निबन्धावली (पृ० १२१) में बुद्ध को जडवादी घोषित किया है।[५७]

बौद्ध साहित्य में बहुधा नास्तिक–प्रसंग दृष्टिगोचर होता है। रीज डेविड्स की पालिइंगलिश डिक्शनरी (पृ० १८२) में नत्थिक अर्थात् नास्तिक शब्द की पारिभाषिक व्याख्या में कहा गया है कि जो धर्म में अनास्थावान और शून्यवाद में आस्थावान् है वही नत्थिक या नास्तिक है, क्योंकि संशयवाद या शून्यवाद को ही नत्थिक दिट्ठी अभिहित किया गया है। अत एव अब वांछनीय है कि बौद्ध साहित्य के मूल स्रोत से नास्तिकता के सम्बन्ध में कुछ विवेचन हो।

पूरणकस्सप

दीघनिकाय (रोमन संस्करण २।१६-१७) में परिवर्णित पूरणकस्सप के मत पर हम दृष्टि निक्षेप करते हैं। आचार्य बुद्धघोष दीघनिकाय (१-१-२), पर सुमंगलविलासिनी नामक टीका करते हुए कहते हैं कि किसी परिवार में निन्यानवे सेवक थे और सौवीं संख्या में कस्सप की नियुक्ति हुई। सौवीं संख्या को पूर्ण करने के कारण स्वामी इसे पूरण कह कर संबोधित करते थे। कस्सप इसके कुल की उपाधि थी। अतः यह पूरण कस्सप नाम से पालि साहित्य में प्रसिद्ध है।[५८]

किसी दिन यह अपने स्वामी के घर से किसी कारण से भाग निकला। मार्ग में चोरों ने इसके सारे वस्त्र अपहरण कर लिये। इसने किसी प्रकार अपने अंगों को तृणों से आच्छादित कर किसी ग्राम में प्रवेश किया। ग्रामवासी नग्नरूप

---

५७. द्र० बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ८२२

५८. डाक्टर बरुआ के मत से ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँच जाने अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो जाने के कारण यह पूरण नाम से अभिहित होता था और उसके शिष्य विश्वास करते थे कि यह ज्ञान से परिपूर्ण था। अंगुत्तरनिकाय में इसके मतानुयायी दो लोकायतिक ब्राह्मणों का उल्लेख है।

—H. P. Phil p. 278

में देखकर और महान् साधु संन्यासी समझकर इसका आदर करने लगे। उसी समय से यह संन्यासी हो गया और पाँच सौ शिष्य दीक्षित होकर इसके मतानुयायी बन गये।

एकबार राजा अजातशत्रु पूरण कस्सप के पास गया और उसने इससे पूछा "संन्यासी होने का इस लोक में प्रत्यक्ष फल क्या है ?" इस प्रश्न के उत्तर में पूरण कस्सप ने निम्नरूप में प्रतिपादन किया—"महाराज, कर्म करने या कराने, किसी के अंग भंग करने या कराने, अन्य को कष्ट देने, जीवहिंसा करने, चोरी या डकैती करने, परस्त्री गमन और असत्यभाषण आदि कर्मों के लिये कोई पाप नहीं है। इसी प्रकार दान देना या दिलाना, यज्ञ करना या कराना और सत्यभाषण आदि कर्मों के लिये कोई पुण्य भी नहीं है।"

पूरण कस्सप के इस सिद्धान्त से कर्मवाद का सर्वथा निराकरण हो जाता है और निर्धारित होता है कि पुण्य पाप कर्मों का कोई शुभाशुभ फल भी नहीं है। इस मत को अक्रियावाद कहा जा सकता है, क्योंकि राजा ने जब यह जिज्ञासा की कि संन्यासी होने का इस लोक में प्रत्यक्ष फल क्या है और तब सिद्धान्त पक्ष से उत्तर दिया कि न तो पुण्य है और न पाप। पुण्यापुण्य कर्मों का सुखदुःखरूप फल नहीं है। अतः यह एक प्रकार से नत्थिकवाद (नास्तिकवाद) ही है। किन्तु इस अक्रिया सिद्धान्त को शीलांक का अकारकवाद मानना भ्रामक होगा शीलांक ने सूत्रकृतांग के (१।१।१३) सूत्र पर अपनी टीका में अकारकवाद को सांख्य से संबन्धित माना है। उनका यह कथन है कि अकारकवाद का सिद्धान्त सांख्य की उस दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है, जहाँ निर्देश किया गया है कि आत्मा सुकृत या दुष्कृत किसी प्रकार के कर्मों में भाग नहीं लेता है।[५९]

मक्खलिगोसाल

अब हम मक्खलिगोसाल के सिद्धान्त के विवेचन में प्रवृत्त होते हैं, पालि साहित्य में यह मंखलिपुत्त गोसाल के नाम से भी प्रसिद्ध है। मक्खलि गोसाल महावीर और बुद्ध दोनों का समसामयिक था। आचार्य बुद्धघोष का कथन है कि इस का जन्म एक गोशाला में हुआ था। कुछ बड़ा होने पर यह किसी के घर में सेवक के रूप में नियुक्त कर लिया गया। एक दिन तेल लाने के लिये पंकिल मार्ग से जा रहा था। कीचड़ में पैर फिसल न जायें इसलिये स्वामी ने इसे सावधान किया। किन्तु सावधान रहने पर भी इसके पैर फिसल ही गये और

---

५९. cf. H. I. Phil. III pp. 520 521

तब वहाँ से भागने लगा। क्रोधित होकर स्वामी इसकी धोती का छोर खींचने लगा तब धोती को स्वामी के हाथ में छोड़कर मक्खलि नंगा ही भाग गया। नग्नावस्था में रहते हुए कुछ दिनों के पश्चात् यह पूरण कस्सप के समान ही संन्यासी हो गया (सुमंगल विलासिनी, १।१४३–१४४)। भगवतीसूत्र (१५।१) के अनुसार यह मक्खलि का पुत्र था, जो मंख अर्थात् भिक्षुक के रूप में घर घर में चित्र दिखाकर आजीविका चलाता था। इसकी माता का नाम भद्दा था। इसने युवास्था में अपने पिता का ही व्यापार अपनाया था। तीस वर्ष की वयस में इसकी महावीर से भेंट हुई और दो वर्षों के पश्चात् मक्खलि उनका शिष्य बन गया। छह वर्ष इसने उनके साथ तपश्चर्या में बिताये। तत्पश्चात् इन दोनों में झगड़ा हो गया और मक्खलि दो वर्ष तपस्या कर पक्का जैन बन गया। और तब मक्खलि के जैनधर्म में दो वर्ष रहने के पश्चात् महावीर 'जिन' हुए। तत्पश्चात् मक्खलि सोलह वर्षों तक 'जिन' होने के प्रयत्न में रहा। महावीर उस अवधि के अन्तिम भाग में उससे फिर उसी सावत्थि में मिले, जहां दोनों में झगड़ा हुआ था, और गोसाल महावीर के अभिशाप से ज्वराक्रान्त होकर मर गया। महावीर भी ई० पू० ४५०–४८१ में मर गये। मक्खलि आजीवक संप्रदाय का प्रवर्तक था।[६०]

राजा ने जब पूर्व की भाँति कर्म फल के विषय में प्रश्न किया तब मक्खलि ने निम्नप्रकार से उत्तर दिया—महाराज, प्राणियों के पापकर्म के लिये कोई कारण नहीं है। जीव बिना कारण के ही पापी हो जाते हैं। पुण्य कर्म के लिये भी कोई कारण नहीं। वे बिना कारण के ही पवित्र हो जाते हैं। शक्ति, तेज, बल या पराक्रम आदि कुछ भी माननीय तत्त्व नहीं। अण्डज, पिण्डज और वनस्पति आदि कोई भी प्राणी बलवान्, वीर्यवान् या शक्तिमान् नहीं है। परिस्थिति के अनुसार ही नियति आधार पर उनकी अशेष प्रवृत्तियां होती हैं। सुख या दुःख की अनुभूति परिस्थिति के अनुसार होती है।[६१] गोसाल के मत में स्त्री-संभोग करने पर भी संन्यासी पाप का भागी नहीं होता।[६२]

मक्खलिगोसाल के उपर्युक्त प्रश्नोत्तर से अवगत होता है कि गोसाल का सिद्धान्त नास्तिक मत के समान ही है, क्योंकि इसके मत में भी पुण्यापुण्य कर्मों का कोई कारण नहीं। नियति या परिस्थिति के अनुसार सुख या दुःखादि की

---

६०. H. I. Phil. III. P. 522

६१. Dialogues p. 71

६२. H. I. Phil. III P. 524

अनुकूल या प्रतिकूल रूप में अनुभूति होती है। अतः गोसाल के नास्तिकवादी होने में सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं होना चाहिये।

अजितकेशकम्बली

पालि के त्रिपिटक साहित्य में तीर्थंकर अजितकेशकम्बली और पायासि के मत का विवरण मिलता है। ये बुद्ध के समसामयिक थे। इनके मत में "दान, यज्ञ और हवन आदि वेदविधेयक कर्मकलाप निरर्थ हैं। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का कहीं कुछ भी फल नहीं। कोई भी जीव माता-पिता के अभाव में जन्म ग्रहण नहीं कर सकता। प्राणियों के जन्म का कारण माता-पिता के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। इस प्रकार का कोई भी श्रमण भिक्षु अथवा ब्राह्मण नहीं, जो इहलोक और परलोक—उभय लोकों की व्यक्तिगत अभिज्ञता अन्य व्यक्ति को ज्ञापित करा सके। पुरुष की देह चार भूतों के योग से निर्मित होती है। जब पुरुष मर जाता है, तब पार्थिव अंश महापृथ्वी में, जलीय अंश जल में, तैजस अंश अग्नि में तथा वायवीय अंश वायु में प्रत्यावर्त्तित होकर मिल जाते हैं। उसका इन्द्रियसमूह अकाश में विलीन हो जाता है। उसके उद्देश्य से श्राद्ध, यज्ञ और दान आदि का जो अनुष्ठान किया जाता है, उसका कोई भी फल नहीं। आस्तिकवाद वृथा है। मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं। मृत्यु के पश्चात् कोई भी नहीं रहता। जन्मान्तर या परलोक, स्वर्ग या नरक आदि की बात तो मूर्खप्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[९३]

अजितकेशकम्बली का यही अपना स्वतंत्र मत था। इसके मत में प्रत्यक्ष रूप से स्वभाववाद, कामशास्त्र या अर्थशास्त्र का कोई भी योग नहीं देखा जाता है। संभवतः तत्त्वसंग्रह की पंजिका में उल्लिखित कम्बलाश्वतर और अजितकेश-कम्बली दोनों अभिन्न व्यक्ति थे, क्योंकि दोनों के मत में एकान्त सादृश्य लक्षित होता है।

संजयवेलट्ठिपुत्त

बौद्ध वाङ्मय के पालि साहित्य में संजयवेलट्ठिपुत्त के मत का विवरण उपलब्ध होता है संजय ने जगत् के आदि कारण, जगत् के अन्त कारण पूर्वजन्म अथवा जन्मान्तर और कर्मफल आदि के तत्त्वों के दार्शनिक विचार में उदासीनता का भाव प्रदर्शित किया है। संजय को संशयवादी एवं आज्ञेयवादी निर्धारित किया गया है। उसके सिद्धान्त में जो अज्ञानवाद है वही अज्ञेय और

---

९३. द्र—दी० नि० सामञ्जफल और पयासि सुत्तंत

संशयवाद है ।[६४] जिस समय जो परिदृश्यमान बाह्य जगत् के वस्तुनिचय के आदि और अन्त को जानने के लिये ज्ञान की अक्षमता को सरल भाव से स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है, उस समय वह सरल तत्त्वों को अज्ञात और अज्ञेय मान कर ही स्वीकार करता है। उस समय वह अज्ञानवादी (Agnostic) है और जिस समय वह अलौकिक विषयों के ज्ञापक प्रमाणों की अयथार्थता स्वीकार करने में इधर-उधर करता है उस समय वह संशयवादी (Sceptic) है। संजय के मत और केनोपनिषद् के ऋषिगण के मत में एकान्त साम्य अनुमित होता है, क्योंकि केनोपनिषद् में भी संशयवाद का ही प्रतिपादन हुआ है ।[६५] संशयवादी होने के कारण संजयवेलट्ठिपुत्त को नास्तिकवादी के रूप में स्वीकार करना अनौचित्यपूर्ण न होगा ।

इस प्रकार बौद्ध वाङ्मय के साहित्यों में भौतिकवादिता अथवा नास्तिक मत का प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होता है। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि बौद्ध एवं तत्पूर्व युग में भी लोकायत मतानुयायी सम्प्रदाय की विद्यमानता अवश्य और निस्सन्देह थी ।

---

६४. द्र—महावग्ग ।

६५. (क) "यदि मन्यसे.........ते मन्ये विदितम्" ।

(ख) "नाहं मन्ये सुवेदेति...न वेदेति वेद च" ।

(ग) "यस्यामतं तस्य......विज्ञातमविजानताम्" ।

—के० उ० २।१-३
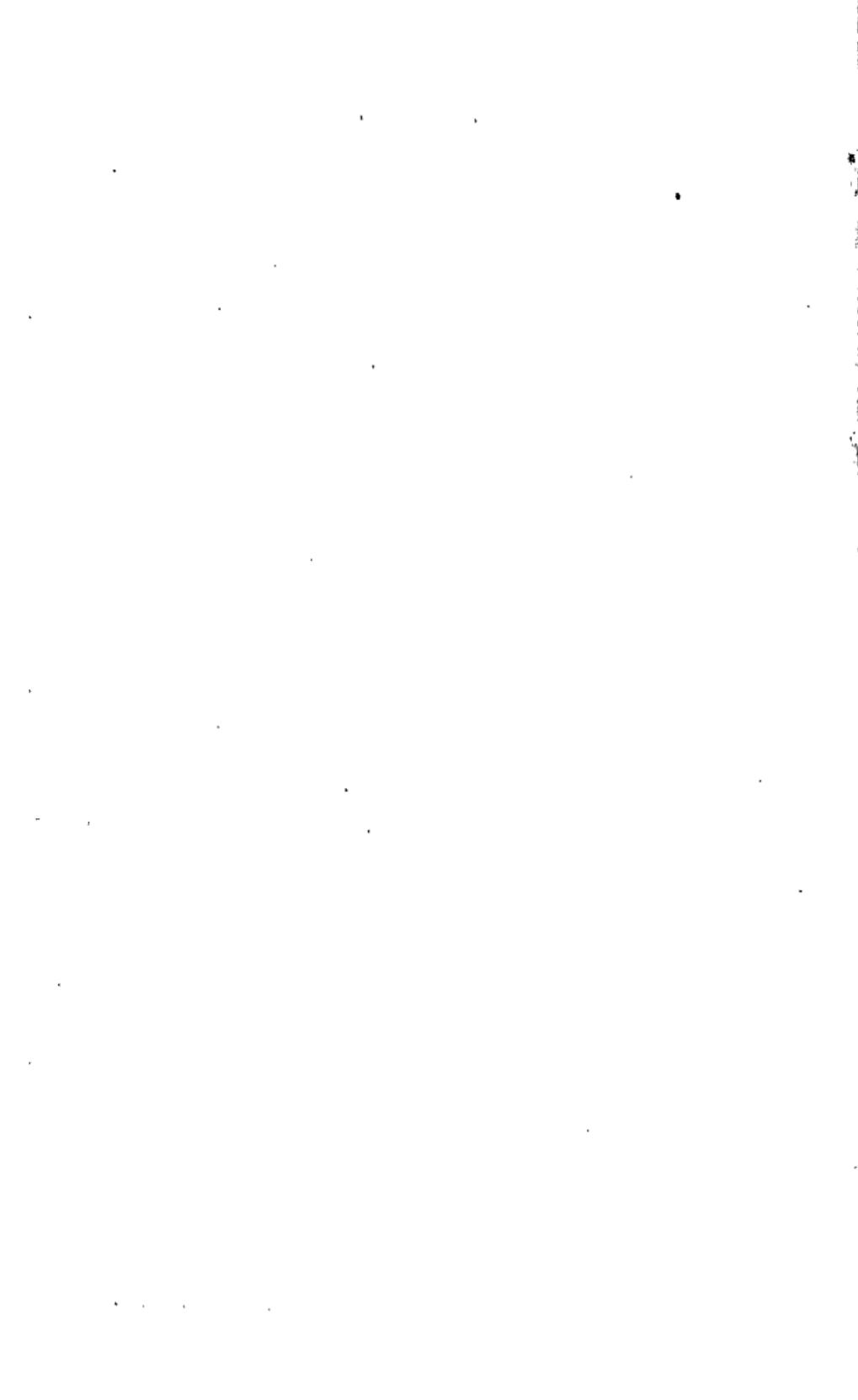
चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाकदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

दर्शन–आस्तिकनास्तिकवाद–प्रमा–प्रमाता–प्रमेय–प्रमाण–जडतत्त्ववाद–परलोक का निराकरण–अनात्मवाद–देहात्मवाद–इन्द्रियात्मवाद-मानसात्मवाद–प्राणात्मवाद–कालवाद–स्वभाववाद–नियतिवाद–यदृच्छावाद–भूतवाद–पुनर्जन्म–संशयवाद–अज्ञेयवाद–उच्छेदवाद–वेद का खण्डन–अनीश्वरवाद ।
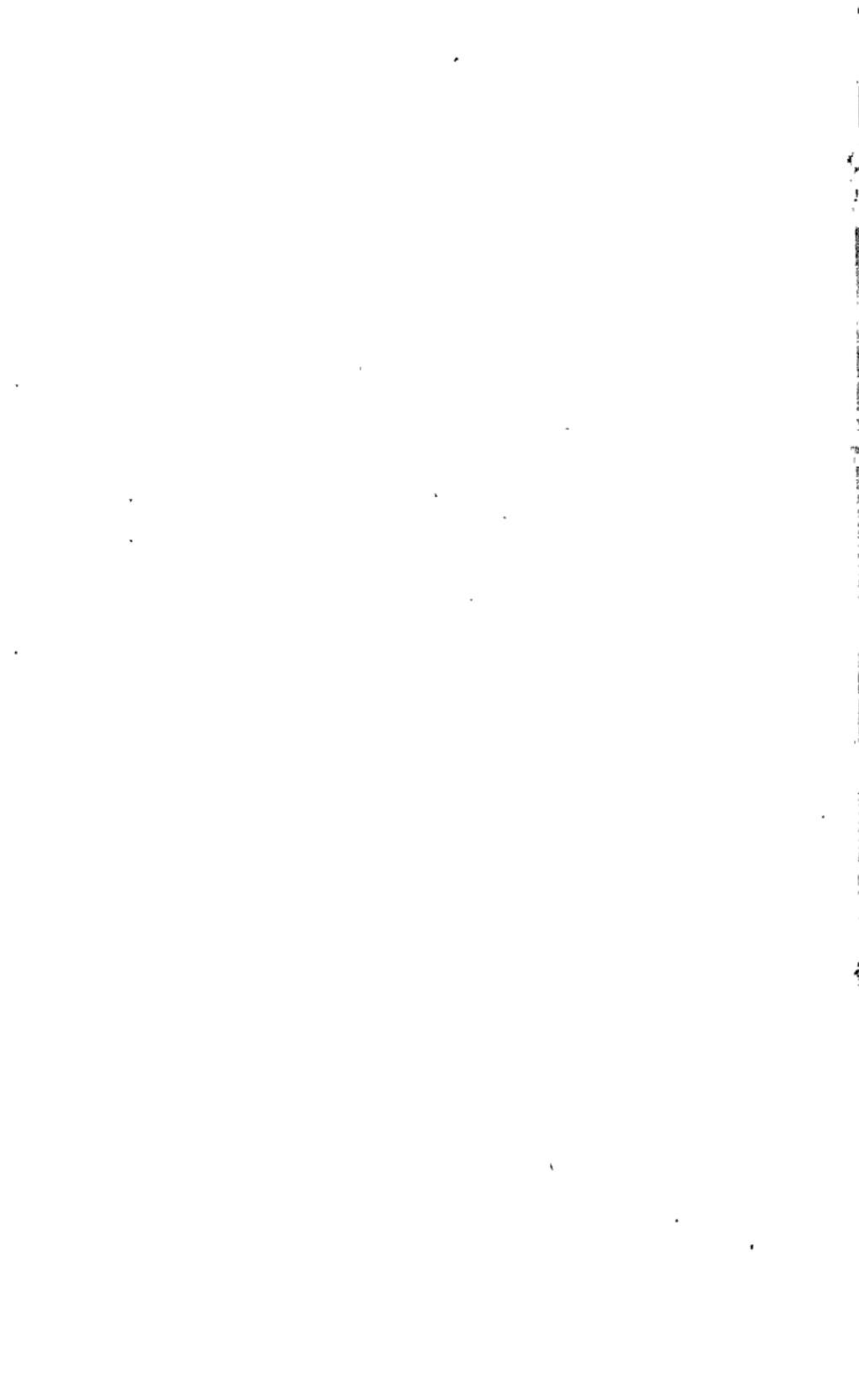
चतुर्थ परिच्छेद : सिद्धान्त

भारत वन्सुधरा में विविध दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ है। अधिक महत्त्व की बात यह है कि चिन्तन के इस क्षेत्र में सभी दार्शनिक सिद्धान्तों को समान महत्त्व दिया गया है। भौतिकवादियों ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर का निराकरण किया है। वैदिक क्रिया-कलापों को अस्वाभाविक तथा तर्क–विरुद्ध सिद्ध कर उनका घोर उपहास किया है और ब्राह्मण–पुरोहितों पर नग्न व्यंग–विनिक्षेप। परन्तु, भारत के दर्शनशास्त्रीय इतिहास में वेदबाह्य चार्वाक-दर्शन का उतना ही महत्त्व है, जितना वेदानुयायी न्यायदर्शन का। इसी प्रकार, निरीश्वरवादी सांख्य का भी वही महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो ब्रह्मवादी वेदान्त का।

दर्शन :—

भ्वादिगणीय "दृशिर् प्रेक्षणे", अर्थात् दर्शनार्थक दृश् धातु के आगे करण अर्थ में, ल्युट् प्रत्यय के योग से दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति और सिद्धि हुई है[1] इसका शाब्दिक अर्थ होता है: "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्", अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, वह दर्शन है। अब स्वाभाविक प्रश्न यह हो सकता है कि क्या देखा जाय ? इसका सैद्धान्तिक उत्तर है—तत्त्व का प्रकृत स्वरूप।

मनुष्य और पशु आदि सृष्टि के समस्त प्राणी समान रूप से अपनी जीवन्-रक्षा के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अन्तर इतना ही है कि मनुष्येत्तर प्राणी मस्तिष्क विकास की क्रमिक न्यूनता के कारण चेतनाशक्ति और बुद्धि से भी यथाक्रम विहीन रहते हैं[2]। अत एव उनका प्रयत्न भी निरुद्देश्य होता है और

---

१. "करणाधिकरणयोश्च"। —पा० व्या० ३।३।११७

२. पाश्चात्य वैज्ञानिक श्रीलल्ल के मत में सर्वप्रथम मेरुदण्डधारी केवल जलचारी मत्स्य की उत्पत्ति हुई, पश्चात् जलस्थल—उभयचारी मेढक की तत्पश्चात् केवल स्थलचारी सरीसृप की और फिर क्रमशः स्तनन्धय चमगादड़, चूहा, खरगोश आदि की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् पूर्ण पशु अश्व तथा गो जाति की और अर्धपशु वानर और अन्त में मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई। यही उत्पत्ति का क्रम है। इसे वैज्ञानिक के मत से उत्पत्ति के पौर्वापर काल-क्रम से प्राणियों के ज्ञान की मात्रा में भी अधिकाधिक विकास होता गया है। —Cf. O. E.

वे अपनी सहजातमात्र शक्ति के द्वारा परिचालित होते हैं। किन्तु मनुष्य विकसित शक्ति होने के कारण पूर्ण चेतनशक्तिसम्पन्न और बुद्धिमान प्राणी है। मनुष्य का प्रत्येक प्रयत्न सोद्देश्य होता है और वह अपने प्रयत्न में बुद्धि की सहायता ग्रहण करता है। मनुष्य अपना तथा समस्त सृष्टिका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार ही अपना जीवन-यापन करना विधेय समझता है। वह वर्त्तमान लाभ के अतिरिक्त भविष्य परिणामों के सम्बन्ध में भी सोचता है। बुद्धि की विशेषता के कारण मनुष्य प्राणी युक्तिपूर्वक प्रकृत ज्ञान प्राप्त कर सकता है और युक्ति के द्वारा तत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही "दर्शन" कहते हैं[3]।

ज्ञान प्राप्त करने के अनेक उपाय हैं, किन्तु सबसे निश्चित और विश्वसनीय उपाय है "प्रत्यक्ष"। प्रत्यक्ष भी चक्षुरूप, श्रोत्ररूप, घ्राणरूप, रसना रूप और स्पर्शरूप—इन्द्रियों के भेद से पांच प्रकार का है। इनमें चक्षुरूप इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह समस्त ज्ञानों की अपेक्षा प्रामाणिकतम और विश्वसनीयतम होता है तथा यही प्रत्यक्ष ज्ञान चार्वाक सम्प्रदाय को मान्य है।

स्मृति का कथन है—सम्यक् दर्शन प्राप्त हो जाने पर मनुष्य कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता और जिसकी सम्यक् दृष्टि नहीं है, वही संसार के जाल में फँसता है[4]। चार्वाकों की घोषणा है—परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतएव, सुकृत और दुष्कृत कर्मों का कोई फल भी नहीं। स्वर्ग-नरक की भावना को छोड़कर, सुखमय जीवन व्यतीत करना ही श्रेयस्कर है। अवश्यम्भावी मृत्यु के पश्चात् भस्मीभूत शरीर का पुनरागमन होना नहीं है[5]।

आस्तिकनास्तिकवाद :—

चार्वाक-दर्शन के अवैदिक तथा जडवादी होने के कारण उसके अनेक प्रमुख सिद्धान्तों में साधारणतम है—नास्तिकवाद। अतएव, इस शब्द का पारिभाषिक

डा० पार्कर और डा० हास्वेल ने भी बताया है कि मनुष्य और इसके क्रमिक पूर्वज वानर, अश्व, खरगोश, चूहा, चमगादड़, सरीसृप, मेढक और मत्स्य आदि प्राणियों में उत्पत्ति क्रमानुसार मस्तिष्क-विकास में न्यूनाधिकता होती आई है। मनुष्य सर्वाधिक चेतनशक्तिसम्पन्न तथा बुद्धिमान् प्राणी है। —Cf. T. z.

३. द्र—चट्टदत्त० भा० १

४. "सम्यक् दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्ननिबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते"। —मनु० ६।७४

५. "यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः"॥ —स० द० सं० १।१७-१८

और दार्शनिक विवेचन करना उचित होगा। दार्शनिक चिन्तन-परम्परा में "आस्तिक" और "नास्तिक" इन दो शब्दों के प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं, क्योंकि भारतीय दर्शन आस्तिक और नास्तिक इन्हीं दो वर्गों में विभक्त हैं। चिन्तन–क्रम के प्रत्येक युग में अन्य विचारणीय विषयों के साथ प्रधान या गौण रूप में इन आस्तिक और नास्तिक शब्दों का विवेचन दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत–साहित्य के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चिन्तन प्रणालियों में खण्डन-मण्डन के उद्देश्य से आस्तिक-नास्तिक शब्द सदा से विचार-विमर्श के मुख्य विषय रहे हैं।

प्राचीन काल में "आस्तिक" अथवा "नास्तिक" का शब्दार्थ ईश, ईशान, ईश्वर, महेश्वर या परमेश्वर को मानने या न माननेपर निर्भर नहीं था। परमात्मा के अर्थ में तो इन ईश्वरादि शब्दों का प्रयोग इधर की कुछ शतियों से होने लगा है। पाणिनि और पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के युग में इन शब्दों का प्रयोग स्वामी, राजा अथवा किसी विशिष्ट देवता के अर्थ में होता था।

पाणिनि ने निम्नलिखित कतिपय सूत्रों के उदाहरणप्रसंग में ईश्वर शब्द का प्रयोग स्वामी के अर्थ में किया है। यथा—

"अधिरीश्वरे[६]"
"यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी[७]"
"स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च[८]"
"ईश्वरे तोसुन्कसुनौ[९]"
"तस्येश्वरः[१०]"

इत्यादि सूत्रों के अर्थविवेचन और उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर शब्द का प्रयोग यहाँ राजा अथवा समर्थ पुरुषों के अर्थ में हुआ है। व्याकरण के महाभाष्यकार पतञ्जलि की पंक्ति में भी ईश्वर शब्द का प्रयोग राजा के ही अर्थ में प्रतीत होता है। यथा—

'तद्यथा लोक ईश्वर आज्ञापयति ग्रामादस्मान्मनुष्या आनीयन्तामिति'[११]

अर्थात् राजा आज्ञा देता है कि इस ग्राम से मनुष्यों को ले आओ। यह प्रयोग स्पष्ट रूप से राजा को ही लक्ष्य करता है। अमरसिंह ने ईश, महेश्वर,

---

६. पा० व्या० १।४।९७
७. Ibid २।३।९
८. Ibid २।३।३९
९. Ibid ३।४।१३
१०. Ibid ५।१।४२
११. व्या० म० ६।१।२

ईश्वर और ईशान शब्दों को एक विशिष्ट देवता—शङ्कर के पर्यायरूप में प्रयोग किया है।[१२] महाकवि कालिदास ने ग्रन्थ के प्रारंभ में मङ्गलाचरण रूप से परमेश्वर शब्द का प्रयोग पार्वती के पति शिव के अर्थ में किया है।[१३] पौराणिक युग में भी ईश्वरादि शब्दों का प्रयोगबाहुल्य शिव और विष्णु आदि देवताओं के ही अर्थ में होता था[१४]।

श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषद् में ईश्वर शब्द का प्रयोग कभी राजा के अर्थ में और कभी परमात्मा के अर्थ में उपलब्ध होता है। यथा—

"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।"[१५]

इस श्लोक में "ईश्वर" का प्रयोग राजा के अर्थ में हुआ है और पुनः अन्य स्थल पर "ईश्वर" का प्रयोग परमात्मा के अर्थ में हुआ है। यथा—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥"[१६]

उपनिषद् में "ईश्वर" का प्रयोग राजा के अर्थ में न होकर परमात्मा के अर्थ में हुआ है। यथा—

"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥"[१७]

अर्थात् प्रकृति को माया और महेश्वर को मायावी जानना चाहिये। उसी के अवयवीभूत (कार्यकारणसंघात) से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यहाँ पर महेश्वर शब्द पूर्ण परमात्मा के पर्यायवाचक के रूप में हुआ है। उपर्युक्त सोदाहरण उद्धरणों से यह स्पष्टीकरण होता है कि अदादिगणीय ऐश्वर्यार्थक "ईश्" धातु से व्युत्पन्न ईश्वर और महेश्वर आदि शब्द परमात्मा के अर्थवाचक होने के साथ-साथ स्वामी अथवा राजा आदि के अर्थ में भी प्रयुक्त होते थे और आज भी होते हैं।

---

१२ cf. अमरकोष १।१।३२

१३ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ —रघुवंश १।१

१४. द्र० शिव, विष्णु और मत्स्यादि पु०

१५. गीता० १६।१४

१६. Ibid १८।६१

१७. श्वे० उ० ४।१०

आस्तिक नास्तिक

अब आवश्यक प्रतीत होता है कि आस्तिक और नास्तिक इन दो दर्शन शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का थोड़ा शास्त्रीय विवेचन कर लिया जाय। व्याकरण शास्त्र में "आस्तिक-नास्तिक" का प्रतिपादक एक सूत्र है—

"अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः।"[१८]

अर्थात् अस्ति (है) ऐसी है मति जिसकी वह "आस्तिक" है और तद्विपरीत नास्ति (नहीं है) ऐसी है मति जिसकी वह "नास्तिक" इस सूत्र के वृत्तिकार का कथन है—"अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः।" अर्थात् परलोक है—ऐसी है मति जिसकी वह "आस्तिक" और "नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।" अर्थात् परलोक नहीं है—ऐसी है मति जिसकी वह "नास्तिक" है। यह अर्थ कदापि नहीं होता कि जो ईश्वर की सत्ता को मानता है वह "आस्तिक" और जो ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता है वह "नास्तिक"। यही अर्थ वैदिक युग में साधारणतः प्रचलित था। अब यहाँ स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि सूत्रार्थ में "परलोक" शब्द का आगमन कहाँ से हुआ? पाणिनि के "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः"—इस मूल सूत्र में तो "परलोक" शब्द का उल्लेख नहीं है? इस पर काशिकाकार का उत्तर है—"तदेतदभिधानशक्तिस्वभावाल्लभ्यते", अर्थात् अभिधानशक्ति-स्वभाव से इसको उपलब्ध किया जाता है। यास्क ने भी परलोक की सत्ता में अविश्वासी 'प्रमदक' नास्तिक की चर्चा की है।[१९]

उपर्युक्त आलोचनाओं से अवगत होता है कि पाणिनि सम्प्रदाय के मत से—परलोक है, यह मति है जिसकी, वह "आस्तिक" है और परलोक नहीं है, यह मति है जिसकी, वह "नास्तिक"। इस पर पुनः यह प्रश्न उठ सकता है कि जैन और बौद्ध सम्प्रदायों को नास्तिक क्यों माना गया? इनके सिद्धान्तों में पूर्वजन्म की बड़ी मर्यादा है। स्वयं महावीर और बुद्ध ने अपने अनेक पूर्वजन्मों की घटनाओं का वर्णन किया है।[२०]

उपनिषद् के एक स्थल पर नचिकेता और यम के परस्पर वार्तालाप की प्रासंगिक कथा से अवगत होता है कि वहां भी परलोक और आत्मा के

---

१८. पा० व्या० ४।४।६०

१९. "प्रमदको वा योऽयमेवास्ति लोको न पर इति प्रेप्सुः"

—निरुक्त ६।३२।१

२०. द्र० ललितविस्तरबोधिचर्यावतार आदि।

अस्तित्व में कुछ संशय की झलक अवश्य है। क्योंकि, यम से तृतीय वर मांगने के समय नचिकेता यम से कहता है : मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् जो यह सन्देह होता है—कोई तो कहते हैं, (परलोकगामी आत्मा) रहता है और कोई कहते हैं. नहीं रहता। (हे यमराज) आप के द्वारा अनुशासित होकर (मैं) यह जान सकूं, (कि इन दो पक्षों में कौन-सा एक पक्ष ठीक है) मेरे वरों में से यह तृतीय वर है।[२१]

नचिकेता के अभिप्रेत आत्मा के सम्बन्ध में जो "अस्ति", अर्थात् "है" कहता है, वह आस्तिक है. और जो "नास्ति", अर्थात् "नहीं है" कहता है, वह नास्तिक है। सम्भवतः काशिकाकार को यही कथन अभीष्ट होगा।

स्मृति युग में आस्तिक और नास्तिक सिद्धान्तों का निर्णयन वेद की मान्यता और अमान्यता पर निर्भरित हो गया। तदनुसार मनु ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है।[२२] स्मृति में परलोक की मान्यता अथवा अमान्यता के कारण आस्तिकता अथवा नास्तिकता का विश्लेषण कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। महाभारतकार ने नास्तिकता के परिभाषण में कुछ अन्य ही विवरण दिया है।[२३]

ऊपर की परिस्थितियों के आधार पर दर्शन सिद्धान्तों के आविष्कर्ता दार्शनिकों के मतानुसार ईश्वर को मानने वाले को आस्तिक और न मानने वाले को नास्तिक कहना कदापि युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। कणाद ने वैशेषिक दर्शन में, कपिल ने सांख्य दर्शन में और जैमिनि ने मीमांसा दर्शन में "ईश्वर" शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। न्यायदर्शन के प्रणेता गौतम ने[२४] और योगदर्शन के प्रवर्त्तक पतञ्जलि ने[२५] ईश्वर शब्द का आनुषङ्गिक प्रसङ्ग

---

२१. "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः" ॥
—क० उ० १।१।२०

२२. "योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥" —मनु० २।११

२३. प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥" —शान्ति० १२३।१६

२४. "ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।' —न्या० द० ४।१।१९

२५. "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।"
—यो० द० १।२४

उपस्थित किया है। वस्तुतः अभावुक दृष्टिकोण से विचार करने पर दार्शनिक सिद्धान्तों में ईश्वर कुछ आवश्यक पदार्थ प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कतिपय दार्शनिकों ने सर्वोत्कृष्ट पद अर्थात् मुक्ति प्राप्ति के साधनों में भी मुख्य रूप से ईश्वर का प्रयोजन स्वीकार नहीं किया है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने छः पदार्थों के ज्ञान से मुक्तिमार्ग का निर्देश किया है।[२६] न्यायशास्त्र के प्रणेता गौतम ने सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति प्रतिपादित की है।[२७] कपिल ने प्रकृति-पुरुष के ज्ञान को मुक्तिप्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया है।[२८] पतञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध आदि क्रियाओं को मुक्ति का उपाय कहा है।[२९] जैमिनि ने धर्मानुष्ठान को हीं मुक्ति का मार्ग घोषित किया है।[३०] इन दार्शनिकों के मूल सिद्धान्तों में कहीं भी यथार्थ रूप में ईश्वर का उपयोग ध्वनित नहीं होता। हाँ, आगे चल कर कतिपय भाष्यकारों ने वैशेषिक और न्याय दर्शनों में प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर का प्रवेश करा दिया है, किन्तु सांख्य और मीमांसा दर्शनों में आगे चल कर भी किसी भाष्यकार या टीकाकार ने ईश्वर का नामोल्लेख तक नहीं किया।

हरिभद्र सूरि ने पूर्वमीमांसा दर्शन को निरीश्वरवादी घोषित करते हुए ओजस्वी शब्दों में कहा है—"जैमिनिमतावलम्बी मीमांसकों का प्रतिपादन है कि सर्वज्ञ आदि विशेषणों से युक्त कोई देव अर्थात् ईश्वर तो है नहीं, जिसके वचन को प्रमाण माना जाय।[३१]

---

२६. "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।"
—वै० द० १।१।४

२७. "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।
—न्या० द० १।१।१

२८. दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥ —सांख्यकारिका २

२९. "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।" —यो० द० १।२-३

३०. "स हि निःश्रेयसेन पुरुषं युनक्तीति।" —मी० द० शा० १।१।१

३१. "जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः।
देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवेत्।"
—ष. द. स. मीमांसा प्रकरण

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट रूप से अवगत हो जाता है कि प्राचीन काल में आस्तिकता और नास्तिकता की परिभाषा ईश्वर की मन्तव्यता और अमन्तव्यता नहीं थी। परलोक की सत्ता में विश्वास अथवा अविश्वास के कारण आस्तिक अथवा नास्तिक शब्दों का प्रयोग होता था। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त पाणिनिसूत्र (४।४।६०) की व्याख्या और कठोपनिषद् में परिवर्णित नचिकेता की कथा के प्रमाण से स्पष्टीकरण हो जाता है।

आजकल दार्शनिक परिभाषा के अनुसार सद्वादी को आस्तिक और असद्वादी को नास्तिक नामों से अभिहित करने की परिपाटी प्रचलित हो गई है। उपर्युक्त पाणिनिसूत्र (४।४।६०) के केवल मूल अर्थ पर विचार किया जाये, तो अर्थ यह होगा कि जो "अस्ति" अर्थात् सद्भाव को माने उसे आस्तिक और तद्विपरीत जो "नास्ति" अर्थात् असद्भाव को माने उसे नास्तिक नाम से अभिहित किया जाना उचित है।

एक वैदिक ऋषि का मत है कि आरम्भ में यह (दृश्यमान सृष्टतत्त्व) एक मात्र अद्वितीय सत् रूप में था। उसी के विषय में कुछ अन्य व्यक्तियों ने यह भी कहा कि आरम्भ में यह (दृश्यमान तत्त्व) एक मात्र अद्वितीय असत् रूप में ही था। उस असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।[३२]

अन्य एक वैदिक ऋषि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि आरम्भ में यह दृश्यमान (सृष्ट तत्त्व) असत् ही था। उसी से सत् की उत्पत्ति हुई।[३३]

उपर्युक्त उल्लेख में असत् से सत् की उत्पत्ति का निर्देश है—यह सिद्धान्त भौतिकवादी नास्तिकों को भी मान्य है, क्योंकि उनके मत में भी जगत् की उत्पत्ति असत् से ही हुई है। इस परिस्थिति में परस्पर विरोधार्थक समस्या उपस्थित हो जाती है कि जब आस्तिक और नास्तिक दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में एक ही तत्त्व की मान्यता है तब इन दो सम्प्रदायों में अन्तर ही क्या ?

इसके समाधान में सत् और असत् के शब्दार्थों की विभिन्नता उपस्थित की जा सकती है। शंकराचार्य ने असत् का अर्थ "अव्याकृत ब्रह्म" किया है और "सत्" का अर्थ "नामरूपात्मक व्यक्त तत्त्व"। यही अर्थ आस्तिक सम्प्रदाय

---

३२. "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत"
—छा० उ० ६।२।१

३३. "असद्वा इदमग्र आसीत्।

में स्वीकृत है। किन्तु चार्वाकवाद में "असत्" का अर्थ "जड" और "सत्" का अर्थ "चैतन्य" माना गया है और तदनुसार जडरूप भूतचतुष्टय के योग से चैतन्योत्पत्तिरूप सिद्धान्त की निष्पत्ति होती है। दुर्गासप्तशती की प्रसिद्ध टीका में नागोजि भट्ट ने असत् का अर्थ जड और सत् का अर्थ चैतन्य ही किया है,[३४] जिसकी चरितार्थता चार्वाक मत में होती है।

उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने भी आस्तिक तथा नास्तिक शब्दों का ऐसा ही अर्थ किया है। शंकराचार्य ने नास्तिक तथा वैनाशिक आदि नामों से बौद्धों को ही संबोधित किया है, क्योंकि केवल बौद्ध ही उत्पत्ति से पूर्व जगत् का अभाव मानते हैं। यथा—एक वैनाशिक (बौद्ध) वस्तु का निरूपण करते हुए कहते हैं : "उत्पत्ति के पूर्व आरम्भ में यह जगत् एक अद्वितीय असत्, अर्थात् सत् का अभावमात्र ही था"। बौद्ध उत्पत्ति के पूर्व अभाव-मात्र को ही तत्त्व मानते हैं।[३५] किन्तु, अमरसिंह (वि० प्रथम शती) ने बुद्ध के अट्ठारह नामों में एक नाम "अद्वयवादी" भी लिखा है।[३६] इससे विदित होता है कि बौद्ध भी एक प्रकार के "अद्वय" अर्थात् "अद्वैतवादी" ही हैं। भेद इतना ही है कि वेद नहीं मानने के कारण स्मृतिकालीन नियमानुसार वे नास्तिक अवश्य सिद्ध होते हैं।

ऊपर के सर्वाङ्गीण समीक्षण के निष्कर्ष में आस्तिक-नास्तिक शब्दों के परिभाषिक और दार्शनिक अर्थ-निर्णय के लिए चार प्रकार के विचार मिलते हैं :

(१) वेदकालीन सर्वसाधारण जनता में प्रसिद्ध अर्थ—परलोक के अस्तित्व में विश्वासी "आस्तिक" और तद्विपरीत परलोक के अस्तित्व में अविश्वासी "नास्तिक" था। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में आस्तिकता तथा नास्तिकता के लिए ईश्वर की मान्यता तथा अमान्यता की बात नहीं थी।

ततो वै सदजायत" —तै० उ० २।७।१

३४. "सत् ब्रह्मवर्गः असत् जडवर्गः" —दु० स० १।६२

३५. "एके वैनाशिका आहुर्वस्तु निरूपयन्तोऽसत्सदभावमात्रं प्रागुत्पत्तेरिदं जगदेकमेवाग्रेऽद्वितीयमासीदिति । सद्भावमात्रं हि प्रागुत्पत्तेस्तत्त्वं कल्पयन्ति बौद्धाः।" —छा० उ० शा० ६।२।१

३६. "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता मुनिः॥ —अमरकोष, १।१।१३-१४

(२) दार्शनिक दृष्टिकोण से जो जगत् का कारण "सत्" अर्थात् भाव को मानता है, वह "आस्तिक" और जो जगत् का कारण "असत्", अर्थात् अभाव को मानता है, वह "नास्तिक", अर्थात् अभाववादी वैनाशिक कहा जाता है।

(३) स्मृतिकालीन विचारधारा के अनुसार जो वेद को मानता है, वह "आस्तिक" और जो वेद को नहीं मानता है, वह नास्तिक पद वाच्य है।

(४) कुछ आधुनिक मनीषियों के मत में जो ईश्वर या परमेश्वर की सत्ता में विश्वास करता है, वह "आस्तिक" और जो उसकी सत्ता में विश्वास नहीं करता है, वह "नास्तिक" है। बौद्ध और जैन आदि सम्प्रदाय ईश्वर के अस्तित्व तथा वेद में विश्वास नहीं रखने के कारण नास्तिक अभिहित होते हैं। लोकायतिक अथवा चार्वाक सम्प्रदायी परलोकगामी आत्मा की सत्ता, वेद की प्रामाणिकता और ईश्वर के अस्तित्व—इन तीन सिद्धान्तों में किसी को नहीं स्वीकार करते, इस कारण वे पूर्ण नास्तिक के नाम से आहूत होते हैं। सांख्य और पूर्व-मीमांसा (कर्मप्रतिपादिका)—ये दोनों दर्शन भी निरीश्वरवादी के रूप में परिगणित है। यदि निरीश्वरवादी होने के ही कारण कोई सम्प्रदाय नास्तिकवादी कहा जा सकता है, तब तो वेदवादी मीमांसादर्शन के भी नास्तिकसम्प्रदायी होने की आशंका उपस्थित हो सकती है।[३७] कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट रूप में घोषित किया है : "कर्ममीमांसा प्रायः निरीश्वर नास्तिकवाद में ही परिणत हो गई है। मैं उसे सेश्वर (ईश्वरवादी) के रूप में प्रतिपन्न कर आस्तिकगोष्ठी में अन्तर्भुक्त करने के लिए ही इस ग्रन्थ के प्रणयन में सयत्न हुआ हूँ।[३८]

परवर्ती काल में आस्तिक और नास्तिक के पूर्वोक्त लक्षणों का अतिक्रमण कर केवल विद्वेषवश एक सम्प्रदाय अन्य सम्प्रदाय को "नास्तिक" कहकर निन्दा करने लगा।

---

३७. डा० सम्पूर्णानन्द का कथन है—"प्राचीन व्यवहार के अनुसार वेद को प्रामाणिक न मानने का नाम नास्तिकता है। इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने वाले इस्लाम और ईसाई धर्म नास्तिक हैं और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करने वाला भी सांख्य मत आस्तिक है"। —विश्वधर्मप्रवर्तक भूमिका, पृ० ३

३८. "प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे नेतुमयं यत्नः कृतो यथा" ॥
—श्लोकवार्तिक प्रतिज्ञासूत्रम् १०

इस प्रकार, वैदिक युग से प्रारम्भ कर आधुनिक युगपर्यन्त आस्तिक-नास्तिक शब्दों की संक्षिप्त समीक्षा दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अनन्त संस्कृतवाङ्मय के द्वारा सिद्ध होती है।

चार्वाकमत प्रत्यक्षमात्र प्रमाण, जडतत्त्व, परलोकनिरसन, अनात्म, संशय, उच्छेद, अवैदिक, अनीश्वर आदि प्रमुख वादों पर आधृत है और ये ही वाद इस सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से अभिमत हैं। इनमें भी प्रत्यक्षप्रमाण को मुख्यतम सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत किया गया है। अतएव, सर्वप्रथम प्रमाण का सामान्य विवेचन ही औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है और प्रमाणविवेचन के पूर्व प्रमा, प्रमाता और प्रमेय-इन तीन पारिभाषिक शब्दों का समीक्षण कर लेना भी उपयुक्त हो जाता है, क्योंकि प्रमा, प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—ये शब्द परस्पर में अवबोधसापेक्ष हैं। प्रत्येक का अर्थाविबोध प्रत्येक के साथ सम्बद्ध है। एक की अवगति के विना अन्य की अवगति सुगम नहीं। अतएव, सर्वप्रथम "प्रमा" का विवेचन प्रयोजनीय है।

प्रमा

प्रमा का अर्थ होता है—"वस्तु का यथार्थ ज्ञान[३९], अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही समझना या जानना "प्रमा" है। जैसे किसी के सामने एक विशाल वालुकामय क्षेत्र है और वह उसे ठीक बालुकामय ही समझ रहा है, तब तो उसका ऐसा अनुभव यथार्थ ज्ञान अथवा "प्रमा" कहा जायगा। इसके विपरीत, यदि वह उस बालुकामय क्षेत्र को जलमय समझ बैठता है, तो उसका ऐसा समझना अयथार्थ ज्ञान अथवा "अप्रमा" कहा जायगा। "रज्जु" के स्थान में "सर्प" का तथा "सीप" के स्थान में "रजत" का भान होना "अप्रमा" है।

प्रमाता

प्रमाता का अर्थ होता है "ज्ञाता" और ज्ञान की क्रिया किसी प्राणी अथवा व्यक्तिविशेष में होती है। अतएव, ज्ञान की संज्ञा ज्ञातृसापेक्ष है, क्योंकि विना ज्ञाता के ज्ञान नहीं हो सकता : अतएव, ज्ञाता ही ज्ञानविशेष का आधार होने के कारण "प्रमाता" कहलाता है।[४०]

---

३९. "यदर्थविज्ञानं सा प्रमा" और "निर्विकल्पज्ञानं तु प्रमा अप्रमा एतद्-बहिर्भूतमेव"। —न्या० को०, पृ० ५५१

४० (क) "यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः सः" (प्रमाता)

(ख) "प्रमातृत्वं च प्रमासमवायित्वम्" —न्या० को० ५५७

प्रमेय

प्रमेय ज्ञान किसी भी घट, पट आदि विषयों का होता है। निर्विषयक अर्थात् विषयातीत ज्ञान संभव नहीं। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है, अर्थात् जो विषय अपने यथार्थ रूप में उपलब्ध होता, वह "प्रमेय" कहलाता है।[४१]

प्रमाण

शास्त्रकार ने "प्रमा" के करण, अर्थात् साधन को प्रमाण बतलाया है,[४२] और करण वह वस्तु है, जो क्रिया की सिद्धि में सबसे अधिक और निकटतम सहायक हो।[४३] यथा : "बाणेन मृगो हतः", अर्थात् बाण से हरिण मारा गया, यहां हरिण को मारने में धनुष, बाण, प्रत्यंचा आदि अनेक साधनों में सर्वोत्कृष्ट तथा सबसे अधिक समीपवर्ती साधन होने के कारण बाण ही करण-पदवाच्य है। वात्स्यायन का कथन है : "जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है, वह प्रमाण कहलाता है।[४४] उदयनाचार्य का कथन है : ज्ञाता और विषयज्ञान के मध्य में संबंधस्थापक साधन तो प्रमाण ही है।[४५] प्रमाणों की संख्या आठ मानी गई है।[४६] लोकायत सम्प्रदाय में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण की मान्यता है और यथार्थतः सर्वाधिक विश्वसनीय प्रमाण तो एकमात्र प्रत्यक्ष ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रतिपादन में गौतम और गंगेश आदि प्राचीन और नवीन नैयायिकों के मत के अनुसार जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न

---

४१. "योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्"
—न्या० द० प्रस्तावना १।१।१ और Vide ज्ञा० भा० प० ११८४
"यथा घटपटादि सर्वं जगत्प्रमेयम्" —न्या० को० ५६८

४२. "प्रमायाः करणं प्रमाणम्" —न्या० को० ५५३

४३. "साधकतमं करणम्" —पा० व्या० १।४।४२

४४. प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् (प्रमाणम्) —न्या० को० ५५३

४५. "मितिः सम्यकपरिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते॥"
—Vide ज्ञा० भा० प० ११२५

४६. Vide चट्टदत्त० भा० ३५

हो, जिस ज्ञान की उत्पत्ति में शब्द का उपयोग न हो तथा जो भ्रमरहित और निश्चयात्मक हो, वही प्रत्यक्ष है।[४७] नवीन नैयायिकों ने इस लक्षण को संक्षेप में इतना ही कह दिया है कि "इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है"। गंगेश ने प्रत्यक्ष का एक नया ही लक्षण किया है कि वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, जिसमें कोई दूसरा ज्ञान करण या साधन के रूप में अपेक्षित नहीं हो (ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्)। इसके अनुसार प्रत्यक्ष ही केवल ऐसा ज्ञान है, जिसमें दूसरे ज्ञान की करण या साधन के रूप में अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि अनुमिति में व्याप्ति ज्ञान, उपमिति में सादृश्य-ज्ञान, शाब्दबोध में पदज्ञान तथा स्मृति में अनुभव—ये करण के रूप में प्रयोजनीय होते हैं। यह स्पष्ट ही है कि यह लक्षण प्रमाण और प्रमा में भेद किये बिना ही किया गया है और यदि भेद किया जाय तो इन्हें प्रत्यक्ष प्रमा का ही लक्षण कहना उचित होगा। उपनिषद् के ऋषि का भी प्रतिपादन है : "अक्षि के द्वारा गृहीत विषय ही सर्वथा विश्वसनीय और सच्चा होता है और अक्षि ही एकमात्र पक्का आधार है।[४८] कृष्णमिश्र ने भी अपने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकार किया है।

आचार्य वात्स्यायन का कथन है कि प्रत्यक्षेतर अनुमान आदि प्रमाणों के आधार पर किसी वस्तु का संशयात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, किन्तु उस प्रकृत वस्तु का साक्षात्कार नहीं हो सकता। जैसे, किसी विश्वसनीय व्यक्ति ने कहा : "पर्वत पर अग्नि है"। इस कथन से हम जान गये कि वहां (पर्वत पर) अग्नि है।

यह शब्द-प्रमाण हुआ, किन्तु अब इच्छा होती है कि अग्नि के होने का लक्षण भी दृष्टि में आता तो अच्छा होता। तत्पश्चात् देखा कि पर्वत पर धुआँ उठ रहा है। यह अनुमान प्रमाण हुआ। किन्तु, अब भी प्रकृत वस्तु, (अग्नि) के साथ हमारा सम्पर्क नहीं हुआ, वह अभी हमसे परोक्ष ही है। अतएव, उसके विषय में विश्वास होने पर भी हमारे मन में दिदृक्षा बनी हुई है। परन्तु, एक बार जब हम अपनी आंखों से पर्वत पर अग्नि को देख लेते हैं, तब फिर किसी बात की अपेक्षा नहीं रह जाती। शंका या तर्क-बितर्क के लिए अन्तःकरण में कोई स्थान नहीं रहता। जिस प्रकार सूर्यप्रकाश में किसी अन्य प्रकाश की प्रयोजनीयता नहीं होती, उसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन हो जाने पर किसी और वस्तु की जिज्ञासा या दिदृक्षा शेष नहीं रह जाती।[४९]

४७. "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" —न्या० द० १।१।४

४८. cf. बृ० उ० ५।१४।४ और ६।१।२

४९. "जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिंगदर्शनेनापि बुभुत्सते।

अतएव, प्रत्यक्ष निर्विवाद और निरपेक्ष सिद्ध होता है। यह प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करता, अन्यान्य प्रमाण भले ही प्रत्यक्षसापेक्ष हो सकते हैं। नैयायिक लोग व्याप्ति का सम्बन्ध स्वीकार कर अनुमान का प्रामाण्य मानते हैं। इनके मत में जितने धूमवान् पदार्थ हैं, वे सभी वह्निमान् हैं। यथा पर्वत धूमवान् है, अतएव पर्वत वह्निमान् है। यहां व्याप्ति का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। व्याप्ति का अर्थ है दो वस्तुओं का नियत साहचर्य, अर्थात् एक के साथ अन्य की निरन्तर विद्यमानता।[५०] इस व्याप्ति सम्बन्ध को मानकर नैयायिक धूम के दर्शनानन्तर ही तद्गत वह्नि की व्यापकता को स्वीकार करते हुए अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं।

चार्वाक अनुमान की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इनके मत से अनुमान में निश्चयात्मक ज्ञान का अभाव रहता है। अनुमान तभी युक्तिपूर्ण और निश्चयात्मक हो सकता है, जब व्याप्ति-वाक्य सर्वतोभावेन निःसन्देह हो और यह तभी सम्भव है जब त्रिकालव्यापी विश्व के अशेष धूमवान् पदार्थों में वह्नि की व्यापकता या विद्यमानता की सर्वथा प्रत्यक्ष परीक्षा कर ली जाय।

किन्तु, यह सम्भव कहां ? त्रिकाल की तो बात ही क्या, वर्तमानकाल-व्यापी जगत् के भिन्न-भिन्न भागों में जितने धूमवान् पदार्थ हैं, उतने को भी देखना असम्भव है। इस परिस्थिति में धूमरूप लिंग को देखकर वह्निरूप लिंगी की व्याप्ति मान लेना औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

चार्वाकदर्शन-प्रकरण के व्याप्ति-प्रसंग में आचार्य माधव का कथन है—"व्याप्ति का अर्थ है, दोनों प्रकार की उपाधियों (शंकित और निश्चित) से रहित सम्बन्ध। वह अपनी सत्ता से चक्षु आदि के समान (अनुमान का) अंग नहीं बन सकता, किन्तु इसके ज्ञान से ही (अनुमान) सम्भव है। प्रत्यक्ष तो व्याप्ति के ज्ञान का उपाय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के दो ही प्रकार हो सकते हैं—बाह्य अथवा आन्तर। बाह्य प्रत्यक्ष से (व्याप्ति-ज्ञान) असम्भव है, क्योंकि वह अपने से सम्बद्ध (बाह्य) विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न कराता है। अतएव वर्तमान काल के विषय में सम्भव होने पर भी भूत और भविष्यत् के विषय में वह असम्भव हो जाएगा, जिससे समस्त वस्तुओं का निष्कर्ष निकालने वाली व्याप्ति दुर्ज्ञेय हो जायगी। सामान्य धर्मों को देखकर व्याप्ति का ज्ञान

लिंगदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो विद्यते। उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्त्तते।" — Vide ज्ञा० भा० पृ० ११३०

५०. "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः"। —त० सं० पृ० ४३, पं० ८–९

होता है, यह कथन भी औचित्यपूर्ण नहीं, क्योंकि तब दो व्यक्तियों के मध्य में अविनाभाव (व्याप्ति) का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। आन्तर प्रत्यक्ष से भी (व्याप्ति-ज्ञान) असम्भव ही है, क्योंकि अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों का आश्रित होता है। अतएव, बाह्य विषयों में उसकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकती।[५१] शास्त्र का कथन है : "मन बाह्य इन्द्रियों का आश्रित है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से ही उस (मन) को विषयज्ञान होता है।"[५२]

"अनुमान भी व्याप्ति-ज्ञान का साधन नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें भी (क्रमशः) एक स्वेतर व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षणीय होता जायगा और इस प्रकार कभी समाप्त नहीं होनेवाला दोष (अनवस्था) आ जायगा।"[५३] इस प्रकार अनुमान की स्वतंत्र प्रामाणिकता असिद्ध हो जाती है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष पर ही आधारित है।

"शब्द" भी व्याप्ति-ज्ञान का साधक नहीं, क्योंकि वैशेषिक मत से यह अनुमान में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है। यदि (शब्द-प्रमाण के) अन्तर्गत न भी हो, तो उसमें वृद्ध पुरुष के व्यवहार रूप लिंग का ज्ञान तो प्रयोजनीय हो ही जाता है। अतएव, वही पूर्वोक्त दोष (अनवस्था) आ जायगा, जिसका उल्लंघन दुष्कर है। यदि यह कहा जाय कि धूम और अग्नि में अविनाभाव (व्याप्ति) सम्बन्ध (पूर्व से ही) विद्यमान है, तो यह सिद्धान्त मन्वादि ऋषियों के वचन के समान विश्वसनीय नहीं हो सकता। अविनाभाव सम्बन्ध को न जाननेवाला पुरुष एक विषय को देखकर विषयान्तर का अनुमान नहीं कर सकता। इसलिए, स्वार्थानुमान का प्रसंग नाममात्र का रह जाता है, परार्थानुमान की तो बात ही क्या ?[५४] शब्द-प्रमाण के विषय में गौतम का भी यही मत है। इनके मत में शब्द का अस्तित्व अनुमान से पृथक् नहीं है, क्योंकि शब्दगत अर्थ का ही अनुमान होता है। अर्थ का प्रत्यक्ष भाव नहीं होता। अतएव, शब्द अनुमान के ही अन्तर्गत सन्निविष्ट हो जाता है[५५] और इस कारण शब्दप्रमाण

---

५१. "व्याप्तिश्चोभयः······स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः"।

—स० द० सं० १।७१–७८

५२. "चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः"। —तत्त्वविवेक २०

५३. "नाप्यनुमानं × × × प्रसंगात्"। —स० द० सं० १।८१–८२

५४. "नापि शब्दस्तदुपायः × × × कैव कथा परार्थानुमानस्य"

— स० द० सं० १।८२–८७

५५. "शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्" — न्या० द० २।१।४९

अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है, क्योंकि इसमें अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोषों की प्राप्ति होती है।[५६]

"उपमान आदि प्रमाण तो (व्याप्ति-ज्ञान के विषय में) दूरंगत हैं, क्योंकि वे संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध आदि विषयों के ज्ञापक हैं। अतएव, (वे) उपाधि रहित सम्बन्ध के ज्ञापक नहीं हो सकते" ।[५७] गौतम भी अत्यन्त तथा एकदेशीय समानधर्मता के कारण उपमान का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते, क्योंकि अत्यन्त सधर्मता के कारण "गौ के समान गौ" इस वाक्य में उपमान की सिद्धि नहीं और एकदेशीय समानधर्मता के कारण "वृषभ के समान महिष"—इस वाक्य में भी उपमान में प्रमाणता की सिद्धि नहीं होती। उपर्युक्त दोनों वाक्य निरर्थक प्रतीत होते हैं।[५८]

उपाधि के अभाव, अर्थात् व्याप्ति को जानना भी कठिन है। उपाधियों के प्रत्यक्ष होने का नियम स्थापित करना असंभव है, अतः प्रत्यक्ष वस्तुओं के अभाव के दृष्टिगोचर नहीं होने और उस (अभाव) के अनुमान आदि प्रमाणों पर निर्भर रहने के कारण उपर्युक्तदोष (अनवस्था) का विनाश नहीं हो सकता।

उपाधि का यही लक्षण मान्य होना चाहिए कि जो हेतु को व्याप्त न करे, किन्तु, साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति समान हो।

जब विधि के निश्चित होने पर निषेध का निश्चय होता है और तत्पश्चात् उपाधि का ज्ञान होता है, तब व्याप्ति का ज्ञान भी (उपाधिज्ञान के) अभाव से होने वाले सम्बन्ध के द्वारा ही होता है। व्याप्ति का ज्ञान भी उपाधि-ज्ञान के अधीन है।[५९] इस प्रकार, अन्योन्याश्रय दोष, जो वज्र की चोट की तरह है, वज्रलेप-सा दृढ हो जाता है। अतएव, अविनाभाव-सम्बन्धी ज्ञान

---

५६. "तस्मादप्रमाणं शब्दः—अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति"
—न्या० द० वात्स्यायन भाष्य २।१।५७

५७. "उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसंबन्धादिबोधकत्वे-नानौपाधिकसंबन्धबोधकत्वासंभवात्। —स० द० सं० १।८८–८९

५८. "अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः"।
—न्या० द०, २।१।४४

५९. किंच उपाध्यभावोऽपि··· ··· ···कक्षीकर्तव्यम्", "तत्र तदुत्पत्तेः"।
—स० द० सं०, १।९०–९३, १०५

न होने के कारण अनुमानादि प्रमाणों का यहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। धूमादि के ज्ञान के पश्चात् जो वह्नि आदि का ज्ञान होता है, उसके मूल में या तो प्रत्यक्ष है या भ्रान्ति। कभी-कभी जो फल की उपलब्धि हो जाती है, वह मणिस्पर्श, मंत्रप्रयोग तथा ओषधि आदि के समान आकस्मिक है। अतएव, अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला अदृष्ट आदि का अस्तित्व भी नहीं है। यदि किसी को शंका हो कि अदृष्ट की मान्यता स्वीकार नहीं करने पर संसार का वैचित्र्य आकस्मिक हो जायगा, यह बात नहीं क्योंकि संसार का वैचित्र्य स्वाभाविक है। इस प्रकार, चार्वाक दार्शनिक के अभिमत प्रत्यक्ष-प्रमाण की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गयी, जो नास्तिकसम्प्रदाय का मुख्यतम तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है।

जडतत्त्ववाद

जगत् के रचनावैचित्र्य का रहस्यज्ञान अत्यन्त जटिल है। इस उलझन को सुलझाना सुगम नहीं। जगत् की सृष्टि कब और क्यों हुई, इस जगत् का कोई सृष्टिकर्त्ता भी है या नहीं, सृष्टि के कारण क्या और कौन कौन से हैं, सृष्टि का प्रयोजन क्या, किसको और क्यों हुआ—इत्यादि समस्याओं का समीक्षण संसार की दार्शनिक चिन्तनपरम्परा का एक मुख्य विषय है। इस ऊहापोह में विभिन्न तार्किक सम्प्रदायों के विभिन्न मत हैं। परन्तु, प्रसंग के चार्वाकसम्प्रदायी होने के कारण जडवादी दृष्टिकोण से ही समीक्षणकरना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

चार्वाकसम्प्रदाय ज्ञानविकास के प्रथम सोपान पर चढ़कर प्रत्यक्षैक-प्रमाणवादी होने के कारण स्थूल दृष्टि से आत्मा की खोज करता है। ऐसी स्थिति में जो पदार्थ इसके दृष्टिपथ में अवतीर्ण होते हैं, उन्हें ही यह सम्प्रदाय अपना "प्रमेय" मानता है। औचित्यपूर्ण भी यही है, क्योंकि प्रत्यक्षतः साक्षात्कृत वस्तु की सत्ता या स्वरूप को स्वीकार नहीं करना भी तो असत्यता का द्योतक है। चक्षु ही तो दृष्टि का उत्कृष्टतम साधन है। लोकायत चार्वाकमत में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—[६०] इन्हीं चार जडतत्त्वों की अधिमान्यता है। यद्यपि कतिपय अन्य भारतीय दर्शनों में आकाश को भी पंचम तत्त्व मानकर स्वीकार किया गया है। किन्तु चार्वाकमत में आकाश को "आवरण का अभाव" कहकर तत्त्वों के अन्तर्गत उसकी गणना नहीं की गई (सिद्धान्तबिन्दु,

---

६०. बा० सू० २।

पृ० ११९)।[61] उपर्युक्त भूतचतुष्टय के यथोचित रासायनिक परिमाण में संयोग होने से देह एवं इन्द्रियादिकों का निर्माण होता है। और फिर किण्वादि (मादक द्रव्यों) के यथोचित मात्रा में संयोग होने पर जिस प्रकार मदिरा में मादकता उत्पन्न हो जाती है,[62] उसी प्रकार चातुर्भौतिक देह में चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है।[63] चार्वाक अपने पक्ष के पुष्टीकरण में एक दूसरा दृष्टान्त उपस्थित करते हुए कहते हैं कि यद्यपि लाल रंग न तो पान के पत्ते में रहता है, न सुपारी में और न चूने में, किन्तु विशिष्ट मात्रा में इनका संयोग होने पर ताम्बूलभक्षक के मुख में लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है।[64] चार्वाक का प्रतिपादन है कि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखने से भी नये नये गुणों का आविर्भाव होता है। गुड में मादकता का अभाव है, किन्तु उसके सड़ जाने पर वह मादक हो जाता है। उसी प्रकार, जडतत्त्वों का भी सम्मिश्रण यदि एक विशेष रीति से हो, तो शरीर की उत्पत्ति होकर उसमें एक नया गुण चैतन्य आविर्भूत हो जाता है।

कतिपय सिद्धान्तगत मन्तव्यताओं में एकता होने के कारण सांख्यदर्शन-सम्प्रदाय भी चार्वाकसम्प्रदाय के समान ही कुछ अंशों में जडवादी सिद्ध होता है, क्योंकि सांख्यदर्शन में भी प्रकृति ही संसार की सृष्टिकर्त्री है और उसे जड अथवा अचेतन निर्दिष्ट किया गया है।[65] इनके मत में त्रिगुणात्मक और प्रसव-धर्मी होने के कारण जड बुद्धितत्त्व ही कर्त्ता एवं भोक्ता माना गया है और चेतन पुरुष अत्रिगुण एवं अप्रसवधर्मी होने से कर्त्ता एवं भोक्ता नहीं हो सकता। अतएव "मैं करता हूँ", यह कर्तृत्व-प्रतीति पुरुष में भ्रम से होती है, क्योंकि पुरुष के साथ अत्यन्त सन्निधान होने से ही जड बुद्धि अपने को चेतन समझने लगती है और बुद्धि के साथ अभेदग्रह होने के कारण पुरुष भी अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानने लगता है। वास्तव में चेतन पुरुष न तो कर्त्ता है, न भोक्ता है, वह तो "असंगो ह्ययं पुरुषः" के अनुसार पद्मपत्र के समान निर्लिप्त है।

---

६१. मिश्र० भा० ८८

६२. "किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्"। —बा० सू० ४

६३. "तेभ्यश्चैतन्यम्"। —Ibid ३

६४. "जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितः"॥ —स० सि० सं० ७।

६५. "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः"॥ —सा० का० २०।

प्राचीन ग्रीक के स्वभाववादी दार्शनिकों में 'देमोक्रेतु' ही एक ऐसा था, जो भौतिकवाद से घनिष्ठ समीपता रखता था। उसके सिद्धान्त के अनुसार–"अभाव से कोई वस्तु नहीं निकल सकती (न भावो विद्यतेऽभावात्) और किसी वस्तु (भाव) का ध्वंस भी नहीं हो सकता। संसार के सारे परिवर्तन विभिन्न परमाणुओं के संयोग और विभागमात्र हैं। कोई वस्तु या घटना अकस्मात् नहीं उत्पन्न हो जाती, प्रत्येक घटना किसी कारण या आवश्यकता से होती है। उसके विचार से परमाणु या शून्य आकाश को छोड़कर संसार में और कोई वस्तु अस्तित्व नहीं रखती, वह केवल कल्पनामात्र है। परमाणु असंख्य और अनन्त प्रकार के हैं। वे अनन्त आकाश में निरन्तर गिरते रहते हैं। बड़े परमाणुओं के पतन का वेग अपेक्षाकृत अधिक होता है, इसलिए वे गिरते समय अपने से अपेक्षाकृत न्यून गतिधारी छोटे परमाणुओं से टकराते हैं। इस संयोग के कारण जो भौतिक गति या चक्कर प्रारम्भ होता है, उसी से संसार की सृष्टि आरम्भ होती है। परमाणुओं के इस तरह के संयोग-वियोग से असंख्य जगत् एक साथ या बारी-बारी से बनते और मिटते हैं"।[६६]

इस प्रसंग के आधार पर देमोक्रेतु और लुक्रेटियस आदि पाश्चात्य दार्शनिकों को हम धूर्तसम्प्रदायी चार्वाक श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि इनके और धूर्तसम्प्रदायी चार्वाकों के सिद्धान्तों में पूर्ण सादृश्य है।

परलोक का निराकरण

भारतीय वाङ्मय में एक पक्ष से यदि असंख्य लोक-परलोकों की विद्यमानता की घोषणा निरन्तर श्रुतिगोचर होती है, तो अपर पक्ष से उनके अभाव की रूपरेखा भी सतत दृष्टिगोचर होती है। इधर आस्तिकसम्प्रदायी वेद, धर्मशास्त्र, पुराण आदि साहित्य यदि भूर्भुवादि और स्वर्गनरकादि संख्यातीत लोकों के अस्तित्व के सनातन आलाप सुना रहे हैं, तो उधर नास्तिकसम्प्रदायी लोकायतिक साहित्य उन लोकों के खण्डन में सतर्क तान छेड़ रहे हैं। शब्द एवं अनुमान आदि प्रमाणों पर अधारित वैदिक साहित्यों का प्रतिपादन है कि अमुकामुक पुण्यापुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्रेतात्माओं को अमुकामुक स्वर्गनरकादि लोकों की प्राप्ति होती है, किन्तु प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाकसम्प्रदाय स्पष्ट और ओजस्वी शब्दों में परलोकमात्र का खण्डन कर देता है। चार्वाकों की घोषणा है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त अन्य किसी परलोक का अस्तित्व नहीं

---

६६. Cf. कार्लमार्क्स, पृ० २६–२७

है।[६७] परलोक की सत्ता में श्रुति भी संशय प्रकट करती हुई कहती है कि कौन जानता है कि परलोक है और वहाँ जीवात्मा जाता है ? पुराण-साहित्यों में भी यत्र तत्र परलोकखण्डन के प्रतिपादक प्रमाणों का अभाव नहीं है। एक स्थल पर उल्लेख है कि न कहीं स्वर्ग का अस्तित्व है और न किसी प्रकार के मोक्ष का। व्यर्थ ही लोग इनकी उपलब्धि के लिये शारीरिक कष्ट उठाते हैं।[६८] फिर, अन्य स्थल पर मायामोह दैत्यों को समझा रहा है कि सम्पूर्ण जगत् विज्ञानमय है, ऐसा समझना चाहिए। मेरे वाक्यों पर पूर्णरूप से ध्यान दो। इस विषय में बुधजनों का ऐसा ही मत है कि यह संसार निराधार है, भ्रमजन्य पदार्थों की प्रतीति पर ही स्थिर है तथा रागादि दोषों से दूषित है। इस संसार-संकट में जीव निरन्तर ही भटकता रहता है।[६९]

रामायण में भी परलोक के निरसनरूप में एक ऐसा ही चित्रण पाया जाता है। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् शोक से व्याकुल तथा उदासीन राम को आश्वासन देता हुआ जाबालि नामक एक द्विजोत्तम कह रहा है कि हे महामते वास्तव में इस प्रत्यक्ष लोक के अतिरिक्त अन्य परलोक आदि कुछ भी नहीं है। इसे आप सम्यक् प्रकार से समझ लीजिए। अतः जो प्रत्यक्ष है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष है, उसे उपेक्षित कीजिए।[७०]

अपने लौकायतिक पक्ष के विवरणप्रकरण में शंकराचार्य ने भी परलोक और स्वर्गनरकादि लोकों का अभाव दिखलाकर विवरण दिया है कि इस प्रत्यक्ष

---

६७. परलोकफलो धर्मः कीर्त्यते तदसङ्गतम्।
परलोकोऽपि नास्त्येवाऽभावतः परलोकिनः॥"

—त्रिषष्टिशलाका० १।१।३३० and
Cf. निरुक्त० ६।३२।१२७।१, क० उ० १।२।६

६८. "न स्वर्गो नैव मोक्षोऽत्र लोकाः क्लिश्यन्ति वै वृथा"

—प० पु० सृ० १३।३२३

६९. विज्ञानमयमेवेदमशेषमवगच्छत।
बुद्ध्यध्वं मे वचः सम्यग्बुधैरेवमिहोदितम्॥
जगदेतदनाधारं भ्रान्तिकामार्थतत्परम्।
रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसंकटे॥

—वि० पु० ३।१८।१७-१८

७०. स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु॥ —वा० रा० २।१०९।१७

दृश्यमान संसार के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोक, स्वर्ग, नरक आदि तत्त्व नहीं हैं।[७१]

हरिभद्र सूरि ने अपने लोकायतमत के प्रकरणप्रसंग में परलोक का खण्डन करते हुए प्रतिपादन किया है कि यह संसार, जितना स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षगोचर हो रहा है, उतना ही भर है। और यदि कहा जाय कि परलोक की भी सत्ता है, तो वह केवल शशक के शृङ्ग तथा वन्ध्या के पुत्र के ही समान उस (अप्रत्यक्ष लोक) का अस्तित्व हो सकता है। वह परलोकसत्ता उस वृकपद के समान है। मानों जो यथार्थ में प्रकृत वृकपद का चिह्न न होकर कृत्रिममात्र है। अर्थात्, राजमार्ग की धूलि में अपनी अंगुलियों से चित्रित एक कृत्रिम वृकपद का चिन्ह निर्माण कर कोई लोकप्रति॰ ष्ठित अनुभवी पण्डित लोगों को उसे दिखलाकर यह कहता है कि रात में एक वृक आया था, उसी का यह पदचिन्ह है और लोग भी इस पर विश्वास कर लेते हैं।[७२]

शान्तरक्षित ने अपने चार्वाकमत के विवरणप्रसंग में परलोक के खण्डन स्वरूप एक श्लोक का प्रतिपादन किया है। उसका तात्पर्य है कि यह आत्मा अनुगमन नहीं करता अर्थात् इस वर्तमान शरीर के पूर्व आत्मा की परम्परा नहीं थी। इस कारण परलोक का अस्तित्व खण्डित हो जाता है।[७३]

देहात्मवाद

चार्वाक संप्रदाय चतुर्भूतमय देह के अतिरिक्त अन्य किसी अदृष्ट आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार नहीं करता है। यह सम्प्रदाय एकमात्र शरीर को ही आत्मा मानता है। देहात्मवाद के पक्ष में आचार्य माधव का प्रतिपादन है कि 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ'—इत्यादि सामान्य वचन देह का ही संकेत करते हैं।[७४]

---

७१. "इहलोकात्परो नान्यः स्वर्गोऽस्ति नरको न च"।

—स॰ सि॰ सं॰ ८।

७२. एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः॥

—ष॰ द॰ स॰ श्लो॰ ८१।

७३. द्र॰—त॰ सं॰ १८५७

७४. "अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः॥"

—स॰ द॰ सं॰ १।६३–६४

'मेरा शरीर' इत्यादि कथन तो केवल लोक व्यवहार के लिये है जैसा कि 'राहु का शिर' इत्यादि कथन। राहु तो केवल शिरोमात्र है ही फिर भी लोक में 'राहु का शिर'—यह कथन परिपाटी हो गई और इसी प्रकार यह भी कथन परिपाटी हो गई है 'यह मेरा शरीर'। हरिभद्र सूरि का मत है कि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचरीभूत शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी भी अनुमितिगम्य विशिष्ट आत्मा का अस्तित्व नहीं है।[७५] लौकिक एवं पारलौकिक दो शरीरों में विविध विभिन्नताओं के तथा तद्गत दो चित्तों में असादृश्य होने के कारण सम्बन्धाभाव हो जाता है।[७६] अत एव अतीन्द्रिय आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। मृत मनुष्य के आत्मा के अस्तित्व में भी सन्देह प्रकट किया गया है।[७७]

इन्द्रियात्मवाद

मनुष्य श्रोत्र आदि इन्द्रियों की विकृति से अपने को विकारी मानकर 'मैं वधिर हूँ, मैं अन्धा हूँ' इत्यादि वचन कहता है। इन वाक्यों में 'मैं' का प्रयोग तो आत्मा के ही लिये हुआ है और चार्वाक पक्ष श्रोत्र तथा चक्षुरादि इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। यही इन्द्रियात्मवाद है।[७८]

मनश्चैतन्यवाद

इन्द्रियात्मवादी दल की अपेक्षा कुछ अधिक उन्नतावस्थापन्न एक दल का सिद्धान्त यह है कि समस्त शारीरिक कार्य मनोऽधीन हैं, क्योंकि मन जब निद्रा की अवस्था में लीन रहता है, तब शरीर कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। मन स्वतन्त्र है और यही ज्ञान प्रदान करता है। श्रुति का भी यह प्रतिपादन है।[७९]

प्राणात्मवाद

अनुभव और ज्ञान के विकास के साथ क्रमशः इनकी दृष्टि सूक्ष्मतर होती है और इन्द्रियाँ तथा मन प्राणों के अधीन प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थिति

---

७५. "एतावानेव लोकोऽयं यावदिन्द्रियगोचरः।
नहि भीरु गतं विवर्त्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥"
—ष० द० स० २–३

७६. "इहलोकपरलोकशरीरयोर्भिन्नत्वात्तद्गतयोरपि चित्तयोर्नैकः सन्तानः।
—त० स० प० १९७०

७७. Cf. क० उ० १।१।२०

७८. Cf. सिद्धान्तबिन्दु पृ० १०७

७९. "अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः।" —तै० उ० २।३।१

प्राणमय है। प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर और इन्द्रियसमूह मृत हो जाते हैं तथा प्राणवायु के रहने पर शरीर जीवित रहता है। "मैं भूखा हूँ" और 'मैं प्यासा हूँ'—यहाँ पर "भूख" और "प्यास" से प्राण को ही लक्षित किया गया है, क्योंकि "भूख" और प्यास प्राण के ही धर्म हैं।[८०] जब क्षुधा से व्याकुल मनुष्य के प्राण शरीर से निकलने लगते हैं, तब मनुष्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य या कृत्याकृत्य का विचार छोड़कर अपने प्रियतम प्राणों की रक्षा की शक्ति भर चेष्टा करता है। ऋग्वेद की शाखा "ऐतरेय ब्राह्मण" में सुयवस ऋषि के पुत्र "अजीगर्त्त" नामक एक ब्राह्मण और उसके पुत्र "शुनःशेप का उपाख्यान है। दुर्भिक्ष के कारण पीडित अवस्था में अजीगर्त्त ने अपने प्राणों की रक्षा के लिए अपने पुत्र "शुनःशेप" को सौ गायों के मूल्य पर हरिश्चन्द्र के हाथ विक्रय कर दिया था।[८१] जब राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में शुनःशेपरूप पशु को मारने के लिये कोई बधक (विशसिता) नहीं मिला, तब शुनःशेप का पिता अजीगर्त्त ही सौ गायें और अधिक लेकर बधक का कार्य करने के लिये प्रस्तुत हो गया।[८२] यह प्राणात्मवाद ही तो है। प्राणात्मवाद का एक रूप शास्त्रों में उपवर्णित हुआ है। एक समय अनेक वर्षव्यापी महान् दुर्भिक्ष के कारण ऋषि विश्वामित्र अपने प्रिय प्राणों की रक्षा के लिये रात्रि में चौर्यकर्म से एक चण्डाल के घर में जाकर उसके उच्छिष्ट कुत्ते का मांस भक्षण करने को तत्पर हो गये थे।[८३] शास्त्रों में इस प्रकार के बहुसंख्यक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

ऊपर के परिवर्णित देह, इन्द्रिय, मन और प्राण—ये चार वाद भौतिकवाद पर ही आधृत हैं। भूतों में ही इस मत के समस्त विचार निहित हैं। इन स्थूल भूतों के आगे जाने में इसकी दृष्टि असमर्थ है। उपनिषद्काल में कालवाद

---

८०. "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" —तै० उ० २।२।१

८१. "तौ ह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतुः शुनःशेपे।
तस्य ह शतं गवां दत्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय॥"
—ऐ० ब्रा० हरि० पृ० १४-१५

८२. "तस्मा उपाकृताय नियुक्तायाप्रीताय पर्यग्निकृताय विशसितारं न विविदुः। स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं विश-शिष्यामीति। तस्मा अपरं शतं ददुः। सोऽसिं निःशान एयाय।"
—Ibid p. 17

८३. द्र० भा० शान्ति०, १४१।४३, ४५-९३

स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, और पुरुषवाद का प्रतिपादक प्रसंग मिलता है।[८४]

अनात्मवाद

भौतिकवादी सम्प्रदाय में यथार्थतः आत्मन् के अस्तित्व की कोई अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि वहां चातुर्भौतिक देह को ही प्रत्यक्ष आत्मरूप से स्वीकृत किया गया है। गम्भीर विवेचन करने पर कतिपय अंशों से इस सिद्धान्त में वास्तविकता ही अवगत होती है, क्योंकि सतत गमनार्थक "अत्" धातु के आगे कर्त्रर्थ में 'मनिण्' प्रत्यय के योग से आत्मन् शब्द की निष्पत्ति होती है। शब्द शास्त्र के अनुसार आत्मन् शब्द का व्युत्पन्नार्थ होता है—'अतति सततं गच्छति, नैकत्र तिष्ठतीत्यात्मा'—अर्थात् आत्मा वह तत्त्व है, जो निरन्तर गमन करता रहता है। गमनकर्त्ता का अर्थ हो सकता है—परिवर्तनशील। परिवर्तनशील वस्तु का अस्तित्व भी सदा सम्भव नहीं। आचार्य माधव ने भी अनात्मवाद के के पक्ष में प्रतिपादन किया है कि यदि देह से भिन्न कोई आत्मा है और देह से निकल कर परलोक चला जाता है और यदि उसका वहाँ जाना सिद्ध है तो फिर वह बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वहाँ से क्यों नहीं लौट आता है?[८५] यदि उसका यथार्थतः आस्तित्व होता तो कभी अवश्य ही आ जाता, किन्तु कभी भी ऐसा नहीं देखा जाता। आचार्य मधुसूदन और नीलकण्ठ ने भी कहा है कि चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है।[८६] शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई अन्य अतीन्द्रिय तत्त्व नहीं है। लोक में "मेरा शरीर" कथनमात्र की परिपाटी है। इससे किसी इन्द्रियातीत आत्मतत्त्व को लक्षित नहीं किया जा सकता जिस प्रकार "राहुका शिर' इस कथन का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि राहु तो शिरोमात्र ही है फिर भी "राहुका शिर" इस कथन की लौकिक प्रथा तो है ही। इसी प्रकार "मेरा शरीर" कथन की एक प्रथासी हो गई है। शान्तरक्षित आत्मन् के अनस्तित्व

---

८४. "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावा-
दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥" —श्वे० उ० १।२

८५. "यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥"
—स० द० स० १।२४–२५

८६. "चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।" —गीता० म० नी० १६।११

के प्रतिपादन में कहते हैं कि दो शरीरों में विविध भिन्नताओं और तद्गत दो चित्तों में असादृश्य के कारण पारस्परिक सम्बन्धाभाव हो जाता है।[८७]

उपर्युक्त उल्लेखों पर ध्यान देने से अवगत होता है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान देह से भिन्न किसी अतीन्द्रिय आत्मन् की सत्ता युक्तिसह नहीं। अतएव चार्वाक पक्षीय अनात्मवाद या देहचैतन्यवाद स्वतः सिद्ध हो जाता है।

स्वभाववाद

चार्वाकमत में स्वभाववाद की अनवरत अपेक्षा है, क्योंकि स्वभाव के ही ऊपर जडतत्त्वके सिद्धान्त आधारित हैं। स्वभाव के अभाव में चतुर्भूतों की कायाकार में परिणति असंभव है। जडवाद के सिद्धान्त में यह प्रतिपादन है कि अशेष दृश्यमान पदार्थ निसर्गतः इसी रूप में सदा से सम्पन्न होते आ रहे हैं और भविष्य में भी इसी प्रकार सम्पन्न होते रहेंगे। न कोई इनका कर्त्ता है और न कारण। सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर आदि के लिए कोई अवसर नहीं है। प्राचीन साहित्य में भी व्यापक रूप से स्वभाववाद की रूपरेखा का चित्रण दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध साहित्य में इसकी चर्चा है। आचार्य बुद्धघोष स्वभाववाद की विवृति में प्रतिपादन करते हैं कि "शुभ और अशुभ तथा उत्पत्ति और अनुत्पत्ति आदि क्रियायें स्वभाव से ही होती रहती हैं, क्योंकि समस्त व्यापार नैसर्गिक हैं अतः कोई भी प्रयत्न करना व्यर्थ है। इन्द्रियों की अपने व्यापारों में प्रवृत्ति नियत है। विषयों में प्रिय और अप्रिय भाव की अनुभूति स्वयं अधिष्ठित रहती है। वार्धक्य में रोगयुक्त होना स्वाभाविक है—इस विचार से भी पुण्यापुण्य कार्यविधान में विधिनिषेध क्यों? जल से अग्नि का शमन तथा तेजस् से जल का शोषण होता है। शरीर में स्थित पंच तत्त्व स्वभावतः पृथक् पृथक् हैं और वे एक होकर जगत् का निर्माण करते हैं। गर्भगत होने पर (भ्रूण) के हस्त, पाद, उदर, पृष्ठ और मस्तक आदि अवयवों का निर्माण होता है और आत्मन् से संयोग होता है—विद्वानों के मत में ये सब स्वाभाविक हैं। कण्टकों की तीक्ष्णता तथा पशुपक्षियों की विचित्रता आदि का सर्जनकर्त्ता कौन है? ये सब निसर्ग से ही सम्पन्न हुए हैं अपनी इच्छा से कोई सफलकर्मा नहीं हो सकता, अतः प्रयत्न करना व्यर्थ है।[८८]"

---

८७. ब्र० पा० टी० ७६।

८८. "केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मात्तोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः॥

बुद्धघोष के उपर्युक्त प्रतिपादन से चार्वाकपक्ष में यह सिद्ध होता है कि स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के लिए मनुष्य पुण्यापुण्य कर्मों के विधि-निषेध से अपने को अलग रखे, क्योंकि सुकृत से सुख और दुष्कृत से दुःख की उपलब्धि होगी — यह धारणा निरर्थक है।

पुनर्जन्म

अब प्रश्न यह होता है कि बौद्धमत आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तब पुनर्जन्म किसका होता है, क्यों कि बौद्ध मत में पुनर्जन्म का बड़ा ही महत्त्व है। राजा मिलिन्द की भदन्त नागसेन के प्रति यही जिज्ञासा थी : जो व्यक्ति जन्म के समय रहता है, क्या बाल्य, यौवन और वार्धक्य के समय वही व्यक्ति रहता है या तद्भिन्न ? नागसेन का समाधान है : न वही (व्यक्ति) है और न तद्भिन्न ही। नागसेन ने दीपशिखा के दृष्टान्त से अपने सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है। तेल से परिपूर्ण जो दीपक सूर्यास्त से सूर्योदय कालतक-रातभर जलता रहता है। क्या सूर्यास्त के समय प्रज्वलित की गई जो दीप-शिखा थी वही पूरी रात जलती रही या तद्भिन्न? साधारण बुद्धि से, प्रतीत होता है कि वह एक ही दीपशिखा सारी रात जलती है, परन्तु स्थिति कुछ अन्य ही है। दीपक तो एक ही है, परन्तु उसकी शिखा (लौ) प्रतिक्षण परिवर्तनशील रहती है। आत्मा की स्थिति के प्रसंग में भी ठीक यही दशा है। किसी वस्तु के क्रम में आत्मा की एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक लय, और इस प्रकार प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। इसी प्रकार एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा हो जाता है।

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः॥
अद्भिर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम्।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति॥
यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्नां निवर्तते गर्भगतस्य भावः।
यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः॥
कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥"

—बुद्धचरितम्, ९।४८—५२

दूध से बनी वस्तुओं को ध्यान से देखने पर सिद्धान्त का पुष्टीकरण हो जाता है। जैसे दूध से दही, दही से मक्खन और मक्खन से घी बनाया जाता है। समाधान यह है कि दही, मक्खन या घी ये परिवर्तित तीन वस्तुएँ दूध नहीं हैं दूध के विकार हैं। विज्ञान का प्रवाह भी इसी प्रकार निरन्तर चलता रहता है। पुनर्जन्म के समय जन्मग्राही जीव न तो वही है और न तद्भिन्न ही। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि विज्ञान की लड़ी प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील होने पर भी नित्य-सी दृष्टिगोचर होती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही अन्य जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न हो उठता है।[८९]

संशयवाद

संशय बड़ी विचित्र वस्तु है। इसके बीज यदि किसी विचारभूमि में लग जाते हैं, तो प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निर्मूल नहीं होते। प्राचीन काल के बड़े बड़े तत्त्वज्ञानियों के मन में भी आत्मा, परलोक तथा ईश्वर आदि अलौकिक तत्त्वों के विषय में संशयालुता देखी जाती है। इस संशयवाद के अनेक प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। वैदिक ऋषि दीर्घतमा अन्य ऋषियों से अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि परमार्थ तत्त्व के विषय में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, अतएव मैं आपलोगों से जिज्ञासा करता हूँ कि क्या इस वैचित्र्यमय जगत् का कोई नियामक है? जहाँ सम्पूर्ण पार्थिव सृष्टि का अवसान होता है, जो सृष्टि की पराकाष्ठा है, जो निखिल भुवन का बन्धनरूप है तथा जिसके साथ समग्र विश्व सन्नद्ध है—इस प्रकार की किसी सत्ता के विषय में निश्चित रूप से मैंने कोई भी समाधान नहीं पाया। इस कारण मैं जिज्ञासुभाव से आपलोगों से जानना चाहता हूँ। उपर्युक्त वाक्यों से अवगत होता है कि ऋषि दीर्घतमा का चित्त परम सत्य के विषय में संशय के कारण व्याकुल है।[९०]

ऋग्वेद में प्रजापति परमेष्ठी संशयित चित्त से जिज्ञासा कर रहे हैं, क्या यह जगद्वैचित्र्य सृष्टि के आदिकाल से ही घन गभीर और विस्तीर्ण जलराशिमय

---

८९. Vide मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी) पृ० ४९-५०

९०. "को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत् ॥"
—अस्यवामीयं (विश्वेदेवाः) सूक्तम् १।१६४।४

"पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः, पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
न विजानामि यदि वेदमस्ति, को ददर्श प्रथमं जायमानम् ॥'
cf —शास्त्री० पृ० ३४

था ? यह विविध वैचित्र्यमय सृष्टि कब, किस रूप में, कहाँ से आई, यह कौन निश्चित रूप से जानता है ? कौन दृढता के साथ कह सकता है ? देवता भी इस विविध सृष्टि के पीछे उत्पन्न हुए हैं। परमेष्ठी यहाँ पर जगद्वैचित्र्य के मूलभूत कारण को अज्ञेय बतला रहे हैं।[९१]

एक ऋषि कह रहे हैं, "हे संग्रामेच्छुगण, यदि सचमुच इन्द्र है, तो तुमलोग इन्द्र की स्तुति करो।" नेम बोले, "इन्द्र नामक कोई व्यक्ति नहीं है। किसी ने इन्द्र को देखा है ? हम किसकी स्तुति करें ?"[९२] इस विवरण से विदित होता है कि इन ऋषियों के मन में वैदिक देवताओं में सर्वप्रधान इन्द्र के अस्तित्व में भी संशय हो रहा है। सत्य ही इन्द्र का अस्तित्व अज्ञेय है।

पुनः एक अन्य ऋषि कह रहे हैं, "जिस घोर भयंकर इन्द्र के विषय में लोग जिज्ञासा करते हैं, वह इन्द्र कहाँ है ?" उसके सम्बन्ध में अन्य लोगों का कहना है कि "इन्द्र" नहीं है। इन्द्र उद्वेजक रूप से शत्रुओं की धनराशि को विनष्ट कर देता है। अतएव वही इन्द्र है, ऐसा समझकर उसका विश्वास करो।[९३] इस प्रसंग में ऋषि के अपने संशय के न रहने पर भी साधारण लोग इन्द्र के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशयव्याकुल हो सकते हैं। किसी का कथन है, "वह इन्द्र कहाँ है ? किसने उसे प्रत्यक्ष देखा ?" किसी का कहना है, "इन्द्र कोई नहीं है।" उपर्युक्त विभिन्न ऊहापोहों से प्रतीत होता है कि यहाँ पर जनसाधारण के मन में इन्द्र के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्ण संशय है और इन्द्र के अस्तित्व के विषय में संशय का अर्थ है वेद और वेद से उत्पन्न ज्ञान के प्रति संशय होना। जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है तथा जिसे किसी ने देखा नहीं उसके अस्तित्व में संशय होना स्वाभाविक ही है।

---

९१. "अन्तः किमासीद्गहनं गभीरम् ?"

Ibid

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जने नाथा को वेद यत आबभूव॥"

Ibid

९२. "प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम॥"

—ऋग्वेद ८।१००।३

९३. "यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥"

—Ibid २।१२।५

पुनः एक ऋषि की उक्ति है—कोई काल को जगत् का कारण बतलाते हैं, कोई स्वभाव को, कोई नियति को कोई यदृच्छा को, कोई पञ्चभूत को और कोई पुरुष को। ये—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचभूत और पुरुष जगत् के कारण हो सकते हैं या नहीं, यही चिन्तन का विषय है। ये पृथक्-पृथक् भी कारण नहीं हो सकते और संघातरूप से भी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि इनका संयोग भी (अपने शेषी) आत्मा के अधीन होने के कारण नहीं बन सकता तथा जीवात्मा भी सुख-दुःख के हेतु (पुण्यापुण्य कर्मों के अधीन) है।[९४] अतएव वह भी कारण नहीं हो सकता। इस ऋषि के मत में कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, यदृच्छावादी, भूतवादी, पुरुषवादी आदि ऋषि अज्ञानवादी सिद्ध होते हैं। अतएव यहां भी संशयवाद उपस्थित हो जाता है।

पुनः उपर्युक्त ऋषि ने संशयवाद को और अधिक स्पष्ट रूप में परिष्कृत किया है—"कोई बुद्धिमान स्वभाव को (जगत् का) कारण बतलाते हैं और कोई काल को, क्योंकि ये स्वयं मोहग्रस्त और संशयाकुलचित्त होने के कारण तत्त्व को नहीं मानते[९५]। वे परम तत्त्व को जाने बिना ही प्रचार करते हैं। यहां भी अज्ञानवाद की ही सिद्धि होती है।

अज्ञेयवाद

अज्ञेयवाद का प्रतिपादन करते हुए एक अन्य ऋषि का प्रतिपादन है : "परम तत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। वह सर्वतो भावेन अज्ञेय है, क्योंकि तत्त्व तो ज्ञान से अतीत है[९६]।

अज्ञेयवाद के समर्थन में ऋषि का प्रतिपादन है, "यदि तू ऐसा मानता है कि मैं अच्छी तरह परम तत्त्व को जानता हूँ, तो निश्चय ही तू परम तत्त्व को अल्पमात्र ही जानता है[९७]। मैं न तो यह मानता हूँ कि परम तत्त्व को अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता[९८]। जो परम तत्त्व को निश्चित रूप से "अविदित" समझकर जानता है, वही परम तत्त्व को जानता है और जो परम तत्त्व को "विदित" मानकर जानता है वह परम तत्त्व को सचमुच नहीं जानता। जो परम ज्ञानवान् है, वह परम तत्त्व को

---

९४. द्र०—श्वे० उ० १।२

९५. "स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये"। —Ibid ६।१

९६. "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि"। —के० उ० १।३

९७. "यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्। —Ibid २।१

९८. "नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च"। —Ibid २।२

"ज्ञात" मानकर नहीं जानता और जो सम्यक् ज्ञानवान् नहीं है, वही परम तत्त्व को "ज्ञात" समझता है। परम तत्त्व को जानने का कोई उपाय नहीं है। अतएव, परम तत्त्व अज्ञेय है[९९]।

"नहीं जानता हूँ", यह भी नहीं कहा जा सकता और "जानता हूँ" यह भी नहीं-इस प्रकार ऋषि की उक्ति अनिश्चितता और संशय को दृढतर करती है।

परवर्त्ती काल में महावीर ने भी "अज्ञानीय" गण की चर्चा की है। अज्ञानीय गण अपने को ज्ञानी एवं चिकित्सोत्तीर्ण, अर्थात् संशयोत्तीर्ण कहकर प्रचार करते थे। प्रकृत पक्ष में ये तत्त्वदर्शी नहीं थे। निर्विचार में वे अज्ञ शिष्यों के मध्य में मिथ्या ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान बतलाकर उसका प्रचार करते थे और वे अज्ञानवादी ही थे[१००]।

उच्छेदवाद

बौद्ध पालिसाहित्य में अजितकेशकम्बल नामक एक तीर्थङ्कर की चर्चा है। यही केशकम्बल उच्छेदवाद का प्रथम उपदेशक माना गया है। इसका व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल" उपाधि से प्रतीत होता है कि केशों से निर्मित कम्बल धारण करने के कारण यह नाम पड़ा होगा। इसका मत विशुद्ध भौतिकवाद है। पालि साहित्य के निकाय ग्रन्थों में अजित केश-कम्बली के उच्छेदवाद का विस्तृत विवरण दृष्टिगोचर होता है। तृतीय अध्याय में हम अजित केशकम्बली की मन्तव्यताओं को पढ़ चुके हैं।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय का मन्थन करने पर संस्कृत साहित्य में भी यत्र तत्र उच्छेदवाद का प्रसंग आता है और सूक्ष्म विवेचन से तीर्थंकर अजित-केशकम्बली का सिद्धान्त उससे सर्वथा मिलता-जुलता तथा अभिन्न-सा आभासित होता है[१०१]।

वेद का खण्डन

भारतीय वाङ्मयपरम्पराओं के समग्र सम्प्रदाय सम्भवतः सृष्टि के आदिकाल से ही वेद को नित्य, अनादि और अपौरुषेय, अतएव प्रामाणिक तथा आदर्श मानकर उसके प्रति अपना सर्वोच्च और उदात्त सम्मान तथा अक्षुण्ण

---

९९. "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" ॥ —Ibid २।३

१००. सूयगड १।१२।२

१०१. द्रष्टव्य—वा० रा० २।१०९।१६–१७

और आन्तरिक श्रद्धा समर्पण करते आ रहे हैं। यहाँ के अशेष साहित्य वेद की ही दृढ भित्ति पर आधारित हैं। उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, पुराण आदि सम्पूर्ण विद्याशाखाएँ वेद से ही प्रकाश पाकर भारतवासी जिज्ञासुओं के मानसमन्दिरों में उज्ज्वल ज्ञानालोक का संचार करती हैं, यही मत अथवा सिद्धान्त भारतवर्ष के आस्तिक जनसमुदाय को सर्वतोभावेन मान्य है। किन्तु चार्वाकसम्प्रदाय वेद की भी निन्दापूर्ण कटु आलोचना करने से अपने को विरत और संयत नहीं रख सका। चार्वाकों ने वेद का सर्वतोभावेन घोर छिद्रान्वेषण और स्पष्ट रूप से नग्न उपहास भी किया। चार्वाकों की उच्च घोषणा है कि वेद कभी नित्य, अनादि और अपौरुषेय हो नहीं सकता। अपने पक्ष के पुष्टीकरण में वे विविध प्रकार की युक्तियाँ और तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं कि वेद की शाखाओं के काठक, पैप्पलाद और कौथुम आदि नाम हैं। अतएव, यह सूचित होता है कि वेद के प्रणेता या कर्त्ता भी कोई रहे हैं, और वे जननमरणशील मनुष्य ही हैं जो ग्रन्थ "कठ" नामक व्यक्ति के द्वारा रचित हुआ, उसका नाम "काठक" हुआ। इसी प्रकार, जो ग्रन्थ "पिप्पलाद" नामक व्यक्ति के द्वारा रचित हुआ, उसका नाम "पैप्पलाद" और जो ग्रन्थ "कुथुम" नामक व्यक्ति के द्वारा रचित हुआ, उसका नाम "कौथुम" पड़ा।

आचार्य जैमिनि अपने दर्शन में वेद की नित्यता तथा अपौरुषेयता स्थापित करने के प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में वेदविरुद्धवादियों के मत संक्षेप में विवृत करते हुए कहते हैं और उसके अर्थप्रतिपादन में भाष्यकार का कथन है कि वेद में "प्रावाहणि", अर्थात् "प्रवहण" के पुत्र "बबर" और "औद्दालकि", अर्थात् उद्दालक के पुत्र कुसुरविन्द आदि जननमरणशील मनुष्यों का उल्लेख पाया जाता है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेद के उन भागों की रचना, जहां 'प्रावाहणि" और 'औद्दालकि" प्रभृति मनुष्यों का उल्लेख है, उन (प्रावाहणि और औद्दालकि) मनुष्यों के पीछे, अर्थात् परवर्त्ती कालों में हुई। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं और इस कारण वेद की अनादिता और प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।[१०२]

शास्त्रों के पारस्परिक और सैद्धान्तिक विरोधी होने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं।

अनुष्ठित सुकृत और दुष्कृत कर्मों के सुख और दुःख-रूप फलों के प्रत्यक्ष अभाव के कारण वेद की नित्यता सिद्ध नहीं होती। लोक में ऐसा भी प्रायः देखा

---

१०२. द्रष्टव्य—मी० द० १।१।२८

जाता है कि पुण्याचारियों का जीवन दुःखमय है और दुराचारियों का सुखमय, अतएव वेद की अनादिता सिद्ध नहीं होती।

यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही कामनाएँ सिद्ध होती हैं, अश्वमेध-यज्ञकर्त्ता यजमान मृत्यु को पार कर जाता है, ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है इत्यादि निरर्थक वादों के कारण वेद का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्यों कि यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही मनोरथों को पूर्ण होते नहीं देखा जाता।[१०३]

अयुक्त प्रतिषेध किये जाने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। वेद में कहीं-कहीं अभागिप्रतिषेधक वाक्य मिलते हैं। जैसे—'न पृथ्वी में अग्निचयन करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में और न स्वर्ग में", यहां अयुक्त-प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि अन्तरिक्ष अर्थात् आकाशादि में अग्निचयन नहीं होता, फिर भी पृथ्वी के साथ आकाश में भी अग्निचयन का प्रतिषेध किया गया है इत्यादि अयुक्तप्रतिषेधकता के कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

अनित्य संयोग होने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। अनित्य संयोग का अर्थ होता है—सामान्यश्रुति, अर्थात् केवल शब्द-श्रवण जैसे, किसी व्यक्ति का अभिधान है 'बृहस्पति"। पर, वह, "बृहस्पति" नामक व्यक्ति है "महामूर्ख"। अतएव, वह बृहस्पति नामक व्यक्ति अर्थतः बृहस्पति नहीं होकर केवल श्रुतितः अथवा शब्दतः ही बृहस्पति है। इसी प्रकार, किसी दुराचारी पुरुष का नाम "साधु" है और किसी व्याध का नाम 'दीनदयालु"। परन्तु, वह साधु नामक पुरुष व्यवहारतः चोर है और दीनदयालु नामक पुरुष व्यवहारतः व्याध अथवा हिंसक है इत्यादि।

यदाकदाचित् पुंश्चली पत्नी के अपराध, अर्थात् दुराचरण से भी यज्ञकर्त्ता पति को पुत्र का दर्शन होता है–यहां पुत्र के दर्शन में वैदिक यज्ञानुष्ठान की कारणता नहीं है, इस लौकिक प्रमाण के उदाहरण से भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

कभीकभी और कहींकहीं विधिवाक्य अनर्थकारी सिद्ध होता है। उस (विधिवाक्य) से शाब्दिक स्तुति का बोध होता है और इसी प्रकार अन्यत्र भी स्तुतिबोधकमात्र ही रह जाता है, इस कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।[१०४]

---

१०३. Ibid १।२।२–४

१०४. Ibid १।२।५–६, १३–२३

वेद के मन्त्र शब्दप्रधान न होकर अर्थ प्रधान होते हैं। यदि शब्द की प्रधानता होती तब तो मन्त्रोच्चारण-मात्र से कल्याण होता, किन्तु कल्याण तो अर्थप्रकाश या अर्थाविबोध में ही अन्तर्निहित है, इस कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

मन्त्रों में पद-क्रम नियमित होते हैं। यदि पद-क्रम अनियमित कर दिये जायें, तो मन्त्र अर्थहीन हो जाते हैं। जैसे-"अग्निमीडे पुरोहितम्", (ऋ० १।१।१) इस मन्त्र का विपर्यय कर देने से रूप होता-"मृतहिरोपु डेमीग्निअ"। अतएव, मन्त्रों के पद-क्रमों में बद्ध होने के कारण भी वेद प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

वेद ही एकमात्र ज्ञानप्रद शास्त्र है, अतएव वेद का स्वाध्याय अर्थाविबोध के साथ होना चाहिए। ऐसा नहीं होने से वेद निरर्थक और अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

शब्दों के अनुसार अर्थ न रहने के कारण और अर्थ के अनुसार, शब्दों के न रहने के कारण अर्थसहित स्वाध्याय असम्भव है, इस कारण भी वेद की उपयोगिता अथवा प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है।

वेद में जड अथवा अचेतन पदार्थों के लिये भी स्तुति का विधान मिलता है। जैसेः—"हे ओषधि, तुम इस रोगी का रोगहरण कर त्राण करो" इस प्रकार, जड पदार्थों में अपने अर्थों से बद्ध वेद पठनपाठन के योग्य नहीं और वह सर्वथा अयोग्य सिद्ध होता है।

परस्पर में विरोधी अर्थों के प्रतिपादक होने अथवा तदर्थक वाक्यों की ही पुनरावृत्ति के कारण वेद का पठनपाठन अयोग्य सिद्ध होता हैं। अतएव उसकी प्रामाणिकता असिद्ध हो जाती है।

जिन वाक्यों में वेद के पठनपाठन का विधान है, उन वाक्यों में अर्थसहित पठनपाठन का भी विधान नहीं मिलता। अतएव, अर्थसहित पठनपाठन भी उपयुक्त नहीं। इस कारण से भी वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।[१०५]

कुछ मन्त्रों के अज्ञेयार्थक अथवा निरर्थक होने के कारण वेद का पठनपाठन अनुपयुक्त है। ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनका अर्थ अविज्ञेय है या वे मन्त्र अर्थहीन हैं। जैसे—

"सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतोशेव तुर्फरी फर्फरीका,
उदन्यजेव जेमना मदेरूता मे जरायुवजरं मरायु"।

---

१०५. Ibid १।२।३१-३७

पुनः अनित्य पदार्थ अर्थात् जन्म, मरण, यौवन, जरा आदि का सम्बन्ध होने से मन्त्रों का पठनपाठन निरर्थक है। वेद में "कीकट" नामक जनपद, "नैचाशाख" नामक नगर और "प्रमङ्गद" नामक राजा के विषय में चर्चा है। ये सभी जननमरणशील तथा यौवन-जरा से युक्त थे और इसलिए अनित्य भी। इससे भी प्रतीत होता है कि इन अनित्य द्रव्यों के पीछे ही वेद की रचना हुई, यह निर्विवाद है। इस कारण वेद अनित्य हैं।[१०६]

ऋषियों के द्वारा प्रोक्त होने के साथसाथ व्याख्यारूप होने के हेतु से भी वेद को परतःप्रमाण में ग्रहण किया गया है। इसलिये वेद की नित्यता और अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती।[१०७]

शब्द की स्थिति नहीं अर्थात् मुहूर्तमात्र भी उच्चारित शब्द स्थिर नहीं रहता तत्क्षण में ही सम्पूर्ण रूप से विनष्ट हो जाता है। अतएव शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

किसी प्रेरक के द्वारा प्रेरित होकर कोई व्यक्ति शब्दोच्चारण करता है—ऐसा लोक व्यवहार है। जैसे देवदत्त ने कहा–"शब्द करो"—यज्ञदत्त ने शब्द किया। इस विषय या लोक व्यवहार से "शब्द" परतःप्रमाण में आता है। अतएव, शब्द की नित्यता असिद्ध प्रमाणित होती है।

इस देश और अन्य देशों में एक ही समय में और एक ही साथ उपलब्ध होने के कारण भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

अपने भाष्य में आचार्य शबर का प्रतिपादन है कि प्रकृति और विकृति के कारण भी शब्द अनित्य प्रमाणित होता है। जैसे–"दध्यत्र (दधि + अत्र=दध् + य् + अत्र)—इस पद में "इ" कार प्रकृति है और "य्" विकृति। जिस अक्षर में विकार होता है, वह अनित्य है—यही मान्यता भी है। अतएव "य" में इकार सादृश्य होने के कारण दोनों में प्रकृति और विकृति का भाव लक्षित होता है। अतः शब्द की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती (मी० शा० १।१।१०)।

जब बहुत लोग मिलकर एक साथ शब्दोच्चारण करते हैं, तब वह शब्द महान् प्रतीत होता है और वही शब्द एक पुरुष के द्वारा उच्चारित होने पर लघु प्रतीत होता है, इससे भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है।[१०८]

---

१०६. Ibid १।२।३८–३९

१०७. Ibid १।३।४

१०८. Ibid १।१।७–११

सांख्यदर्शन के अपने भाष्य में आचार्य विज्ञानभिक्षु का प्रतिपादन है कि यज्ञ-रूप परमात्मा से कार्य-रूप में उत्पन्न होने के कारण वेद नित्य नहीं हो सकता।

शब्द नित्य नहीं, क्योंकि कारण-रूप उच्चारण से कार्य-रूप में उत्पन्न हो कर वह (शब्द) तत्क्षण ही विनष्ट हो जाता है और उत्पद्यमान पदार्थ नाशवान् होते हैं, अतएव शब्द भी नाशवान् होने के कारण अनित्य सिद्ध होता है।[१०९]

१. अनृत (असत्य), २. व्याघात (परस्पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादन) और ३. पुनरुक्त (एक ही विषय की पुनः पुनः आवृत्ति)—इन दोषों के कारण शब्द-रूप वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। ऋग्वेद में एक स्थल पर निर्जीव दर्भ-रूप ओषधि से प्रार्थना की जाती है, "हे ओषधि, तू इसकी रक्षा कर" (तै० सं० १।२।१)। "हे क्षुररूप अस्त्र, तू इसकी हिंसा न कर" (तै० सं० १।२।१)। "हे पाषाणो, श्रवण करो" (तै० सं० १।३।१३)। इन मन्त्रों में अचेतन दर्भ, लौहमय अस्त्र और प्रस्तरों को चेतन के समान सम्बोधित किया गया है, जो असम्भव प्रतीत होता है। अतएव, अनृत, अर्थात् असत्यार्थबोधक होने के कारण वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। श्रुति का प्रतिपादन है कि पुत्रकामी को पुत्रेष्टि-यज्ञ करना चाहिए, यह विधि-वाक्य है। पुत्रेष्टि-यज्ञ के सम्पादन के अभाव में भी पुत्र-लाभ तो होता ही है—यहां भी अनृत दोष है (न्या० द० वा० भा० २।१।५७)। श्रुति कहती है, "रुद्र एक ही है" (तै०सं० १।८।६)। फिर वही श्रुति कहती है, "सहस्र रुद्र हैं" (तै०सं० ४।५।११)। इन दो मन्त्रों में परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन हुआ है और व्याघात-दोष के कारण उसकी अप्रमाणिकता सिद्ध होती है। यज्ञकर्त्ता यजमान के क्षौर-काल में क्लेदन-शील जल से प्रेरणा की जाती है कि वह यजमान के सिर को क्लेदित करे (तै० सं० १।२।१) यहां लोक-प्रसिद्ध क्लेदनरूप अर्थ की पुनरावृत्ति के कारण पुनरुक्त दोष होकर वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। उपनिषदों में भी अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोषों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। जैसे, "अन्न ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान हुआ" (तै० उ० ३।२।१)। "प्राण ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान हुआ" (तै०उ० ३।३।१)। इन मन्त्रों में वस्तुतः अब्रह्मभूत अन्न और प्राणों का ब्रह्मत्व प्रतिपादित हुआ है। अतएव, इनके अनृतार्थ-बोधकत्व के कारण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। "ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं" (छा० उ० ६।२।१)। यहां ब्रह्म की एकरूपता का निर्देश है। पुनः एक स्थल पर कहा गया है—ब्रह्म के जीव और ईश्वर भेद से दो रूप हैं (मु० उ० ३।१।१)। इत्यादि मन्त्रों में

---

१०९. सा० द० ५।४५ और ५८

आत्मा या ब्रह्म की विभिन्नता का निर्देशन किया गया है। अतएव, परस्पर विरुद्धार्थ-प्रतिपादन-जनित व्याघात-दोष के कारण वेद अप्रमाणिक सिद्ध होता है। पृथ्वी से ओषधि-वर्ग की उत्पत्ति हुई और ओषधि-वर्ग से अन्न उत्पन्न हुआ (तै० उ० २।१।१)। इस मन्त्र में लोक-प्रसिद्ध अर्थ के अनुवाद होने के कारण पुनरुक्त दोष हो गया है और इस कारण से वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।[११०]

कृष्णमिश्र के चार्वाक पक्षीय मत से ऋक् , यजुस् और सामन्—ये तीन वेद धूर्तों के प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आचार्य माधव का भी चार्वाक प्रकरण में कथन है कि वेदकर्त्ता भण्ड, धूर्त और निशाचर थे।[१११]

अनीश्वरवाद

ईश्वर, परमेश्वर या परमात्मा आदि सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक तत्त्व की मान्यता प्रायः जगत् के अधिकांश आस्तिक जन-समाज में है, चाहे उस ईश्वरीय तत्त्व के नाम उनकी भाषाओं के अनुसार जो भी हों। ऐसे अल्पसंख्यक कतिपय ही समाज हैं, जिनमें ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न किया गया है। ईश्वरीय सत्ता को स्पष्ट रूप में नहीं माननेवाला एक चार्वाकसम्प्रदाय ही है। इसमें ईश्वरादि किसी भी अदृष्ट शक्ति की किसी भी अवस्था या रूप में मान्यता नहीं है। इसकी घोषणा है कि प्रत्यक्ष अव्याप्ति के कारण ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती। कपिल के मत से भी इनके पक्ष की पुष्टि होती है।[११२] दो ही लौकिक लक्ष्यों के अन्तर्गत ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है—(१) वह क्लेशादि से मुक्त हो सकता है अथवा (२) क्लेशादि से बद्ध। इसके अतिरिक्त तीसरा कोई भी लक्ष्य उसके अस्तित्व के समर्थन में नहीं आता। फिर भी ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध ही रह जाता है, क्योंकि अब वह दो परस्पर विरोधी लक्षणों के अन्तर्गत होकर सीमा में आबद्ध हो जाता है और सीमाबद्ध हो जाने के कारण अनन्त शक्तिमत्ता नष्ट हो जाती है और तब उसका अस्तित्व खण्डित हो जाता है।[११३] यदि ईश्वर की व्याप्ति

११० Cf. न्या० द० २।१।५७।

१११. त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
—स० द० सं० १।२८–२९।

११२. "ईश्वरासिद्धेः" —सा० द० १. ९२।

११३. "मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः"
—Ibid 1. 93.

अनवच्छिन्न रूप से प्रत्येक कारण के अन्तर्गत है तथा अशेष प्राणी स्वतन्त्रता-पूर्वक पुण्य-पाप कर्म कर लेने के उपरान्त सुख-दुःख रूप फल के उपभोक्ता होते हैं, तब भी उस ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध हो जाता है। क्योंकि, यदि वह पूर्ण शक्तिमान् है, समदर्शी है, सर्वज्ञ है, दयालु और न्यायकर्ता है, तब प्राणी पुण्य-पाप रूप कर्म करने में स्वतन्त्रता क्यों प्राप्त कर लेते हैं और उन्हें सुकर्म-कुकर्म के लिए सुख-दुःख रूप फल का उपभोग क्यों करना पड़ता है। यदि ऐसा विधान वह (ईश्वर) करता है, तब तो उसका अस्तित्व निष्प्रयोजन सिद्ध होकर खण्डित हो जाता है।[११४] इस परिस्थिति में लौकिक प्राणियों के समान ही आत्मकल्याण साधन में उसकी प्रवृत्ति भी होती है तथा हम और ईश्वर में कोई अन्तर ही न रह जायगा।[११५] अपूर्णकाम होने के कारण सुख-दुःखादि प्रसंग से वह भी लौकिक ईश्वर, अर्थात् राजा के समान ही संसारी बन जायगा।[११६] चार्वाकों का कथन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव होने से उस (ईश्वर) के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। सांख्यदर्शन से भी इसका पुष्टीकरण होता है।[११७]

उसे सर्वज्ञ मान लेना भी युक्तिपूर्ण नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता में सर्वज्ञेयता अपेक्षित है और वह प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर भी नहीं होता।[११८] यदि कहा जाय कि इन्द्रियगोचरत्वातिक्रान्त अप्रत्यक्ष रूप में ईश्वर का अस्तित्व है, तब तो उसका अस्तित्व शश-शृङ्ग अथवा वन्ध्या-पुत्र के समान ही हो सकता है और वह केवल औपचारिक है।[११९] पुरुष केवल माता के शोणित और पिता के शुक्र से उत्पन्न होता है, अतएव पुरुषोत्पत्ति में माता-पिता के अतिरिक्त दूसरा कोई

---

११४. "नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः"
—Ibid 5/2

११५. "स्वोपकारादधिष्ठानलोकवत्"
—Ibid 5/3

११६. "लौकिकेश्वरवदितरथा"
— Ibid 5/4

११७. "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः"
—Ibid 5/10

११८. "नास्ति सर्वज्ञः प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्"।
—चार्वाकषष्टि परिशिष्ट (क) ७९

११९. "शशशृंगवत्" —ष० द० स० ८१।

(अदृष्ट तत्त्व) निमित्त कारण हो नहीं सकता ।[१२०] चार्वाकों के मत में लौकिक राजा के अतिरिक्त अन्य कोई भी ईश्वर या परमेश्वर नहीं है ।[१२१] मीमांसा-दर्शन के भाष्यकार शबर ने जगत् के कर्तृत्व में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है । मीमांसकों को ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता ही नहीं हुई और ये ईश्वर के विषय में मौन हैं ।

परवर्त्ती काल के विद्वानों ने जगत् के स्रष्टा के रूप में तो ईश्वर को नहीं माना है, किन्तु रूपान्तर में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है । प्रभाकर का भी यही मत है ।[१२२] ईश्वर के विषय में चार्वाक और बुद्ध के सिद्धान्तों में पूर्ण साम्य है । बुद्ध चार्वाक-कोटि के ही अनीश्वरवादी थे । बुद्ध के मत में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने के लिए कोई भी उपयुक्त तर्क नहीं है । बुद्ध ने अपने निकाय-ग्रन्थों में ईश्वर के कर्तृत्व का बड़ा उपहास किया है ।[१२३] बुद्ध ने ईश्वर को अन्य देवताओं के समान एक साधारण देवता निर्दिष्ट किया है ।[१२४]

इस प्रकार, संक्षेप में प्रत्यक्षप्रमाणवाद, जडतत्त्ववाद, परलोकनिरसन-वाद, अनात्मवाद, अवैदिकवाद, अनीश्वरवाद आदि चार्वाक-सम्मत प्रमुख एवं देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, बुद्ध्यात्मवाद, प्राणात्मवाद, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद आदि आनुषंगिक सिद्धान्तों का विवेचन शास्त्रीय आधार पर सम्पन्न किया गया ।

प्रत्येक चार्वाक-सम्प्रदाय में उपर्युक्त प्रमुख और आनुषांगिक सिद्धान्तों की मान्यता है । इनमें अवैदिकवाद और अनीश्वरवाद जैन और बौद्ध सम्प्रदायों को भी मान्य है । इसी कारण ये दोनो सम्प्रदाय नास्तिक नाम से प्रख्यात हैं । अनीश्ववादी होने के कारण तो वैदिकदर्शन सांख्य-सम्प्रदाय भी नास्तिकवाद में आजाता है । जैन और बौद्धादि सम्प्रदाय अपूर्ण नास्तिक हैं, परन्तु चार्वाक-सम्प्रदाय सर्वतोभावेन पूर्ण नास्तिक-सम्प्रदाय है । यह निर्विवाद है ।

---

१२०. "शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकः" ।
—चार्वाकषष्टि परिशिष्ट (क) ७८ ।

१२१. "लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः" । —स० द० स० १.५२

१२२. प्रकरणपंजिका, पृ० १३७–१४० ।

१२३. दी० नि० पथिकसुत्त ३.१ ।

१२४. Cf. केवट्ठसुत्त ११ ।

पञ्चम परिच्छेद

चार्वाक साहित्य

बार्हस्पत्यसूत्र-बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र-व्यास और तर्कवाद-कपिल और निरीश्वरवाद-कपिल और अवैदिकवाद-गौतम और अवैदिकवाद-जैमिनि, शबर और अवैदिकवाद-वात्स्यायन और कामाचरण पुरुषार्थवाद-अजित-केशकम्बली और उच्छेदवाद-रामायण और लोकायतवाद-पद्मपुराण और लोकायतवाद-विष्णुपुराण और लोकायतवाद-सर्वसिद्धान्तसंग्रह और लोकायतवाद-षड्दर्शनसमुच्चय और लोकायत मत-तत्त्वसंग्रह और लोकायतवाद-तत्त्वसंग्रह और चार्वाक मत-सर्वमतसंग्रह और जडवाद-प्रबोधचंद्रोदय और लोकायतिकवाद त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित और चार्वाक-नैषधीय चरित और चार्वाक-सर्वदर्शनसंग्रह और चार्वाक-विद्वन्मोदतरंगिणी और लोकायतवाद-भारतेतर लोकायतवाद-चीन और जडवाद ।
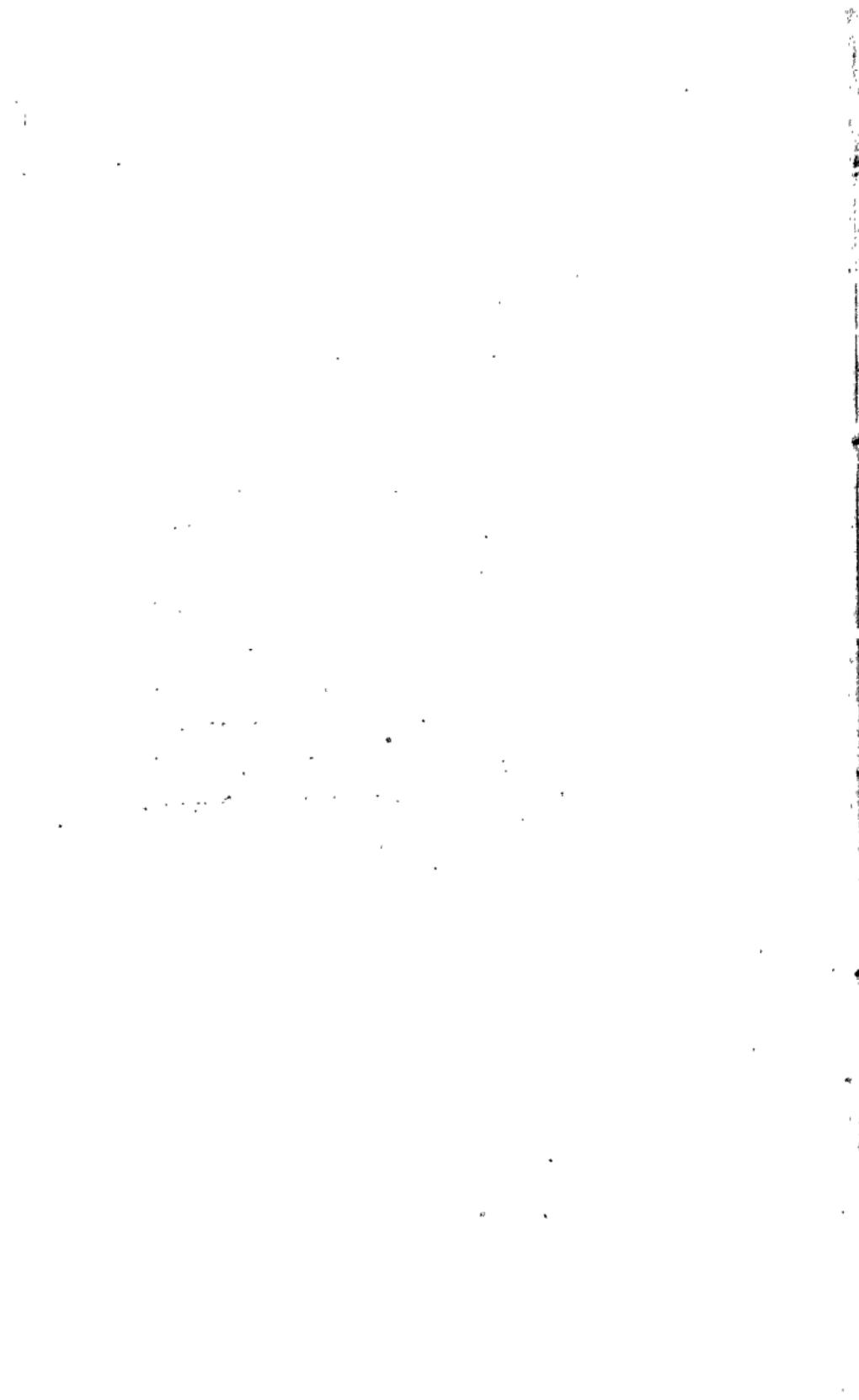
चार्वाक-साहित्य

यद्यपि वर्तमान काल में इस दर्शन का कोई भी पुस्तकाकार स्वतन्त्र और सर्वांगपूर्ण साहित्य उपलब्ध नहीं है, तथापि जब हम बार्हस्पत्य, लोकायत या चार्वाक नामविशेष को कुछ क्षणों के लिए विस्मृत करते हुए इसके विचारात्मक और आचारात्मक सिद्धान्त या मत की खोज में जिज्ञासापूर्ण दृष्टिपात करते हैं, तब पाते हैं कि सृष्टि के आदिकाल से ही नास्तिक-मत का प्रसार रहा है। लिखित पुस्तकाकार साहित्य के उपलब्ध न होने पर भी इसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप भारत के दार्शनिक और साहित्यिक ग्रन्थों में इतस्ततः परिक्षिप्त या विकीर्ण रूप से न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य प्राप्त होता है। भारतीय वाङ्मय में वैदिक साहित्य को ही मूर्धन्यतम और प्राचीनतम होने का गौरव प्राप्त है और अनुसन्धान करने पर सर्वप्रथम हम श्रुतियों में ही नास्तिक-दर्शन की नामरहित रूपरेखा पाते हैं जिसका दर्शन हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सत्य ही कभी और कहीं लोकायत-मत-सम्बन्धी लिखित कोई विशिष्ट ग्रन्थ था और यदि था, तो उसके अस्तित्व का प्रमाण क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में बौद्धशास्त्रीय पुस्तक "दिव्यावदान" और "पातंजल-महाभाष्य" का नामोल्लेख किया जा सकता है। अन्वेषण करने पर और भी प्रमाण मिल सकते हैं, किन्तु ये दो प्रमाण भी न्यून नहीं—पर्याप्त हैं।

"दिव्यावदान" में स्पष्ट लिखा है : "लोकायतं भाष्यप्रवचनम्"।[1] इस पर फिर प्रश्न हो सकते हैं—क्या लोकायत के ऊपर कोई भाष्य-प्रवचन था और यदि था, तो कब था और उसका नाम क्या था ? इन प्रश्नों के उत्तर पातंजल

---

१. Divyāvadāna, p. 630, also "Chandasi vā Vyākaraṇe vā Lokāyate vā pramaṇa-mīmāṃsāyāṃ vā na cai-ṣām ūhā-pohaḥ prajṇāyate." Ibid p. 633.

It is true, however, that lokāyata is not always used in the sesne of a technical logical science, but sometimes in its etymological sense (i.e. what is prevalent among the people, lokeṣu āyato Lokāyataḥ) as in Divyāvadāna. p. 619, where we find the phrase "Lokāyata-yajna-mantreṣu niṣṇātaḥ."

—H.I. phil. III p. 514, fn. 3

महाभाष्य से उपलब्ध किये जा सकते हैं। आधुनिक इतिहासकारों का अनुमान है कि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में पतंजलि ने पाणिनिव्याकरण का यह महाभाष्य लिखा था और इसी महाभाष्य में एक नियम की व्याख्या के प्रसंग में उन्होंने लोकायत की "भागुरी,' नामक वर्णिका या भाष्य का उल्लेख किया है।[२] इससे निस्सन्देह प्रमाणित होता है कि ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी पर्यन्त निश्चय ही लोकायत शास्त्र की विद्यमानता थी और उसका एक भाष्य भी अवश्य ही था और उस भाष्य का नाम "भागुरी" था।

बृहस्पति, लोकायत, चार्वाक, पुरन्दर और कम्बलाश्वतर प्रभृति कतिपय नास्तिक दार्शनिकों के अर्धशताधिक सूत्र और श्लोक जिस-जिस ग्रन्थ से जिस-जिस रूप और अवस्था में उद्धृत तथा संगृहीत हुए हैं, उनका विवरण इस प्रकार है :—

बार्हस्पत्य सूत्र

अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

(इसके पश्चात् अब हम प्रकृत तत्त्व की सम्यग्व्याख्या की ओर प्रवृत्त होते हैं।)

पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।
तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ॥ २ ॥

(पृथिवी, जल, तेजस् अर्थात् अग्नि और वायु—ये चार ही तत्त्व हैं। इन चार जडतत्त्वों के अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के यथोचित मात्रा में संयोग होने पर इनकी संज्ञा होती है– शरीर, समस्त चक्षुरादि इन्द्रिय और उनके सम्पूर्ण रूपादि विषय।)

तेभ्यश्चैतन्यम् ॥ ३ ॥

(उन पृथिव्यादि चार भूततत्त्वों के संघात से आपसे आप चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। चैतन्योत्पत्ति में किसी अतीन्द्रिय कर्ता की अपेक्षा नहीं होती।)

किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् ॥ ४ ॥

(जिस प्रकार मादकता के उत्पादक अन्न या वनस्पत्यादि के रसादि के योग से निर्मित मदिरा में मादकता स्वयं आ जाती है उसी प्रकार भूतचतुष्टय के संघात होते ही चैतन्य भी स्वयं उत्पन्न हो जाता है।)

काम एवैकः पुरुषार्थः ॥ ५ ॥

---

२. "वर्णिका भागुरी लोकायतस्य"। —व्या० म० ७।३।४५।

(आस्तिकवादी सम्प्रदाय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं, पर नास्तिकवादी सम्प्रदाय एकमात्र काम अर्थात् विषयासक्ति को ही पुरुषार्थ मानता है ।)

अनुमानमप्रमाणम् ॥ ६ ॥

(इस सम्प्रदाय में अनुमान आदि प्रमाणों की मान्यता नहीं है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूयमान पदार्थों पर इनकी प्रतीति है ।)

चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ॥ ७ ॥

(चेतनाशक्ति से सम्पन्न इस चातुर्भौतिक स्थूल देह के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियातीत किसी आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं है ।)

मरणमेवापवर्गः ॥ ८ ॥

(मृत्यु अर्थात् इस जडतत्त्वविनिर्मित देह के नाश ही मोक्ष है ।)

न धर्मांश्चरेत् ॥ ९ ॥

(धर्मों का आचरण निष्फल है, क्योंकि प्रत्यक्ष में धर्माचरण के सद्यः फलों की प्राप्ति कभी भी दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः धर्माचरण नहीं करना चाहिए ।)

एष्यत्फलत्वात् ॥ १० ॥

(इस सूत्र का सम्बन्ध पूर्व सूत्र से है, अतः धर्माचरण के निषेध के पुष्टी-करण में नास्तिक सम्प्रदाय का यह प्रतिपादन है कि विहित ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के स्वर्ग-सुखादि फल लोक में उपलब्ध नहीं होते। अनुमितिगम्य अप्रत्यक्ष भविष्यत् के ऊपर फलप्राप्ति की निर्भरता है। इस कारण से धर्माचरण निष्प्रयोजन सिद्ध होता है ।)

सांशयिकत्वाच्च ॥ ११ ॥

(और सम्पादित यज्ञादि कर्मों के अलौकिक होने के कारण स्वर्गादि सुख-रूप फल संशय से रहित नहीं हैं। इस कारण से भी धर्माचरण निष्प्रयोजन सिद्ध होता है ।)

कोह्यबालिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात् ॥ १२ ॥

(कौन प्रेक्षावान् पुरुष अपने हस्तगत मूल्यवान् पदार्थों या द्रव्यों को अन्य पुरुष को देना चाहेगा ?)

वरमद्यकपोतः श्वोमयूरात् ॥ १३ ॥

(कल अर्थात् सन्दिग्ध भविष्यत्काल में सुन्दर मयूर की प्राप्ति की प्रतीक्षा में रहने की अपेक्षा आज अर्थात् असन्दिग्ध वर्तमान काल में उपलब्ध अल्प सुन्दर कपोत को ग्रहण कर लेना अधिक श्रेयस्कर है ।)

वरं सांशयिकान्निष्कादसांशयिकः कार्षापणः ॥ १४ ॥

(संशययुक्त स्वर्णमुद्रा की अपेक्षा संशयरहित राजतमुद्रा अधिक श्रेष्ठ है। अर्थात् सुवर्ण मिलने में कुछ सन्देह है पर राजत–मुद्रा तुरन्त मिल रही है— इस अवस्था में बहुमूल्य, किन्तु सन्दिग्ध सोने की अपेक्षा अल्पमूल्य, किन्तु असन्दिग्ध रजत को ले लेने में अधिक चतुरता है।)

शरीरेन्द्रियसंघात एव चेतनः क्षेत्रज्ञः ॥ १५ ॥

(चातुर्भौतिक देह तथा चक्षुरादि इन्द्रियों के समुदाय के अतिरिक्त अन्य किसी इन्द्रियातीत आत्मा आदि का अस्तित्व नहीं है।)

काम एव प्राणिनां कारणम् ॥ १६ ॥

(एकमात्र कामक्रीडा के अतिरिक्त अन्य कोई भी ब्रह्मा या परमेश्वर आदि प्राणियों की उत्पत्ति का कारण नहीं है।)

परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावः ॥ १७ ॥

(ऐसा कोई भी प्रत्यक्षवादी व्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं, जो स्वयं अपनी पारलौकिक या स्वर्गीय अनुभूति का संवाद सुनावे। अतएव परलोकी व्यक्ति के अभाव के कारण परलोक का भी अभाव स्वयं सिद्ध होता है। अर्थात् परलोक नामक किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं।)

इह लोकपरलोकशरीरयोर्भिन्नत्वात्तद्गतयोरपि चित्तयोर्नैकः सन्तानः ॥१८॥

(ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों शरीरों में विभिन्नता होने के तथा तद्गत दो चित्तों में भी सादृश्याभाव के कारण और पारस्परिक सम्बन्धाभाव से आत्मा का अस्तित्व अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है।)

एतावानेव पुरुषो यावदिन्द्रियगोचरः ॥ १९ ॥

(चक्षुरादि इन्द्रियों से जितना मात्र दृष्टिगोचर होता है उतना ही मात्र आत्मा है अर्थात् इस जड शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी विशिष्ट या इन्द्रियातीत आत्मा का अस्तित्व नहीं है।)

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् ॥ २० ॥

(नास्तिक मत में केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण की ही मान्यता है, प्रत्यक्षेतर अनुमानादि प्रमाण सर्वथा अमान्य हैं।)

प्रमाणस्यागौणत्वात्तदर्थनिश्चयो दुर्लभः ॥ २१ ॥

(यदि अनुमान प्रमाण को अनिवार्य रूप से स्वीकृत कर लिया जाय तो त्रिकालव्यापी विश्व के समस्त पदार्थों के अर्थ का निश्चय करना दुर्लभ हो जायगा। अतः अनुमान प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती और अनुमान के असिद्ध हो जाने से शब्दोपमानादि अशेष प्रमाण स्वयं असिद्ध हो जाते हैं।)

कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठिताद् युक्तं जायते ॥ २२ ॥

(प्राण, अपान आदि पाँच वायुओं[3] पर आधारित—इस शरीर से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतएव ज्ञान का आधार यह शरीर ही है।)

सर्वत्र पर्यनुयोगपराण्येव सूत्राणि बृहस्पतेः ॥ २३ ॥

(बृहस्पति के सूत्र स्वयं सर्वथा अखण्ड किन्तु परमतखण्डक होते हैं।)

लोकायतमेव शास्त्रम् ॥ २४ ॥

(एकमात्र लोकायतविद्या ही शास्त्र है अर्थात् नास्तिक-वाङ्मय के अतिरिक्त अन्य किसी भी साहित्य का शास्त्रत्व प्रमाणित नहीं है।)

प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ॥ २५ ॥

(केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य किसी प्रमाण की प्रामाणिकता नहीं है।)

पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि ॥ २६ ॥

(नास्तिक परम्परा में पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—ये ही चार जड पदार्थ तत्त्व के रूप में स्वीकृत किये गये हैं।)

अर्थकामौ पुरुषार्थौ ॥ २७ ॥

(अर्थ, अर्थात् धनोपार्जन और कामाचरण—ये दो ही पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। यहाँ धर्म और मोक्ष की मान्यता नहीं।)

भूतान्येव चेतयन्ति ॥ २८ ॥

(पृथिवी आदि पाँच जड तत्त्व ही चैतन्य को उत्पन्न करते हैं।)

नास्ति परलोकः ॥ २९ ॥

(इस चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूयमान लोक के अतिरिक्त अन्य किसी भी परलोक की सत्ता नहीं है।)

मृत्युरेवापवर्गः ॥ ३० ॥

(मर जाना ही मोक्ष है। मृत्यु से भिन्न मोक्ष की कल्पना कथञ्चित् विधेय नहीं हो सकती है।)

दण्डनीतिरेव विद्या ॥ ३१ ॥

(बृहस्पति तथा कौटिल्य आदि के प्रणीत अर्थशास्त्र से भिन्न अन्य कोई भी अध्यात्म या वेदान्त आदि शास्त्र विद्यापदवाच्य नहीं हो सकता।)

अत्रैव वार्त्तान्तर्भवति ॥ ३२ ॥

(कृषि, वाणिज्य और गोरक्षा आदि व्यापार भी इसी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हो जाते हैं।)

---

३. "पञ्च शरीरस्था वायुभेदाः, यथा—
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः
शरीरस्था इमे ०००००।" —अमरकोष १।१।६७।

धूर्त्तप्रलापस्त्रयी ॥ ३३ ॥

(ऋक् , सामन् और यजुस्—ये तीन वेद धूर्तों के प्रलापमात्र हैं।)

स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात् ॥ ३४ ॥

(धूर्तों के प्रलाप होने के कारण वेदत्रयी यज्ञानुष्ठान के हेतु से यज्ञकर्ता यजमान को स्वर्ग प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है, अतएव वेद की सत्ता, अपौरुषेयता और नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती।)

लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपीष्यत एव, यत्तु
कैश्चिल्लौकिकं मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते तन्निषिध्यते ॥३५॥

(लोक सिद्ध अनुमान चार्वाकों को भी मान्य है, किन्तु जिस अनुमान के द्वारा लौकिक मार्ग का अतिक्रमण कर इन्द्रियातीत परलोक का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है, चार्वाक उसी (अनुमान) का खण्डन करते हैं।)

पश्यामि शृणोमीत्यादि प्रतीत्या मरणपर्यन्तं
यावन्तीन्द्रियाणि तिष्ठन्ति तान्येवात्मा ॥ ३६ ॥

(मैं देखता हूँ, सुनता हूँ इत्यादि क्रिया-व्यापारों में मृत्युपर्यन्त सहायता देने वाली इन्द्रियाँ ही आत्मा है। मृत्युपर्यन्त सहायक इन्द्रियजात के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है।)

इतरेन्द्रियाद्यभावेऽसत्त्वात् मन एवात्मा ॥ ३७ ॥

(अन्य इन्द्रियादि के अभाव में भी मन का अस्तित्व रहता है। अतएव मन ही आत्मा के रूप में मान्य होता है।)

प्राण एव आत्मा ॥ ३८ ॥

(सूक्ष्मतम दृष्टिसम्पन्न लोकायतिक सम्प्रदाय क्रमशः देह, इन्द्रिय और मन से ऊपर उठकर प्राण को आत्मा मानता है। अतः प्राण ही आत्मा के रूप में सिद्ध होता है।)

न स्वर्गो नापवर्गोवा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥ ३९ ॥

(न कहीं स्वर्ग है, न कोई मोक्ष है और न कोई परलोकगामी आत्मा ही है। ब्राह्मणादि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के धर्मपालन का भी कोई फल-विधान नहीं है।)

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ॥ ४० ॥

(प्रातः और सायंकाल में हवन, ऋक् , सामन् और यजुस् तीनों वेदों का आचार-पालन, दण्डयुक्त संन्यास और ललाट में भस्मधारण—ये कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन पुरुषों की आजीविका के लिये विधाता ने बनाये हैं।)

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते ॥ ४१ ॥

(श्रौतविधि से ज्योतिष्टोम यज्ञ में हिंसित पशु यदि स्वर्ग चला जा सकता है, तो यज्ञकर्ता यजमान स्वयं अपने पिता की हिंसा क्यों नहीं कर देता ? ऐसा करने से यजमान का पिता अनायास ही स्वर्ग चला जाता ।)

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धंचेत्तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धवेच्छिखाम् ॥ ४२ ॥

(ऐहलौकिक श्राद्ध क्रिया से यदि मृत प्राणियों को तृप्ति और पुष्टि होती तो तेल ही बुझे हुए प्रदीप की वत्ती को बाँधता रहता, किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता है ।)

गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ॥ ४३ ॥

(घर पर रहने वाले आत्मीय जनों के द्वारा किये गये श्राद्धकर्म से परलोकगामी या स्वर्ग यात्री पथिक को यदि स्वर्गपथ में तृप्ति या पुष्टि होती तो घर से यात्रा करनेवाले व्यक्तियों को पथ के लिये भोजन देना व्यर्थ है । घर पर ही उनके नाम से किसी बुभुक्षु को भोजन करा दिया जाता और उसी से उन यात्रियों को मार्ग में तृप्ति होती जाती । यात्री भोजन-वहन के भार से मुक्त रहता ।)

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥ ४४ ॥

(यदि इस लोक में दान करने से स्वर्गस्थित प्राणियों को तृप्ति और पुष्टि हो सकती है तो अट्टालिका के उपरी भाग पर रहने वाले व्यक्तियों को निम्न भाग से दिये गये भोजनादिकों से तृप्ति और पुष्टि हो जाती, किन्तु लोक-व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता ।)

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ ४५ ॥

(यथार्थ में देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है तथा देह का नाश भी अवश्यंभावी है । इस परिस्थिति में तपश्चर्या आदि से देह को कष्ट देना भी व्यर्थ है । पुण्य-पापकर्मों के लिये यथार्थतः कोई फल विधान नहीं, अतएव स्वेच्छाचारितापूर्वक सुखमय जीवनयापन ही अधिक श्रेयस्कर है । ऋण लेकर उत्तमोत्तम भोजनादि से अपने को तृप्त करने में ही चतुरता है । कृत ऋण को चुकाना भी निष्प्रयोजन ही है, क्योंकि मृत्यु के उपरान्त दग्ध हो चुकने वाला

शरीर पुनः आने वाला नहीं तो फिर किये गये पुण्यापुण्य कर्म के सुख-दुःख रूप फल का भोक्ता कोई भी नहीं रह जाता है।)

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः॥ ४६॥

(आत्मा यदि देह से निकल कर परलोक में चला जाता है और यदि उसका वहाँ जाना सिद्ध है तो वह बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वहां (परलोक) से फिर लौट क्यों नहीं आता। यदि ऐसा होता तो कभी-कभी वह अवश्य आ जाता।)

ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह।
मृतानां प्रेतकार्याणि नत्वन्यद्विद्यते क्वचित्॥ ४७॥

(मृत प्राणियों के उद्देश्य से जो श्राद्ध आदि क्रियायें की जाती हैं, वे निरर्थक हैं—यह ब्राह्मणों ने अपने जीवन-यापन का उपाय बना लिया है।)

त्रयो वेदस्य कर्तारोभण्डधूर्त्तनिशाचराः।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः कुतः॥ ४८॥

(भण्ड, धूर्त्त और निशाचर—ये ही तीन वेद के रचयिता थे। जर्भरी तुर्फरी आदि निरर्थक तथा अस्पष्ट शब्दों के प्रयोग से उन धूर्तों ने लोकवंचना की है।)

अश्वस्यात्र हि शिश्नन्तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम्।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्॥ ४९॥

(श्रुति-प्रतिपादन है कि अश्वमेध यज्ञ में यज्ञकर्ता यजमान की पत्नी अश्व का शिश्न (लिङ्ग) स्वयं अपनी योनि में स्थापित करे। यह भण्डों की उक्ति प्रतीत होती है। यज्ञ में मांसभक्षण का जो विधान है वह भी मांस-भोजन-प्रेमियों का ही प्रतिपादन अवगत होता है और वे मांसभक्षण-प्रेमी निशाचर ही थे।)

न कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणाञ्च।
माधुर्यमिक्षोः कटुताञ्च निम्बे, स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तम्॥ ५०॥

(कांटों में तीक्ष्णता, मृग-पक्षियों की विचित्रता, ईख में माधुर्य, नीम में तिक्तता-इत्यादि गुण स्वभाव से ही निर्मित होते हैं।)

नग्न श्रमणक दुर्बुद्धे कायक्लेशपरायण।
जीविकार्थे विचारस्ते केन त्वमसि शिक्षितः॥ ५१॥

(हे नग्नरूप आर्हत, हे बौद्धभिक्षु, तुम अपनी मन्दबुद्धि के कारण ही अपने शरीर को क्लेशित करते हो। किसने तुम्हे जीवन-यापन का यह उपाय सिखाया है ?)

प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः ।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ॥ ५२ ॥

(प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध लोक-सत्ता को मिथ्या प्रतिपादन करने वाले वेदान्त को यदि शास्त्र कहा जाय तो फिर बौद्धों ने क्या अपराध किया ?)

लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः ॥ ५३ ॥

(लोकायत व्यवहार का ही अनुसरण करना कल्याणकर है। अर्थात् पारलौकिक चिन्तन को निरर्थक समझने में ही दक्षता है।)

लोकव्यवहारं प्रति सदृशौ बालपण्डितौ ॥ ५४ ॥

(लोक-व्यवहार में मूर्ख और पण्डित अथवा बालक और वृद्ध में कोई अन्तर नहीं अर्थात् दोनों समान ही है।)

ऊपर के उद्धृत सूत्रों में १–२ को जयराशिभट्ट ने "उक्तंच सूत्रकारेण" कहकर तत्त्वोपप्लवसिंह में उल्लिखित किया है। २–४ सूत्रों को भास्कराचार्य ने "तथाच बार्हस्पत्यानि सूत्राणि" कहकर ब्रह्मसूत्रभाष्य में, कमलशील ने "तथा च तेषां सूत्रम्०" कहकर तत्त्वसंग्रहपंजिका में और गुणरत्न ने "लोकायतसूत्रम्" कहकर षड्दर्शनसमुच्चय की तर्करहस्यदीपिका में उद्धृत किया है। २, ३ और ७ सूत्रों को शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में उल्लिखित किया है। ५, ७ और ८ सूत्रों को सदानन्द ने तथा च "बार्हस्पत्यानि सूत्राणि" कहकर अद्वैतब्रह्मसिद्धि में उल्लिखित किया है। सूत्र ५ को नीलकण्ठ ने "तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रम्" कहकर गीता टीका में उद्धृत किया है। सूत्र ६ को अभयदेवसूरि ने "तथा बृहस्पतिसूत्रम्" कहकर तत्त्वबोधविधायिनी टीका में और वाचस्पतिमिश्र ने "इति लोकायतिकाः" कहकर सांख्यतत्त्वकौमुदी में उद्धृत किया है। सूत्र ७ को श्रीधरस्वामी ने "तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रम्" कहकर गीता-टीका में उद्धृत किया है। ८-१४ सूत्रों को वात्स्यायन ने "इति लौकायतिकाः" कहकर कामसूत्र में उल्लिखित किया है। सूत्र १५ को मधुसूदन ने "इति लौकायतिकाः" कहकर गीता की टीका में पूर्वपक्ष-रूप में उद्धृत किया है। सूत्र १६ को आचार्य शङ्कर ने "इति लौकायतिकदृष्टिरियम्" कहकर गीता-भाष्य में उद्धृत किया है। सूत्र १७ को कमलशील ने "तथा हि तस्यैतत्सूत्रम्" कहकर तत्त्वसंग्रहपंजिका में उल्लिखित किया है और प्रकरण वश "तस्य" पद का "लौकायतिकस्य" यह अर्थ प्राप्त होता है। यही सूत्र "लौकायतिकसूत्रम्" कहकर सम्मतितर्कप्रकरण की टीका में उल्लिखित हुआ है। १८-१९ सूत्रों को कमलशील ने "लौकायतिकसूत्रम्" कहकर उल्लिखित किया है। सूत्र २० को अभयदेव सूरि ने "चार्वाकसूत्रम्" कहकर तर्कप्रकरण

की टीका में उल्लिखित किया है। सूत्र २१ को उक्त ग्रन्थ में "एतच्च पौरन्दरं सूत्रम्" कहकर उद्धृत किया गया है। पुरन्दर बार्हस्पत्य मत के ही एक सूत्र प्रणेता थे। सूत्र २२ "तथा च सूत्रं कायादेवेति कम्बलाश्वतरोदितमिति" कहकर तत्त्वसंग्रह में उल्लिखित हुआ है। कम्बलाश्वतर पुरन्दर के ही समान बार्हस्पत्यमतावलम्बी एक ग्रन्थकार थे। सूत्र २३ "इति चार्वाकैरभिहितम्" कहकर सम्मतितर्कप्रकरण में उल्लिखित हुआ है। २४-३४ पर्यन्त ११ सूत्र "इत्येतदस्माकमभिप्रायानुवर्त्तिना बाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितं, तेन च शिष्योपशिष्यद्वारेणास्मिन् लोके बहुलीकृतं तन्त्रम्" कहकर कृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में उद्धृत किये गये हैं।

भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उल्लिखित ग्यारह सूत्रों को बृहस्पति ने स्वयं रचकर प्रचार के लिए चार्वाक-सम्प्रदाय को अर्पित कर दिया। सूत्र ३५ को "पुरन्दरस्त्वाह" कहकर तत्त्वसंग्रह की पंजिका में उल्लिखित किया गया है। पुरन्दर की इसी उक्ति को लक्ष्य कर शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में पूर्वपक्ष किया है: "लौकिकं लिङ्गमिति चेत्"। परवर्त्ती ३६-३८ पर्यन्त तीन सूत्रों का सदानन्द ने "इति केचित्", "इत्यपरे" और "इत्यन्ये" कहकर उल्लेख किया है। सदानन्द के "केचित्", "अपरे" और "अन्ये" ये तीन पद बार्हस्पत्यों को ही लक्ष्य कर प्रयुक्त हुए होंगे। ५१, ५३ और ५४ सूत्रों का जयराशि ने तत्त्वोपप्लवसिंह में उल्लेख किया है। सूत्र ५२ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक और सर्वमतसंग्रह से गृहीत हुआ है।

सूत्र-ग्रन्थों में श्लोक भी दृष्टिगोचर होते हैं। वात्स्यायन-प्रणीत कामसूत्र और कौटिल्यार्थशास्त्र का प्रचलित संस्करण सूत्र और श्लोक दोनो के सम्मिश्रण से रचित हुआ है। माधवाचार्य ने चार्वाक-दर्शन को इसी मिश्रित रूप में प्रदर्शित किया है। अतएव, सम्प्रति लुप्तप्राय बार्हस्पत्य दर्शन के मूल ग्रन्थ का इसी प्रकार सूत्र-श्लोक-मिश्रित रूप में प्रणयन हुआ था, यह अनुमान सम्भवतः अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा। माधवाचार्य ने "सर्वदर्शनसंग्रह" में उपर्युक्त सूत्रों में ३९ से ४९ तक ग्यारह श्लोकों को "बृहस्पतिनाप्युक्तम्" इस युक्ति के द्वारा, स्वयं बृहस्पति-रचित कहकर स्वीकार किया है। माधवाचार्य की अपेक्षा प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थकर्त्ताओं ने भी इन श्लोकों में अनेक को चार्वाकवचन कहकर उल्लिखित किया है। अतएव, इन ग्यारह श्लोकों को भी मूल चार्वाक-दर्शनग्रन्थ के अंश के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। कालक्रम से स्वभाव, यदृच्छा प्रभृति कतिपय छोटे-छोटे दार्शनिक मतवाद अपनी स्वतंत्रता को विस्मृत कर बार्हस्पत्य मत के अन्तर्भुक्त हो गये। ५० संख्यक श्लोक भट्टोत्पल की बृहत्संहिता की टीका में, गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चय-वृत्ति में और भल्लन-कृत

सुश्रुत-टीका में स्वभाववादी के मतरूप में संरक्षित है। स्वभाववाद को बार्हस्पत्य मत से अभिन्न मानकर स्वीकृत होने से बार्हस्पत्यसूत्र मानकर ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार यत्र-तत्र उपर्युक्त बार्हस्पत्य सूत्रों के उद्धरण की विवृति उपलब्ध होती है।[४]

शास्त्रों में बृहस्पति-प्रणीत "अर्थशास्त्र" नामक ग्रन्थ की चर्चा इतस्ततः उपलब्ध होती है, किन्तु पुस्तकाकार "बार्हस्पत्यार्थशास्त्र" नामक मूलग्रन्थ वर्तमान काल में सम्भवत. उपलब्ध नहीं है। श्री दक्षिणारंजन शास्त्री ने "चार्वाकषष्टि" नामक ग्रन्थ में "बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र" के निम्नलिखित कतिपय सूत्रों का उद्धरण दिया है। उनमें निम्नलिखित बीस सूत्र सुकृत-दुष्कृत-कर्म-फलाभाव के प्रतिपादक हैं। यथा—

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र

न भस्मधारणम् ॥ १ ॥

(ललाट में या शरीर में भस्म लगाना मिथ्या तथा दम्भमात्र है।)

नाग्निहोत्रवेदपाठादीनि च ॥ २ ॥

(श्रौत ग्रन्थों में जो प्रातः और सायंकाल में अग्नि में हवन का विधान है उसके खण्डन में चार्वाकों का प्रतिपादन है कि अग्निहोत्र और वेदपाठ आदि कार्य भी निष्प्रयोजन होने के कारण अविधेय हैं।)

न तीर्थयात्रा ॥ ३ ॥

(पारलौकिक सुखोपलब्धि की भावना से तीर्थयात्रा करना भी निष्फल और अविधेय है।)

सर्वोऽर्थार्थं करोत्यग्निहोत्रसन्ध्याजपादीन् ॥ ४ ॥

(समस्त लोक धन प्रान्ति के उद्देश्य से ही अग्नि में त्रिकाल हवन, सन्ध्या-पूजा तथा जप आदि दाम्भिक कृत्य करते हैं।)

स्वदोषं गूहितुं कामार्तो वेदं पठति ॥ ५ ॥

(अपने दोष को छिपाने के लिये ही कामी पुरुष वेदादि का पाठ करता है।)

अग्निहोत्रादीन्करोति ॥ ६ ॥

(अपने दोष को छिपाने के ही लिये त्रिकाल हवन आदि कृत्य करता है।)

सुरापानार्थं महिलामेहनार्थं करोति ॥ ७ ॥

(सुरा अर्थात् मदिरापान और महिलाओं के सङ्गम करने के उद्देश्य से कामी पुरुष वेदपाठ और अग्निहोत्र आदि कर्म करता है।)

---

४. Vide शास्त्री० १७४–१७६।

विष्ण्वादयः सुरापायिनः ॥ ८ ॥

(विष्णु आदि प्रसिद्ध देव भी मद्यपान करते थे ।)

शिवादयः ॥ ९ ॥

(शिव आदि देवगण भी सुरापायी हैं ।)

शृङ्गारवेशं कुर्यात् ॥ १० ॥

(विविध शृङ्गार–रचनाओं से चतुर व्यक्ति को अपने को आभूषित तथा आकर्षक बनाना चाहिये ।)

अक्षैर्दीव्यात् ॥ ११ ॥

(द्यूतक्रीडा अर्थात् पासों का खेलना पुरुषार्थ है ।)

नैव दिव्याच्च ॥ १२ ॥

(व्यर्थ स्वर्ग की कामना कभी न करनी चाहिये, क्योंकि स्वर्ग नामक पदार्थ का कहीं भी अस्तित्व नहीं है ।

आम्रवनानि सेवयेत् ॥ १३ ॥

(आम्र आदि सुन्दर उद्यानों में आनन्द विहार करने में ही जीवन साफल्य है ।)

मांसानि च ॥ १४ ॥

(और मांसादि पुष्टिकर भोजन करने में संकोच नहीं करना चाहिये, क्योंकि इससे शारीरिक पुष्टि के साथ–साथ काम–शक्ति की भी वृद्धि होती है ।)

मत्तकामिन्यः सेव्याः ॥ १५ ॥

(मदोन्मत्त तथा कामिनी सुन्दरियों का सङ्गम करने में संकोच नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसमें सद्यः तथा प्रत्यक्ष आनन्दानुभूति होती है ।)

दिव्यप्रमदादर्शनञ्च ॥ १६ ॥

(और सुन्दरी तथा मद–माती कामिनियों का दर्शन करना चाहिये, क्योंकि इससे प्रत्यक्ष मानसिक प्रसन्नता प्राप्त होती है ।)

नेत्राञ्जनञ्च ॥ १७ ॥

(नेत्रों में अंजनादि सुगन्धित तथा प्रसादक वस्तुओं को लगाना चाहिये, क्योंकि शारीरिक सौन्दर्य से सार्वत्रिक प्रसन्नता होती है ।)

आदर्शदर्शनञ्च ॥ १८ ॥

(दर्पण भी नियमित रूप से देखना चाहिये, क्योंकि रूपसौन्दर्य से मानसिक तृप्ति होती है ।)

ताम्बूलचर्वणञ्च ॥ १९ ॥

(ताम्बूल आदि सुगन्धित पदार्थ को चबाकर मुख को सुवासित रखना चाहिये—ऐसा करने से काम–वृद्धि होती है ।)

कर्पूरचन्दनागुरुधूपश्च ॥ २० ॥

(और शरीर में कर्पूर, श्वेतचन्दन, अगर आदि सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन और धूप की गन्ध लगाकर मन को परितृप्त करना चाहिये। इससे शारीरिक सौन्दर्य-वृद्धि के साथ मानसिक उत्साह का भी संचार होता है।)

वेद के खण्डन में बृहस्पति के प्रणीत निम्नलिखित पांच सूत्र उपलब्ध होते हैं :

वृथा धर्मं वदत्यर्थसाधनं लोकायतिकः पिण्डादायश्चौर इति च ॥ २१ ॥

(लोकायतिकों का प्रतिपादन है कि धर्म केवल धनोपार्जन का साधन मात्र और निरर्थक है और पिण्डादाय अर्थात् श्राद्धभोजी पुरोहित चोर होता है।)

सोऽप्यशनार्थं धर्मं वदति, ॥ २२ ॥

(पुरोहित ब्राह्मण भी भोजन-प्राप्ति के उद्देश्य से धर्मोपदेश करता फिरता है।)

परापवादार्थं वेदधर्मशास्त्रादीन् पठति ॥ २३ ॥

(पर अर्थात् अन्य यजमान आदि की निन्दा के लिये और अर्थ-प्राप्ति के हेतु प्रायश्चित्त आदि विधान में वेदधर्मशास्त्र आदि पढ़ता है।)

सर्वान्निन्दति ॥ २४ ॥

(पुरोहित ब्राह्मण किसी न किसी रूप में सब की निन्दा ही करता है।)

महेश्वरविष्णवादीनपि ॥ २५ ॥

(शिव और विष्णु आदि सम्पूर्ण देवताओं की भी (पुरोहित) निन्दा करता है।)

ईश्वर के खण्डन में बृहस्पतिप्रणीत एक सूत्र का विधान है :-

आत्मवान् राजा ॥ २६ ॥

(लौकिक राजा के अतिरिक्त अन्य किसी भी इन्द्रियातीत ईश्वर या परमेश्वर का अस्तित्व नहीं है।)

लोकायतिक विद्या के ही एक मात्र शास्त्रत्व विधान में बृहस्पति के दो सूत्र मिलते हैं :-

सर्वथा लोकायतिकमेव शास्त्रम् ॥ २७ ॥

(लोकायतिक विद्या ही एकमात्र शास्त्र है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई शास्त्र नहीं है।)

इत्याहाचार्यो बृहस्पतिः ॥ २८ ॥

(इस प्रकार आचार्य बृहस्पति ने लोक-कल्याण की भावना से सिद्धान्त-प्रतिपादन किया है।)

व्यास और तर्कवाद

भगवान् व्यासदेव (ई० पू० ५०० शती) ने अपने उत्तरमीमांसादर्शन में तर्क की अप्रतिष्ठा की स्थापना में एक सूत्र का प्रणयन किया है—

तर्काप्रतिष्ठानात् २। १। ११।

(तर्क की अप्रतिष्ठितता और अनन्तता अथवा असीमता के कारण ईश्वरादि अतीन्द्रिय तत्त्वों की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे—एकमतावलम्बी तार्किक के द्वारा उपस्थित की गई युक्ति को अन्यमतावलम्बी तार्किक नहीं मानता, वह उसमें दोष सिद्ध कर द्वितीय युक्ति उपस्थित करता है, किन्तु द्वितीय युक्ति को वह प्रथम मतावलम्बी नहीं मानता, वह उसमें भी दोष सिद्ध कर नई ही युक्ति प्रस्तुत करता है। इस प्रकार एक के अन्तर द्वितीय तर्क के उठते रहने से उन (तर्कों) की कहीं स्थिरता अथवा समाप्ति नहीं है—यह कथन उचित है, तथापि अन्य प्रकार के अनुमान के द्वारा कारणतत्त्व का निश्चय करना चाहिये-यह कोई कहे तो उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में कोई भी तार्किक-अनुमान सत्यज्ञान करानेवाला नहीं होता। अतएव उसके द्वारा तत्त्वज्ञान असंभव है। और तत्त्वज्ञान के अभाव में मोक्ष असिद्ध हो जाता। अतः सांख्य मत में संसार से मोक्ष नहीं होने का प्रसंग आ जाता है।)

महाभारतकार की भी यही मन्तव्यता है। उनके मत में तर्क की कोई सीमा नहीं, श्रुतियाँ अनेक और परस्पर में विभिन्नार्थक हैं और कोई एक ऐसा सिद्ध ऋषि-मुनि नहीं, जिसके मत को आदर्श या आधार मान कर कोई आत्महितैषी निःसंशय होकर अपने लक्ष्य पर अग्रसर हो सके। धर्माधर्म या कर्त्तव्याकर्त्तव्य का रहस्य दुर्ज्ञेय है। ऐसी स्थिति में अपने-अपने मनोनीत महापुरुषों के द्वारा अनुमोदित मार्ग का अन्धविश्वासी होकर अनुसरण करना पड़ता है। महापुरुषत्व की परिभाषा भी भिन्न भिन्न मतावलम्बियों की भिन्न-भिन्न हो सकती है।[५]

कपिल और निरीश्वरवाद

कपिल मुनि का समय विद्वानों ने ई० पू० ५०० वर्ष के लगभग निर्धारित किया है। आचार्य कपिल ने ईश्वर की असिद्धि में ६ और पूर्व पक्ष के रूप में

---

५. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः,
नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥ —भा० वन० ३१३।११७

वेद की अप्रामाणिकता में २ अर्थात् समस्त ८ सूत्रों का प्रणयन किया है। यथा :—

ईश्वरासिद्धेः । १ । ६२

(मानसिक प्रत्यक्ष के न मानने से ईश्वर की सिद्धि न होगी, क्योंकि रूप आदि इन्द्रियविषय न होने से ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति नहीं हो सकती। जब ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हुआ तो अनुमान भी न होगा, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष व्याप्तिपूर्वक होता है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।)

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः १ । ६३ ।

(संसार में कोई भी चेतन मुक्तावस्था और बद्धावस्था से भिन्न नहीं। यदि ईश्वर को बद्ध मान लिया जाय तो उसमें सृष्टि करने की शक्ति नहीं रह जाती और यदि मुक्त मान लिया जाय तो इच्छा के अभाव से वह सृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि कर्त्ता की इच्छा के विना सृष्टि-कार्य असंभव है।)

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ५ । २ ।

(ईश्वर के नामोच्चारण मात्र से फलप्राप्ति नहीं हो सकती, किन्तु उसका हेतु कर्म है, जिसके सम्पादन से फल मिलता है। अतः ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती।)

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् । ५ । ३ ।

लौकिक प्राणियों के समान ही ईश्वर को भी आत्म-कल्याण के साधन में ही प्रवृत्ति होगी और हम एवं ईश्वर में कोई अन्तर न रह जायगा। इस कारण भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।)

लौकिकेश्वरवदितरथा । ५ । ४ ।

(यदि ईश्वर को समस्त कर्मों के फलदाता के रूप में मान लिया जाय तो लौकिक ईश्वर अर्थात् राजाओं के समान भिन्न-भिन्न कर्म फलदाता भिन्न-भिन्न ईश्वर मानने पड़ेंगे। अतः ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।)

प्रामाणाभावान्न तत्सिद्धिः । ५ । १० ।

(ईश्वर के संसार के उपादान कारण होने में कोई प्रमाण नहीं, अतएव ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।)

कपिल और अवैदिकवाद

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः । ५ । ४५ ।

(वेद नित्य नहीं है, क्योंकि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" उस यज्ञ-रूप परमात्मा से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न

हुए। जब वेदों की उत्पत्ति सिद्ध है तब यह निश्चय है कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी अवश्यंभावी है। अतएव कार्यरूप होने के कारण वेद नित्य नहीं हो सकते हैं।)

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः।५।४८।

(शब्द नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि उच्चारण से उत्पन्न शब्द मुहूर्त भर में नष्ट हो जाता और उत्पन्न होने वाला पदार्थ नश्वरता के कारण अनित्य है। अतः वेद भी अनित्य ही है।)

गौतम और अवैदिकवाद

महर्षि गौतम न्याय शास्त्र के प्रणेता हैं। विद्वानों के मत से इनका समय ई० पू० २-३ शताब्दी माना गया है। आचार्य गौतम ने उपमान प्रमाण के खण्डन मे १ और शब्द रूप वेद के खण्डन में २ दो सूत्रों का प्रणयन किया है—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः।२।१।४४।

(अर्थात् अत्यन्त तथा एकदेशीय समानधर्मता के कारण उपमान का प्रामाण्य स्वीकार नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त सधर्मता के कारण "गौ के समान गौ"—इस वाक्य में उपमान की सिद्धि नहीं और एकदेशीय समानधर्मता के कारण "वृषभ के समान महिष"—इस वाक्य में भी उपमान में प्रमाण की सिद्धि नहीं होती। उपर्युक्त दोनों वाक्य निरर्थक प्रतीत होते हैं।)

शब्दोनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् २।१।४६

(आचार्य गौतम का प्रतिपादन है कि शब्द का अस्तित्व अनुमान से पृथक् नहीं है, क्योंकि शब्दगत अर्थ का ही अनुमान होता है। अर्थ का प्रत्यक्ष भाव नहीं होता। अतएव शब्द के अनुमान के ही अन्तर्गत सन्निकट हो जाने के कारण उस (शब्द) का स्वतंत्र प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में शब्द की असिद्धि होने से शब्दमय वेद की भी स्वतः असिद्धि हो जाती है।)

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः २।१।५७

(अनृत अर्थात् असत्य, व्याघात परस्पर विरुद्धार्थप्रतिपादन और पुनरुक्त अर्थात् एक ही विषय की पुनरावृत्ति—इस दोषत्रय के कारण शब्दमय वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती है।)

जैमिनि और अवैदिकवाद

विद्वानों के मत में पूर्वमीमांसा शास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य जैमिनि का समय ई० पू० ३०० शतक है। आचार्य जैमिनि ने अपने शास्त्र में पूर्व पक्ष के रूप में वेदप्रामाण्य विरोधी २३ सूत्रों का प्रण्यन किया है। मीमांसा दर्शन के ऊपर

शबर मुनि का भाष्य प्रामाणिकतम माना गया है। उसी के अनुसार कतिपय विवरण उद्धरणीय हैं। यथा :—

अस्थनात् (१।१।७)

(मुहूर्त्तमात्र भी उच्चारित शब्द स्थिर नहीं रहता—तत्क्षण में ही विनष्ट हो जाता है, अतएव शब्द अर्थात् शब्दमय वेद की अनित्यता सिद्ध हो जाती है।)

करोतिशब्दात् (१।१।८)

(शब्द में क्रियमाणता होती है जैसे—देवदत्त ने यज्ञदत्त से कहा—"शब्द करो"—"यज्ञदत्त ने शब्द किया"—इस लोक व्यवहार से शब्द परतः प्रमाण में आता है। अतएव, शब्द की नित्यता प्रमाणित नहीं होती है।)

सत्त्वान्तरे यौगपद्यात् (१।१।९)

(इस देश और अन्य देशों में एक ही समय में और एक ही साथ एक ही शब्द के उपलब्ध होने के कारण भी शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।)

प्रकृतिविकृत्योश्च (१।१।१०।)

(प्रकृति और विकृति के कारण भी शब्द अनित्य प्रमाणित होता है। जैसे "दध्यत्र" इस पद में "इ" कार प्रकृति है और "य" कार विकृति। जिसमें विकार होता है वह अनित्य है और "य" का इकार के साथ सादृश्य है। अतः शब्द अनित्य है।)

वृद्धिश्चकर्तृभूम्नाऽस्य (१।१।११)

(जब बहुत लोग मिलकर एक साथ शब्दोच्चारण करते हैं, तब वह शब्द महान् प्रतीत होता है और वही शब्द एक पुरुष के द्वारा उच्चारित होने पर लघु प्रतीत होता हैं, इससे भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है।)

नित्यदर्शनाच्च (१।१।२८)

(वेद में "प्रावाहणि", अर्थात् "प्रवाहण के पुत्र "बबर" और औद्दालकि", अर्थात् उद्दालक के पुत्र कुसुरविन्द आदि जनन-मरणशील मनुष्यों का उल्लेख पाया जाता है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेद के उन भागों की रचना, जहां, "प्रावाहणि" और "औद्दालकि" प्रभृति मनुष्यों का उल्लेख है, उन (प्रावाहणि और औद्दालकि) मनुष्यों के पीछे हुई, इस कारण वेद की अनादिता और प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।)

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च (१।२।२)

(शास्त्रों के पारस्परिक और सैद्धान्तिक विरोधी होने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्र परस्पर में विरुद्धार्थप्रतिपादक हैं।)

तथाफलाभावात् (१।२।३)

(किये हुए सुकृत और दुष्कृत कर्मों के सुख और दुःख रूप फलों के प्रत्यक्ष अभाव के कारण वेद की नित्यता सिद्ध नहीं होती ।)

अन्यानर्थक्यात् (१।२।५)

("यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही कामनाएं सिद्ध होती हैं, अश्वमेध-यज्ञकर्त्ता यजमान मृत्यु को पार कर जाता है, ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है इत्यादि निरर्थक वादों के कारण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही मनोरथों को पूर्ण होते नहीं देखा जाता ।)

अभागिप्रतिषेधाच्च (१।२।४)

("अयुक्त प्रतिषेध किये जाने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती । वेद में कहीं कहीं अभागिप्रतिषेधक वाक्य मिलते हैं । जैसे—"न पृथ्वी में अग्नि-चयन करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में और न स्वर्ग में, यहां अयुक्तप्रतिषेध किया गया है, क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि अन्तरिक्ष-आकाशादि में अग्नि-चयन नहीं होता, फिर भी पृथ्वी के साथ आकाश में भी अग्नि-चयन का प्रतिषेध किया गया है इत्यादि अयुक्तप्रतिषेधता के कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है ।)

अनित्यसंयोगात् (१।२।६)

(अनित्य संयोग होने के कारण भी वेद की प्रामाणिता सिद्ध नहीं होती । अनित्य संयोग का अर्थ होता है—सामान्यश्रुति, अर्थात् केवल शब्द-श्रवण । जैसे, किसी व्यक्ति का अभिधान—नाम है "बृहस्पति" । पर, वह "बृहस्पति" नामक व्यक्ति है "महामूर्ख" । अत एव, वह बृहस्पति नामक व्यक्ति अर्थतः बृहस्पति नहीं होकर केवल श्रुतितः "बृहस्पति" है । इसी प्रकार, किसी दुराचारी पुरुष का नाम साधु है और किसी व्याध का नाम "दीनदयालु" । परन्तु, वह साधु नामक पुरुष व्यवहारतः चोर है और दीनदयालु नामक पुरुष व्यवहारतः व्याध—अर्थात् हिंसक है इत्यादि ।)

अपराधकर्तुश्च पुत्रदर्शनम् (१।२।१३)

(यदाकदाचित् पुंश्चली पत्नी के अपराध, अर्थात् दुराचरण से भी यज्ञकर्ता पति को पुत्र का दर्शन होता है—यहां पुत्र के दर्शन में वैदिक यज्ञानुष्ठान की कारणता नहीं है, इस लौकिक प्रमाण के उदाहरण से भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ।)

विधिस्त्वानर्थकः क्वचित् , तस्मात् स्तुतिः प्रतीयते,
तत्सामान्यादितरेषुतथात्वम् (१।२।२३)

(कभी-कभी और कहीं-कहीं विधि-वाक्य अनर्थकारी सिद्ध होता है। उस (विधि वाक्य) से शाब्दिक स्तुति का बोध होता है और इसी प्रकार, अन्यत्र भी स्तुति-बोधक मात्र ही रह जाता है, इस कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।)

तदर्थशास्त्रात् (१।२।३१)

(वेद के मन्त्र शब्दप्रधान न होकर अर्थप्रधान होते हैं। यदि शब्द की प्रधानता होती, तब तो मन्त्रोच्चारण-मात्र से कल्याण होता, किन्तु कल्याण तो अर्थप्रकाश में ही अन्तर्निहित रहता है, इस कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।)

वाक्यनियमात् (१ । २ । ३२)

मन्त्रों में पद-क्रम नियमित होता है। यदि पद-क्रम अनियमित कर दिया जाय, तो मन्त्र अर्थहीन हो जाते हैं। जैसे—"अग्निमीडे पुरोहितम्", (१०.१। १। १) का विपर्यय कर देने से रूप होगा—"मृतहिरोपु डेमीग्निअ"। अतएव, मंत्रों के पद-क्रम में बाधक होने के कारण भी वेद प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।)

बुद्धशास्त्रात् (१ । २ । ३३)

(वेद ही एकमात्र ज्ञानप्रद शास्त्र है, अतएव वेद का स्वाध्याय अर्थावबोध के साथ होना चाहिए। ऐसा नहीं होने से वेद निरर्थक और अप्रामाणिक सिद्ध होता है।)

अविद्यमानवचनात् (१ । २ । ३४)

(शब्दों के अनुसार अर्थ न रहने के कारण और अर्थ के अनुसार, शब्द न रहने के कारण अर्थ सहित स्वाध्याय भी असम्भव है, इस कारण भी वेद की उपयोगिता अथवा प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।)

अचेतनेऽर्थबन्धात् (१ । २ । ३५)

('हे औषधि, तुम इस रोगी का रोगहरण कर त्राण करो"—इस प्रकार, जड पदार्थ में अपने अर्थो से बद्ध वेद पठन-पाठन के योग्य नहीं—सर्वथा अयोग्य सिद्ध होता है।)

अर्थविप्रतिषेधात् (१ । २ । ३६)

(परस्पर विरोधी अर्थों के प्रतिपादक अथवा तदर्थक वाक्यों की ही पुनरावृत्ति के कारण वेद का पठन-पाठन अयोग्य सिद्ध होता है।)

स्वाध्यायवदवचनात् (१ । २ । ३७)

(जिन वाक्यों में वेद के पठन-पाठन का विधान है, उन वाक्यों में अर्थसहित पठन-पाठन का विधान नहीं मिलता। अतएव सार्थक पठन-पाठन उपयुक्त नहीं है। इस परिस्थिति में वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है।)

अविज्ञेयात् (१ । २ । ३८)

(कुछ मन्त्रों की अज्ञेयार्थकता के कारण वेद का पठन-पाठन अनुपयुक्त है। वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिनका अर्थ अविज्ञेय है या वे मन्त्र अर्थहीन निरर्थक हैं।)

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् (१ । २ । ३९)

(अनित्य पदार्थों, यथा—जन्म, मरण, यौवन, जरा आदि का सम्बन्ध होने से मन्त्रों का पठन-पाठन निरर्थक है। वेद में "कीकट" नामक जनपद, "नैचाशाख" नामक नगर और "प्रमंगद" नामक राजा के विषय में चर्चा है। ये सभी जनन-मरणशील तथा यौवन-जरा से युक्त थे और इसलिए अनित्य भी। इससे भी प्रतीत होता है कि इन अनित्य द्रव्यों के पीछे ही वेद की रचना हुई, यह निर्विवाद है।)

हेतुदर्शनाच्च (१ । ३ । ४ ।)

(ऋषियों के द्वारा प्रोक्त होने के साथ-साथ व्याख्या रूप होने के कारण भी वेदों का परतः प्रमाण में ग्रहण किया गया है। अतएव वेद का प्रामाण्य असिद्ध ही रह जाता है।)

वात्स्यायन और कामाचारपुरुषार्थवाद

आचार्य वात्स्यायन के कामसूत्र में कर्मफल की असिद्धि सम्बन्धी ६ सूत्रों के अतिरिक्त कामाचरण और पुरुषार्थ विधान में भी २ सूत्र उपलब्ध होते हैं। कामसूत्र के ऊपर यशोधराचार्य की विरचित "जयमंगला" टीका प्रामाणिक मानी जाती है। यथा—

शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः

आहारसधर्माण इति आहारतुल्याः, यथाऽऽहारो जीर्णादिदोषं जनयन्नपि प्रतिदिनं शरीरस्थितये सेव्यते, तथा कामोऽपि, अन्यथा रागोद्रेकादुन्मादादिदोषेण न शरीरस्थितिरिति। का० सू० ज० १ । २ । ४६ ।

(कामचार भी दैनिक आहार के समान ही सेवनीय है। जिस प्रकार दैनिक आहार का अजीर्णादि दोष के उत्पादक होने पर भी शरीर की रक्षा के लिये उपयोगी मान कर सेवन किया जाता है उसी प्रकार कामाचार का भी सेवन करना विधेय है। कामाचरण के सर्वथा परित्याग से उन्मादादि दोषों की उत्पत्ति की संभावना रहती है, जिससे शरीर स्थिति भी उपद्रवित हो सकती है।)

नहि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते, न हि मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्त इति वात्स्यायनः

यत्र क्वचन दोषप्राप्तिरवश्यं सेव्यश्च कामस्तं दोषप्रतिविधानेन सेवेतेति, अयं च न्यायो लोकेष्वप्यस्तीति दर्शयति—नहीत्यादिना, तथा चोक्तम्—

"तृणानामिव हि व्यर्थं नृणां जन्म सुखद्विषाम्।

दोषास्तु परिवर्त्तव्या इत्याचार्यैः स्थिरीकृतम्" ॥का०सू०ज०१।२।४८।

(लोकव्यवहार में ऐसा तो नहीं देखा जाता कि भिक्षार्थी हैं इस भय से भोजन-पात्र पाककार्य के लिये चुल्हे पर नहीं चढ़ाये जाते अथवा मृगों का उपद्रव संभव है अतः धान नहीं रोपे जाते ।[६])

अजितकेशकम्बली और उच्छेदवाद

अजितकेशकम्बली (ई० पू० ५००–५५०) ने उच्छेदवाद का विवरण दिया है। अजितकेशकम्बली के सभी साहित्य पालि-भाषा में निबद्ध हैं। विवरण इस प्रकार है—

"नत्थि, महाराज, दिन्नं, नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं, नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको, नत्थि माता, नत्थि पिता, नत्थि सत्ता ओपपातिका, नत्थि लोके समण-ब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना ये इमं च लोकं परं च लोकं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेन्ति। चातुमहाभूतिको अयं पुरिसो यदा कालं करोति, पठवी पठविकायं अनुपेति अनुपगच्छति, आपो आपो कायं अनुपेति अनुपगच्छति, तेजो तेजोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, वायो वायोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, आकासं इन्द्रियानि सङ्कमन्ति। आसन्दिपञ्चमा पुरिसा मतं आदाय गच्छन्ति। यावालाहना पदानि पञ्ञायन्ति। कापोतकानि अट्ठीनि भवन्ति। भस्सन्ता आहुतियो। दत्तु-पञ्ञत्तं यदिदं दानं। तेसं तुच्छं मुसा विलापो ये केचि अत्थिकवादं

---

६. (क) वाचस्पति मिश्र ने अनुमान प्रमाण के निराकरण में एक सूत्र का उल्लेख किया है। यथा–"नानुमानं प्रमाणम्" (सा० कौ० ५ पृ० १३७)।

(ख) मधुसूदन आदि भाष्यकारों ने देहात्मवाद के समर्थन में एक और काम के ही पुरुषार्थत्व में एक अर्थात् दो सूत्रों का उद्धरण किया है। यथा—

(१) "चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः।" और

(२) "काम एवैकः पुरुषार्थः" (गीता म० नी० १६।११)

वदन्ति । बाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिज्जन्ति विनस्सन्ति, न होन्ति परं मरणा" ति" इत्थं खो मे, भन्ते"।[७]

(महाराज, न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य या पाप का अच्छा या बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है, न अयोनिज =औपपातिक, देव) सत्त्व है और न इस लोक में वैसे ज्ञानी और समर्थ श्रमण या ब्राह्मण हैं जो इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर और साक्षात् कर (कुछ) कहेंगे । मनुष्य चार महाभूतों से मिल कर बना है । मनुष्य जब मरता है तब पृथ्वी महापृथ्वी में लीन हो जाती है, जल महाजल में लीन हो जाता है, तेज महातेज में लीन हो जाता है, वायु महावायु में लीन हो जाता है, और इन्द्रियां आकाश में लीन हो जाती हैं। मनुष्यलोग मरे हुए को खाट पर रख कर ले जाते हैं, उसकी निन्द-प्रशंसा करते हैं । हड्डियां कबूतर की तरह उजली हो (बिखर) जाती हैं, और सब कुछ भस्म हो जाता है । मूर्ख लोग जो दान देते हैं, उसका कोई फल नहीं होता । आस्तिकवाद (=आत्मा है), झूठा है । मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं । मरने के बाद कोई नहीं रहता, भन्ते ।)

रामायण और लोकायतवाद

रामायण में भी चार्वाक–मत–सम्बन्धी साहित्य का अभाव नहीं । इन शास्त्रों में भी उच्छेदवाद का विवरण और परलोक तथा सुकृत दुष्कृत कर्मफलों का खण्डन पाया जाता है । केवल प्रत्यक्ष में दृश्यमान तत्त्व को ही स्वीकार किया गया है । वैदिक यज्ञ, जप आदि की भी कटु आलोचना हुई है । यथा–

> अष्टकापितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः ।
> अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १ ॥

(ग) बाणभट्ट (सप्तमशती) के काव्य में लोकायतिक साहित्य का नामोल्लेख उपलब्ध होता है । यथा–"लोकायतिकविद्ययेव"–कादम्बरी० २८१ ।

(घ) कृष्ण मिश्र (एकादशशती) ने लोकायतिक के सिद्धान्त के स्थापन में सात सूत्रों का उद्धरण किया है । यथा–(१) "सर्वथा लोकायतमेव शास्त्रम्", (२) "प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्", (३) "पृथिव्यप्तेजोवायवस्तत्त्वानि", (४) "अर्थकामावेव पुरुषार्थौ", (५) "भूतान्येव चेतयन्ति", (६) "नास्ति परलोकः", (७) "मृत्युरेवापवर्गः" । (प्र० च० २।४५) ।

७. दी० नि० सामञ्ञफलसुत्त ।

(लोग जो पितरों के उद्देश्य से प्रतिवर्ष अष्टका आदि श्राद्ध कर्म किया करते हैं। देखो, उसमें लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं ? भला, कहीं मृत प्राणी भोजन करता है ?)

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात्प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ २ ॥

(यदि एक का खाया हुआ अन्य दूसरे के शरीर में पहुँच जाता है तो पथिक को मार्ग में भोजन करने के लिये भोज्य पदार्थ को अपने साथ ले जाने का प्रयोजन ही क्या है, क्योंकि उसके सम्बन्धी उसके नाम से घर पर ही श्राद्ध कर दिया करते और वही उस पथिक के लिये मार्ग के भोजन का कार्य करता।)

दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व सन्त्यज ॥ ३ ॥

(अन्य उपायों से धनोपार्जन में क्लेश देख मेधावी लोग दान के द्वारा लोगों को वश में करने के लिये धर्मशास्त्रों में लिखा है कि यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास ग्रहण करो—अर्थात् लोगों को धोखा देकर उनका धन हरण करना ही उन धर्म-ग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है।)

स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु[८] ॥ ४ ॥

(हे महामति, वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है—इसे आप भली भाँति समझ लीजिये। अतः जो प्रत्यक्ष है उसे ग्रहण कीजिये और जो परोक्ष है उसे उपेक्षित कीजिये।)

पद्मपुराण और लोकायतवाद

पुराण साहित्य में भी चार्वाक-मत-सम्बन्धी साहित्य की उपलब्धि होती है। इन शास्त्रों में भी श्राद्ध आदि क्रियाकलापों का खण्डन मिलता है। विवृति इस प्रकार है—

ज्ञानं वक्ष्यामि वो दैत्या अहं च मोक्षदायि तु।
एषा श्रुतिर्वैदिकी या ऋग्यजुःसामसंज्ञिता ॥ १ ॥

(बृहस्पति ने कहा—हे दैत्यो, मैं तुम्हें मोक्षसाधक ज्ञान बताना चाहता हूँ। वह है ऋग्, यजु और साम संज्ञक वैदिकी अनुभूति।)

---

८. वा० रा० २।१०८।१४–१७।

थैश्वा [illegible] प्रसादात्तु दुःखदा इह प्राणिनाम् ।
यज्ञाः [illegible]द्धं कृतं क्षुद्रैरैहिक स्वार्थतत्परैः ॥ २ ॥

(वह ईश्वर सिद्ध वैदिकी साधना प्राणी मात्र के लिये क्लेशसाध्य है और उन वैदिक श्राद्धादि यज्ञों की उपासना लौकिक स्वार्थ के वशीभूत क्षुद्र लोग ही करते हैं ।)

यथाऽऽसन्वैष्णवा धर्मा ये च रुद्रकृतास्तथा ।
कुधर्मा भार्यासहितैर्हिंसाप्रायाः कृता हि ते ॥ ३ ॥

(वैष्णव तथा शैव धर्मों का पालन भी पत्नी सहित करने का नियम है और उनमें भी हिंसा का विधान है, अतः इन्हें कुत्सित ही समझना चाहिये ।)

अर्धनारीश्वरो रुद्रः कथं मोक्षं गमिष्यति ।
वृतोभूतगणैर्भूयो भूषितश्चास्थिभिस्तथा ॥ ४ ॥

(अर्ध शरीर से निरन्तर स्त्रीरूपधारी, भूत प्रेतों से परिवृत तथा हड्डियों की माला धारण करनेवाले रुद्र किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?)

न स्वर्गो नैव मोक्षोऽत्र लोकाः क्लिश्यन्ति वै वृथा ।
हिंसायामास्थितो विष्णुः कथं मोक्षं गमिष्यति ॥ ५ ॥

(न कहीं स्वर्ग है और न कोई मोक्ष । व्यर्थ ही लोग इनके लिये शारीरिक क्लेश उठाते हैं । भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर स्वयं दैत्यवधकारी विष्णु किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?)

रजोगुणात्मको ब्रह्मा स्वां सृष्टिमुपजीवति ।
देवर्षयोऽथ ये चान्ये वैदिकं पक्षमाश्रिताः ॥ ६ ॥

(ब्रह्मा स्वयं रजोगुणी हैं और स्वयं सृष्टि-कार्य में लगे रहते हैं । देव तथा ऋषिगण वैदिक (हिंसात्मक) यज्ञ में भाग लेने वाले हैं— ये भी किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करा सकते हैं ?)

हिंसाप्रायाः सदा क्रूरा मांसादाः पापकारिणः ।
सुरास्तु मद्यपानेन मांसादा ब्राह्मणास्त्वमी ॥ ७ ॥

(हिंसावृत्ति, क्रूरस्वभाव तथा मांसभक्षक देवतागण पापकारी प्रमाणित हैं, ब्राह्मण मदिरा पीते तथा मांस भक्षण करते हैं ।)

धर्मेणानेन कः स्वर्गं कथं मोक्षं गमिष्यति ।
यच्च यज्ञादिकं कर्म स्मार्तं श्राद्धादिकं तथा ॥ ८ ॥

(इस प्रकार के धर्माचरण से कौन व्यक्ति मोक्षगामी हो सकता है ? इसके अतिरिक्त अन्य जो यज्ञ-श्राद्ध आदि स्मार्त कर्म हैं—)

तत्र नैवापवर्गोऽस्ति यत्रैषा श्रूयते श्रुतिः ।
यूपं छित्वा पशून्हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम् ॥ ९ ॥

(उसमें भी मोक्ष का प्रश्न नहीं उठता है। जहाँ ऐसी श्रुति है कि यज्ञीय स्तंभ को काटकर पशुओं की हत्या से पृथ्वी पर रुधिर की धारा प्रवाहित कर देना—)

यद्येवं गम्यते स्वर्गो नरकः केन गम्यते।
यदि भुक्तमिहान्येन तृप्तिरन्यस्य जायते ॥ १० ॥

(यदि इस प्रकार के बीभत्स आचरण से कोई स्वर्गगामी हो सकता है तो फिर नरकगामी कौन होगा ? यदि यहाँ (श्राद्धादि में) भिक्षुओं को खिला देने से परलोकगत मृत प्राणियों की तृप्ति होती है।)

दद्यात्प्रवसतः श्राद्धं न स भोजनमाहरेत्।
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात ॥ ११ ॥

(तो परदेशगत व्यक्ति का श्राद्ध कर देना चाहिये, किन्तु परदेशगत व्यक्ति को यहाँ का दिया भोजन वहाँ प्राप्त नहीं होता है। विप्र आकाश में स्वेच्छागमन करते थे वे मांस भक्षण के कारण (आज) पतित हो गये।)

न तेषां विद्यते स्वर्गो मोक्षो नैवेह दानवाः।
जातस्य जीवितं जन्तोरिष्टं सर्वस्य जायते ॥ १२ ॥

(उनके लिसे इस लोक में, हे दानवो, न स्वर्ग है और न मोक्ष ही है। जन्म ग्रहण करने वाले प्राणियों को अपना जीवन प्रिय होता है।)

आत्ममांसोपमं मांसं कथं खादेत पण्डितः।
योनिजास्तु कथं योनिं श्रयन्ते जन्तवस्त्वमी ॥ १३ ॥

(ज्ञानी पुरुष को अपने शरीर के मांस के समान दूसरे के शरीर का मांस कभी नहीं खाना चाहिये। जननी की योनि से उत्पन्न होने वाले जन्तु क्यों जननी की योनि के समान अन्य स्त्रियों की योनि में विहार करते हैं ?)

मैथुनेन कथं स्वर्गं यास्यन्ति दानवेश्वर।
मृद्भस्मना यत्र शुद्धिस्तत्र शुद्धिस्तु का भवेत् ॥ १४ ॥

(हे दानवराज, (तांत्रिक साधन में मैथुन का विधान है) मैथुन के द्वारा भला कैसे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है ? जहाँ मिट्टी और राख से शुद्धि का विधान है–यह कौन सी शुद्धि है ? मिट्टी तो स्वयं गन्दी वस्तु है।

विपरीतमिदं लोकं पश्य दानव यादृशम्।
विण्मूत्रस्य कृतोत्सर्गे शिश्नपानस्य शोधनम् ॥ १५ ॥

(हे दानवेश्वर, थोड़ा विपरीताचारी लोक के ऊपर दृष्टिपात करो–उदरस्थ मल और मूत्र के त्याग के पश्चात् गुदा और मूत्रेन्द्रिय के प्रक्षालन की ओर।)

न सम्भवोऽस्ति वदने मृदा तोयेन वा पुनः।
भुक्ते वा भोजने राजन्कथं नापानशिश्नयोः ॥ १६ ॥

(मिट्टी और जल से मुख का प्रक्षालन करने से पेट की शुद्धि कैसे संभव हो सकती है ? हे राजन् , यदि संभव है तो भोजन करने पर गुदा और मूत्रेन्द्रिय के प्रक्षालन का विधान क्यों नहीं किया गया ?)

तारां बृहस्पतेर्भार्यां हृत्वा सोमः पुरा गतः ।
तस्यां जातो बुधः पुत्रो गुरुर्जग्राह तां पुनः ॥ १७ ॥

(गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा को शिष्य चन्द्रमा हरण कर ले गये और इनसे बुध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ इस पर भी बृहस्पति ने उस (पत्नी) को निस्संकोच ग्रहण कर लिया ।)

गौतमस्य मुनेः पत्नी अहल्या नाम नामतः ।
अगृह्णात्तां स्वयं शक्रः पश्य धर्मो यथा स्थितः ॥ १८ ॥

(गौतम मुनि की अहल्या नामक पत्नी को स्वयं इन्द्र ने ग्रहण किया—देखो यही तुम्हारे धर्म की स्थिति है ।

एतदन्यच्च जगति दृश्यते पारदारिकम् ।
एवंविधो यत्र धर्मः परधर्मो मतस्तु कः[१] ॥ १६ ॥

(संसार में इतनी ही नहीं-इस तरह की अनेकों परदारसंभोग की क्रियाएँ देखी गई हैं । भला, जिस समाज में धर्म की ऐसी अवस्था हो वहाँ और परमार्थ हो ही क्या सकता है ?)

विष्णुपुराण और लोकायतवाद

पौराणिक परिशीलन से विष्णुपुराण में भी थोड़ी मात्रा में चार्वाकवाद का दर्शन हमें उपलब्ध होता है । यथा—

नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसाधर्माय चेष्यते ।
हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम् ॥ १ ॥

(यज्ञ में हिंसा—अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने से धर्म होता है—यह वाक्य युक्ति-संगत नहीं । हविष्यों को अग्नि में भस्म कर देने से स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती है—यह भी बच्चों की सी उक्ति प्रतीत होती है ।)

यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते ।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक्पशुः ॥ २ ॥

(यज्ञों की प्रज्वलित अग्नि में जलाए हुए शमी आदि कठोर काष्ठों (अंगारों) को देव रूप से इन्द्र यदि यथार्थतः उपयोग करते हैं तो उनसे श्रेष्ठ तो पशु ही होते हैं, क्योंकि पशु कोयले को न खाकर कोमल पत्तियों को खाते हैं ।)

---

१. प० पु० सृ० ३१९–३२४, ३६–३८ ।

निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ॥ ३ ॥

(यज्ञ में वध किया गया पशु यदि स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है तो यजमान स्वर्ग प्राप्ति के लिये अपने पिता का वध क्यों नहीं कर देता है ?)

तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः।
दद्याच्छ्राद्धं श्रद्धयान्नं न वहेयुः प्रवासिनः ॥ ४ ॥

(यदि श्राद्धादि यज्ञ में अन्य (ब्राह्मणादि) के द्वारा भुक्त पदार्थ से परलोकगत प्राणी को तृप्ति हो सकती है तो पुत्र को परदेशगत पिता के लिए घर पर ही श्राद्ध कर देना चाहिये, किन्तु ऐसा कर देने पर परदेशगत प्राणी को प्रत्यक्ष तृप्ति नहीं देखी जाती है।)

जनश्रद्धेयमित्येतदवगम्य ततो वचः।
उपेक्षा श्रेयसे वाक्यं रोचतां यन्मयेरितम् ॥ ५ ॥

(यदि मेरी बात अच्छी लगे तो इस लोकाचार को अन्धपरम्परा समझ कर उसकी उपेक्षा करना ही श्रेयस्कर है।)

नह्याप्तवादा नभसो निपतन्ति महासुराः।
युक्तिमद्वचनं ग्राह्यं मयान्यैश्च भवद्विधैः[10] ॥ ६ ॥

(हे असुरो, कोई भी वचन अकस्मात् निराधार आकाश से नहीं टपक पड़ते हैं, कोई न कोई उनका प्रयोक्ता अवश्य होता है—वैदिकी श्रुति की भी यही दशा है। यदि वेद किसी से उक्त है तो वह अपौरुषेय नहीं हुआ अतएव मुझे और आप के से अन्य लोगों को तर्क के द्वारा युक्तियुक्त श्रुति को ही ग्रहण करना चाहिए और इसी में चतुरता है।)

सर्वसिद्धान्त संग्रह और लोकायतिकवाद

शङ्कराचार्य (सप्तम शती) ने अपने "सर्वसिद्धान्तसंग्रह" के लोकायतिकपक्ष के प्रकरण में लोकायत-मतसम्बन्धी विवरण दिया है। इनके विवरण में पृथिवी आदि चार तत्त्वों की ही अधिमान्यता है। केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना गया है और देहात्मवाद का समर्थन किया गया है।

लोकायतिकपक्षे तु तत्त्वं भूतचतुष्टयम्।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुरित्येव नापरम् ॥ १ ॥

(लोकायतिक अर्थात् चार्वाकमत में पृथिवी, जल, तेजस् और वायु—ये चार भूत ही चार तत्त्व हैं। इस भूतचतुष्टय के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की मान्यता नहीं है।)

---

१०. वि० पु० ३।१८।२६—३१।

प्रत्यक्षगम्यमेवास्ति नास्त्यदृष्टमदृष्टतः ।
अदृष्टवादिभिश्चापि नादृष्टं दृष्टमुच्यते ॥ २ ॥

(जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, यथार्थतः उसी का अस्तित्व है। नहीं दृष्टिगोचर होने के कारण अदृष्टनामक कोई पदार्थ नहीं है। अदृष्टवादी व्यक्ति भी अदृष्ट पदार्थ को कभी भी दृष्ट नहीं कहते।)

क्वापि दृष्टमदृष्टं चेददृष्टं ब्रुवते कथम् ।
नित्यादृष्टं कथं सत्स्याच्छशशृङ्गादिभिः समम् ॥ ३ ॥

(किसी भी परिस्थिति में दृष्ट को अदृष्ट अथवा अदृष्ट को दृष्ट कहना कैसे युक्ति-संगत हो सकता है ? जो पदार्थ कभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ उसकी सत्ता को सिद्ध करना शशक के शृङ्ग की सत्ता के समान (असंभव) है। शशक का शृङ्ग कभी किसी ने नहीं देखा।)

न कल्प्यौ सुखदुःखाभ्यां धर्माधर्मौ परैरिह ।
स्वभावेन सुखी दुःखी जनोऽन्यन्नैव कारणम् ॥ ४ ॥
शिखिनश्चित्रयेत्को वा कोकिलान्कः प्रकूजयेत् ।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम् ॥ ५ ॥

(धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है—यह कल्पना विद्वानों को यहाँ (जगत् में) नहीं करनी चाहिये। स्वभाव से ही प्राणी सुखी अथवा दुःखी होता है, अन्य कारण से नहीं। मयूरों को प्रकृति के अतिरिक्त चित्रित कौन करता है तथा कोकिलों को मधुर स्वर कौन प्रदान करता है। यहाँ स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कारण हो नहीं सकता।)

स्थूलोऽहं तरुणो वृद्धो युवेत्यादिविशेषणैः ।
विशिष्टो देह एवात्मा न ततोऽन्यो विलक्षणः ॥ ६ ॥

(मैं मोटा हूँ, तरुण हूँ, वृद्ध हूँ अथवा युवा हूँ—इन विशेषणों के प्रयोग से सिद्ध होता है कि इस दृश्यमान देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है।)

जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितः ॥ ७ ॥

(पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—इन जड तत्त्वों के विकारमय योग होने पर जो चैतन्य की आविष्कृति हो जाती है, वह उस प्रकार, जिस प्रकार ताम्बूल के पत्ते, सुपारी और चूना आदि के उचित मात्रा में संयोग होने से लाल रंग का आविष्कार हो जाता है।)

इह लोकात्परो नान्यः स्वर्गोऽस्ति नरको न च ।
शिवलोकादयो मूढैः कल्प्यन्तेऽन्यैः प्रतारकैः ॥ ८ ॥

(इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोक नहीं–इससे पृथक् स्वर्ग और नरक आदि लोक भी नहीं। शिवलोक आदि की कल्पना तो मूर्ख और वंचक लोग करते हैं।)

स्वर्गानुभूतिर्मृष्टाष्टिव्यष्टवर्षवधूगमः ।
सूक्ष्मवस्त्रसुगन्धस्रक्चन्दनादिनिषेवणम् ॥ ९ ॥
नरकानुभवो वैरिशस्त्रव्याध्याद्युपद्रवः ।
मोक्षस्तु मरणं तच्च प्राणवायुनिवर्तनम् ॥ १० ॥

(षोडशी कोमलाङ्गी रमणी का सङ्गम सुन्दर वस्त्र तथा सुगन्धित माला का धारण और श्वेत चन्दन का अनुलेपन में ही स्वर्गसुख की अनुभूति है। शत्रुओं के शस्त्रघातजनित पीडा आदि उपद्रवों में ही नरक—दुःख की अनुभूति है और प्राणवायु का निकल जाना अर्थात् मृत्यु ही मोक्ष है।)

अतस्तदर्थं नायासं कर्तुमर्हति पण्डितः ।
तपोभिरुपवासाद्यैर्मूढ एव प्रशुष्यति ॥ ११ ॥

(अतएव शिवलोक आदि स्वर्गीय सुखोपलब्धि के लिये प्रेक्षावान् व्यक्ति को परिश्रम नहीं करना चाहिए। मूर्ख ही उपवासादि तपश्चर्याओं से अपने को सुखा डालते हैं।)

पातिव्रत्यादिसंकेतो बुद्धिमद्दुर्बलैः कृतः ।
सुवर्णभूमिदानादिमिष्टामन्त्रणभोजनम् ॥ १२ ॥
क्षुत्क्षामकुक्षिभिर्लोकैर्दरिद्रैरुपकल्पितम् ।
देवालयप्रपासत्रकूपारामादिकर्मणाम् ॥ १३ ॥
प्रशंसां कुर्वते नित्यं पान्था एव न चापरे ।
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ॥ १४ ॥
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।
कृषिगोरक्षवाणिज्यदण्डनीत्यादिभिर्बुधः ।
दृष्टैरेवसदोपायैर्भोगाननुभवेद्यति ॥ १५ ॥

(पातिव्रत्य आदि धर्मों का उपदेश तो शरीर से दुर्बल और बुद्धिमान् (स्वार्थी) पुरुष ही करते हैं। स्वर्ण और भूमिदान की कर्तव्यता तथा (ब्राह्मण) भोजनादि का विधान तो ऐसे दरिद्र व्यक्तियों ने किया है जिनकी उदरपूर्ति मिष्टान्नादि भोजनों से कभी नहीं हुई। देवमंदिर, जलशाला, यज्ञ, कूप तथा उद्यानादि आदि कर्मों की प्रशंसा तो पथिकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति नहीं करते। प्रातः और सायंकाल में हवन, वेदत्रयी के विहित आचार का पालन एवं भस्मधारण– इत्यादि कर्मकलाप तो बुद्धि-पुरुषार्थरहित पुरुषों की आजीविका है–यह बृहस्पति

का वचन है। चतुर व्यक्ति तो संसार में कृषिकार्य, गोपालन, व्यापार और राजनीति आदि प्रत्यक्ष उपायों के द्वारा निरन्तर मनोनुकूल उपभोग करता है जो सर्वथा वांछनीय भी है।)

षड्दर्शनसमुच्चय और लोकायतमत

हरिभद्रसूरि (अष्टम शती) ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में चार्वाकमत के विवरण-प्रसंग में लोकायतमत को षड्दर्शनों के अन्तर्गत प्रमाणित करते हुए आठ श्लोकों में इस चार्वाकसाहित्य का दिग्दर्शन कराया है। इसमें उन्होंने लोकायत-दृष्टि से देवता, मोक्ष, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप के फल, परलोक आदि अदृष्ट पदार्थों का खण्डन करते हुए एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण को ही स्वीकृत किया हैं और चार तत्त्वों के ही अस्तित्व को मान्यता दी है और इन्हीं तत्त्वों के योग से सृष्टि की उत्पत्ति सिद्ध की है।

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः॥ १॥

(लोकायववादियों का कथन है कि न तो कोई देव है और न मोक्ष है, धर्म तथा अधर्म नाम की भी कोई वस्तु नहीं और न पुण्य-पाप का भी सुख-दुःख रूप फल है।)

एतावानेव लोकोऽयं यावदिन्द्रियगोचरः।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः॥ २॥

(यह संसार, जितना स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और श्रोत्र—इन इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षगोचर हो रहा है, उतना ही है। यदि कहा जाय कि परलोक की भी सत्ता है तो केवल शश के शृंग तथा वन्ध्या के पुत्र के ही समान उस (अप्रत्यक्ष लोक) का अस्तित्व हो सकता है। हे प्रिये, उस परलोक की सत्ता को उस वृकपद के समान मानो जो वास्तव में प्रकृत वृकपद का चिह्न नहीं है, वरंच किसी व्यक्ति ने राजमार्ग की धूलि में अपनी अङ्गुलियों से अंकित कर दिया है और उसे दिखलाकर लोकप्रतिष्ठित अनुभवी पण्डित लोगों को यह कहता है कि रात में वृक आया था उसी का यह पदचिह्न है और लोग भी विश्वास कर लेते हैं।)

पिब खाद च जातशोभने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।
न हि भीरु गतं निवर्त्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्॥ ३॥

(हे सुन्दरी, जो चाहो, खाओ और जो चाहो, पीओ। हे कोमलांगी, जो अतीत हो गया वह पुनः आने को नहीं। हे कातर स्वभाववाली, गत वस्तु नहीं लौटती और यह कलेवर दृश्यमान (प्रत्यक्ष) मात्र है।)

किंच पृथ्वी जलं तेजो वायुभूतचतुष्टयम् ।
चैतन्यभूमिरेतेषां मानं त्वक्षजमेव हि ॥ ४ ॥

(पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये ही चार तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के योग से चैतन्य की उत्पत्ति होती है। प्रमाण केवल प्रत्यक्षमात्र है।)

पृथ्व्यादिभूतसंहत्यां तथा देहादिसम्भवः ।
मदशक्तिः सुराङ्गेभ्यो यद्वत्तद्वत् स्थितात्मता ॥ ५ ॥

(पृथ्वी आदि (चार) तत्त्वों के मेल से देहादिविशिष्ट पुरुष की उत्पत्ति उस प्रकार हो जाती है जिस प्रकार मद्य के उपादान गुड आदि सामग्रियों के मेल से मादकता स्वयं आ जाती है। आत्मा (पुरुष) की स्थिति इसी प्रकार है।)

तस्माद्दृष्टपरित्यागाददृष्टे च प्रवर्त्तनम् ।
लोकस्य तद्विमूढत्वं चार्वाकाः प्रतिपेदिरे ॥ ६ ॥

(अतएव दृष्ट (प्रत्यक्ष) के त्याग और अदृष्ट (अनुमान) के ग्रहण में लोक की विमूढता सिद्ध होती है—ऐसा चार्वाकों का प्रतिपादन है।)

साध्याऽऽवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने ।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात्परा न हि ॥ ७ ॥

(किसी मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति (विधि) तथा अवांछनीय वस्तु के अभाव (निषेध) में लोक की जो प्रीति उत्पन्न होती है वह चार्वाकों के मत में निरर्थक है और वह प्रीति आकाश के ही समान शून्य है। क्योंकि काम के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म है ही नहीं।)

लोकायतमतेऽप्येवं संक्षेपोऽयं निवेदितः ।
अभिधेयतात्पर्यार्थः पर्यालोच्यः सुबुद्धिभिः ॥ ८ ॥

(इस प्रकार यह लोकायत (चार्वाक) मत संक्षेप में प्रतिपादित किया। अब स्वयं सुधीगण इसके वाच्यार्थ की समीक्षा करें।)

तत्त्वसंग्रह और लोकायतवाद

शान्तरक्षित (अष्टम शती) ने "तत्त्वसंग्रह" में प्रमाणपरीक्षा के प्रसंग में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण की सिद्धि में बारह तथा लोकायतपरीक्षा के प्रसंग में पन्द्रह श्लोकों का अर्थात् समस्त सत्ताईस श्लोकों का उल्लेख किया है।)

न प्रमाणमिति प्राहुरनुमानं तु केचन ।
विवक्षामर्पयन्तोऽपि वाग्भिराभिः कुदृष्टयः ॥ १ ॥

(कुछ विरुद्धमतावलम्बी अर्थात् लोकायतिक विद्वानों ने "अनुमान प्रमाण नहीं है" ऐसे वचनों से अपने अभिप्रेत मन्तव्य को प्रकाशित किया है।)

त्रिरूपलिङ्गपूर्वत्वात्स्वार्थं मानं न युज्यते ।
इष्टघातकृताजन्यं मिथ्याज्ञानं यथा किल ॥ २ ॥
भावादननुमानेऽपि न चानुमितिकारणम् ।
द्वैरूप्यमिव लिङ्गस्य त्रैरूप्यं नास्त्यतोऽनुमा ॥ ३ ॥
अनुमानविरोधस्य विरुद्धानां च साधने ।
सर्वत्र सम्भवात्किंच विरुद्धाव्यभिचारिणः ॥ ४ ॥

(त्रैरूप्य हेतु होने के कारण तार्किक स्वार्थानुमान को प्रमाण मानते हैं, किन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि वह (त्रैरूप्यहेतु) उत्पन्न मिथ्या ज्ञान के समान ही इष्टबाधक है। त्रैरूप्यलिंग अनुमान का भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह द्वैरूप्यहेतु के समान अनुमान के अभाव में भी परिलक्षित होता है। अतएव किसी भी अनुमान को त्रैरूप्यहेतु के कारण प्रमाण नहीं मानना चाहिए। सर्वत्र अनुमान का प्रयोग करने पर विशेष विरुद्ध (नित्य-अनित्य) धर्मों की संभावना देखी जाती है। ऐसे अनुमानों के मानने में विरोधसहायक धर्म का साहचर्य पाया जाता है।)

अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु ।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥ ५ ॥
विज्ञातशक्तेरप्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति ।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते ॥ ६ ॥
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ ७ ॥

(अवस्थाभेद, देशभेद और कालभेद—इन तीन भेदों के कारण पदार्थों की शक्तियों में भी विभिन्नता आ जाती है। ऐसी अवस्था में अनुमान की सहायता से प्रमेयवस्तुओं का ज्ञान कर लेना अतिकठिन हो जाता है। एक पदार्थ, जिसकी शक्ति अर्थक्रिया के प्रति सम्यक् रूप से ज्ञात है, उसकी वह शक्ति भी विशिष्ट द्रव्य के सम्बन्ध से अवरुद्ध हो जाती है। कुशल अनुमानकर्ताओं के द्वारा यत्नपूर्वक अनुमानित पदार्थ भी अन्य विशेषज्ञों के द्वारा अन्ययुक्तियों की सहायता से अन्यथासिद्ध कर दिये जाते हैं।)

परार्थमनुमानं तु न मानं वक्त्रपेक्षया ।
अनुवादान्न तेनासौ स्वयमर्थं प्रपद्यते ॥ ८ ॥
श्रोतृव्यपेक्षयाऽप्येतत्स्वार्थमेवोपपद्यते ।
श्रोत्रदर्शनमूलायाः को विशेषो हि संविदः ॥ ९ ॥
न परार्थानुमानत्वं वचसः श्रोत्रपेक्षया ।
श्रोतृसन्तानविज्ञानहेतुत्वज्ञापकत्वतः ॥ १० ॥

यथेन्द्रियस्य साक्षाच्च नानुमेयप्रकाशनम् ।
तस्मादस्याविनाभावसम्बन्धज्ञानवन्न तत् ॥ ११ ॥
अथोच्यते परार्थत्वं परव्यावृत्त्यपेक्षया ।
तदप्ययुक्तं स्वार्थेऽपि परार्थत्वप्रसंगतः[11] ॥ १२ ॥

(परार्थानुमान भी प्रमाण नहीं क्योंकि वह वक्ता द्वारा किये गये स्वार्थानुमान का ही अनुवाद मात्र है अतएव परार्थानुमान से स्वयं पदार्थ का बोध नहीं होता है। श्रोता की अपेक्षा से भी वह प्रमाण नहीं, क्योंकि वह तो उसीलिए स्वार्थानुमान रूप में परिणत हो जाता है और श्रवणेन्द्रिय तथा दर्शनेन्द्रियमूलक ज्ञान में क्या विशेषता रह जाती है? श्रोता की अपेक्षा के कारण वचनों को भी पदार्थानुमान नहीं कह सकते, क्योंकि वह श्रोतृपरम्परा के ज्ञान का कारण है तथा ज्ञापक भी है। क्योंकि इन्द्रियाँ स्वयं अनुमेयों को नहीं जान सकतीं इसलिए श्रोता की अपेक्षा वचनों को परार्थानुमान मान कर प्रमाणता नहीं दी जा सकती जैसे अविनाभाव (साहचर्य) सम्बन्ध ज्ञान को नहीं दी गई है। यदि परव्यापार (अन्य) के लिए परार्थानुमान को मान लिया जाये तो भी अनौचित्य है, क्योंकि स्वार्थानुमान में भी परार्थता का प्रसंग आ जायेगा।)

तत्त्वसंग्रह और चार्वाकमत

यदि नानुगतो भावः कश्चिदप्यत्र विद्यते ।
परलोकस्तदा न स्यादभावात्परलोकिनः ॥ १ ॥

(यदि आत्मा अनुगामी नहीं है अर्थात् इस वर्तमान शरीर से पूर्व आत्मा की परम्परा नहीं थी तो परलोक का अस्तित्व खंडित हो जाता है और फिर परलोकवासी की तो बात नहीं उठती है।)

देहबुद्धीन्द्रियादीनां प्रतिक्षणविनाशने ।
न युक्तं परलोकित्वं नान्यश्चाभ्युपगम्यते ॥ २ ॥
तस्माद् भूतविशेषेभ्यो यथा शुक्तसुरादिकम् ।
तेभ्य एव तथा ज्ञानं जायते व्यज्यतेऽथवा ॥ ३ ॥

(देह, बुद्धि और इन्द्रिय आदि का क्षण-क्षण में विनाश हो रहा है—ऐसा देख कर परलोकिता तथा आत्मा आदि का विचार करना ही अयुक्त है। अतएव जैसे सड़ाये गये द्रव्यों से मादकता आदि तत्त्व स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं

---

११. त० सं० १४५६–१४६७।

वैसे ही चार भूत तत्त्वों से ज्ञान-चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है और पुरुष विशेष का व्यक्तित्व अनुभूत होने लगता है।

सन्निवेशविशेषे च क्षित्यादीनां निवेश्यते।
देहेन्द्रियादिसंज्ञेयं तत्त्वं नान्यद्धि विद्यते ॥ ४ ॥

(पृथिवी आदि चार भूतों के समुदाय होने पर देह तथा चक्षु आदि इन्द्रियों की संज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त और कोई ज्ञेय तत्त्व नहीं है। प्रत्यक्ष को छोड़ कर अन्य कोई प्रमाण भी नहीं, जिससे परलोक आदि की सिद्धि हो।)

कार्यकारणता नास्ति विवादपदचेतसोः।
विभिन्नदेहवृत्तित्वाद्गवाश्वज्ञानयोरिव ॥ ५ ॥
न विवक्षितविज्ञानजन्या वा मतयो मताः।
ज्ञानत्वादन्यसन्तानसम्बद्धा इव बुद्धयः ॥ ६ ॥

(यदि अतीत देहस्थित चित्त का कारण तत्पूर्वजन्मगत चित्त को मान लिया जाय तो चित्त के अविच्छिन्न रूप बन्धन की निवृत्ति के कारण परलोक की कल्पना हो सकती थी किन्तु विभिन्न देहधारी गोजाति और अश्वजातिगत-दो विभिन्न ज्ञानों के समान तद्गत प्रथम दो (अतीत देह और तत्पूर्वजन्मीय देहगत) विवाद-ग्रस्त चित्त-कार्यों के लिये कारण का आरोप कहीं नहीं हो सकता है। अथवा जिस प्रकार अन्यान्य शरीरों (भूतचतुष्टय के संघातरूप) में स्थित बुद्धियों में अपने पृथक्-पृथक् निजी धर्म होते हैं और उनका अतीत देहों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहा है उसी प्रकार ज्ञानत्व के कारण वर्तमान शरीरस्थित जन्मकालीन बुद्धियों का अपेक्षित किसी अतीत देहवर्त्ती विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं।

सरागमरणं चित्तं न चित्तान्तरसन्धिकृत्।
मरणज्ञानभावेन वीतक्लेशस्य तद्यथा ॥ ७ ॥

(जिस, प्रकार मरणज्ञान रहने पर भी वीतक्लेश ज्ञानी का मन पुनर्जन्म धारण नहीं करता उसी प्रकार मरणोन्मुख प्राणी का चित्त संसार में आसक्त रहने पर भी अन्य शरीर में प्रवेश नहीं करता है।

कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम् ॥ ८ ॥

(प्राण और अपान आदि वायुओं के आधारित शरीर से ही चैतन्य या ज्ञान की उत्पत्ति होती है—यह किसी कम्बलाश्वतर ऋषि का वचन है।)

कललादिषु विज्ञानमस्तीत्येतच्च साहसम्।
असंजातेन्द्रियत्वाद्धि न तत्रार्थोऽवगम्यते ॥ ९ ॥

न चार्थावगतेरन्यद्रूपं ज्ञानस्य युज्यते।
मूर्च्छादावपि तेनास्य सद्भावो नोपपद्यते ॥ १० ॥
न चापि शक्तिरूपेण तदा धीरवतिष्ठते।
निराश्रयत्वाच्छक्तीनां स्थितिर्नैवकल्पते ॥ ११ ॥
ज्ञानाधारात्मनोऽसत्त्वे देह एव तदाश्रयः।
अन्ते देहनिवृत्तौ च ज्ञानवृत्तिः किमाश्रया ॥ १२ ॥

(कलल[12] आदि के रूप में विज्ञान अपनी सुप्तावस्था में रहता है किन्तु चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों की स्पष्ट आकृति के निर्मित होने के कारण रूप आदि इन्द्रियार्थों अर्थात् विषयों का अस्तित्व अनुभूत नहीं होता है। रूप आदि पंच इन्द्रिय-विषयों की अनुभूति के अतिरिक्त ज्ञान का अन्य कोई रूप अपेक्षित नहीं, अतएव मूर्च्छा आदि की अवस्था में कभी विज्ञान का सद्भाव परिलक्षित नहीं होता है। तत्कालीन विज्ञान के अस्तित्व की कल्पना शक्तिरूप में की जाय—यह भी उचित नहीं क्योंकि निराश्रय होने पर शक्तियों का अस्तित्व रह ही नहीं सकता है। ज्ञानाश्रित आत्मा की अविद्यमानता में चतुर्भूतमय देह में ही वह (विज्ञान) आश्रय ग्रहण करता है और अन्त (मरणावस्था) में देह के नाश हो जाने पर ज्ञान कहां ठहर सकता है ? अर्थात् ज्ञान की अनवस्था में अनागत जन्म की असिद्धि सिद्ध हुई।)

तदनन्तरसम्भूतदेहान्तरसमाश्रयः।
यदि देहोऽपरो दृष्टः कथमस्तीति गम्यते ॥ १३ ॥
भिन्नदेहप्रवृत्तं च गजवाज्यादिचित्तवत्।
एकसन्ततिसम्बद्धं तद्विज्ञानं कथं भवेत् ॥ १४ ॥
एको ज्ञानाश्रयस्तस्मादनादिनिधनो नरः।
संसारी कश्चिदेष्टव्यो यद्वा नास्तिकता परा[13] ॥ १५ ॥

(अब यदि यह कहा जाय कि मृत्यु के उपरान्त विज्ञान पुनःसंभूत देहान्तर का आश्रय ग्रहण कर लेता है—यह भी असंगत है, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् उत्पद्यमान देह का किसी ने आजतक साक्षात्कार नहीं किया और इसलिये अदृष्ट विषय का कल्पना में कोई औचित्य नहीं। विभिन्न देहाश्रित गज और अश्व—दो विभिन्न प्राणियों के देह में स्थित दो विभिन्न चित्तों के समान

---

१२. प्रथम दिन वीर्य और रज के संयोग से जिस सूक्ष्म पिण्ड की सृष्टि होती है वही "कलल" नाम से अभिहित होता है।
—अमरकोष, २।६।३८

१३. त० सं० १८५७–१८७१।

विज्ञान किसी एक जाति में समाविष्ट नहीं हो सकता तथा गज का चित्त अश्व के देह में या अश्व का चित्त गज के देह में समाश्रित नहीं हो सकता। इसी प्रकार एक विशिष्ट देहगत भी नहीं हो सकता है। अतएव अजन्मा और अमर किसी संसारी मनुष्य को ही ज्ञान का आधार समझना चाहिये या नहीं तो उत्कृष्ट नास्तिकता को ही अपनाना चाहिये, क्योंकि परलोक निवासी प्राणी के अभाव में परलोक का अस्तित्व खण्डित हो जाता है।)

सर्वमतसंग्रह और जडवाद

"सर्वमतसंग्रह" के रचयिता तथा रचनाकाल आदि की कोई सूचना नहीं है, पर यह पुस्तक सन् १९२८ ई० में प्रकाशित हुई है। इसका सम्पादन महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री ने किया है। विवृति निम्न प्रकार है—

तत्र प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनो लोकायतशास्त्रप्रवर्तकस्य चार्वाकस्य "मनुष्योऽहम्", "स्थूलोऽहम्", "कृशोऽहम्" इति प्रत्यक्षसिद्धश्चैतन्यगुणाश्रयो देह एव प्रमाता। उच्चावचदेहरूपेण सम्भवाद्देहसंहतिं पुनर्विहतिं च प्रतिपद्यमानानि पृथिवी–वारि–वह्नि–वायुलक्षणानि चत्वारि तत्त्वानि प्रमेयम्।

यहां एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले तथा लोकायतशास्त्र के प्रणेता चार्वाक के मत में "मैं मनुष्य हूँ", मैं स्थूल हूँ", "मैं कृश हूँ" इत्यादि कथन से प्रत्यक्ष-प्रमाणित तथा अशेष चैतन्य गुणों के आश्रय देह ही आत्मा है। विविध तथा विषम प्रकार के देह के रूप में परिणत होने के कारण दैहिक संघात तथा विघात के विधायक पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप चार तत्त्व ही प्रमेय (घट-पटादिरूप जगत् हैं)।

अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, न धर्मः। तन्निष्ठावर्थगान्धर्ववेदावेव च वेदौ। धर्माभावान्नाधर्मोऽपि कश्चित्। अतस्तत्फलत्वेन स्वर्गनरकावपि न स्तः। तदभावाद्देहिनां तत्कल्पको न परमेश्वरोऽपि कश्चित्। मरणमेव च मोक्षः। अर्थकामशास्त्रं लोकायतशास्त्रं च प्रत्यक्षमूलत्वात् तत्रैवान्तर्भूतम्।

(अर्थ और काम–ये ही दो पुरुषार्थ हैं, धर्म (पुरुषार्थ) नहीं है। तन्निष्ठ (अर्थ-काममूलक) अर्थ और गान्धर्व (संगीत आदि) साहित्य कला ये ही दो वेद हैं। धर्म के अभाव में अधर्म भी नहीं है। अतएव तत्परिणामस्वरूप स्वर्ग तथा नरक का भी अस्तित्व नहीं रहता है। स्वर्ग तथा नरक के अभाव होने से मनुष्य का निर्माता परमेश्वर भी कोई सिद्ध नहीं होता। मृत्यु ही मोक्ष

है। लोकायतशास्त्र के प्रत्यक्षमूलक होने के कारण अर्थशास्त्र और कामशास्त्र उसी (लोकायतमत) के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

इदमन्नं क्षुन्निवर्तकम् अन्नत्वात्, ह्यस्तनान्नवदित्याद्यनुमानं च तत्रैवान्तर्भवति, प्रत्यक्षमूलत्वाविशेषात्। अभ्युदयनिःश्रेयसफलो धर्मब्रह्म-विषयो वेदस्त्वतीन्द्रियार्थनिष्ठत्वादप्रमाणमेवेति सिद्धान्तः।

(अन्नगत दिन (कल) के अन्न के समान अन्न होने के कारण क्षुधा का शमनकारक होता है—इस प्रकार अनुमान प्रमाण के प्रत्यक्षमूलक नहीं होने पर भी उसी (प्रत्यक्ष प्रमाण) में समाविष्ट हो जाता है। अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फलविधायक तथा धर्म और ब्रह्मविषय प्रतिपादक वेद ज्ञानेन्द्रियों के अगोचर (अप्रत्यक्ष) होने के कारण सिद्धान्ततः अप्रामाणिक हो जाता है।)

"अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिपुण्ड्रं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः॥ १॥
त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनि-भण्डनिशाचराः।
स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यनाशेऽपि यदि यज्वनाम्॥ २॥
भवेद्दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरुहाम्।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः ॥ ३॥
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धाः कथमुपासते[14] ॥ ४॥

(प्रातः और सायंकाल अग्नि में हवन, त्रिवेदों का अध्ययनाध्यापन, ललाट में त्रिपुण्ड्र और भस्मधारण—ये क्रियाएँ बुद्धि तथा पुरुषार्थ से हीन लोगों के जीवन-यापन के साधनमात्र हैं—ऐसा बृहस्पति का कथन है। वेद के कर्त्ता तीन हैं—मुनि, भण्ड और निशाचर। कर्त्ता, क्रिया तथा प्रचुर द्रव्यों के नाश होने पर भी यदि यज्ञकर्त्ता यजमानों को स्वर्ग मिलता है तो दावाग्नि से जले वृक्षों में फल प्रचुरमात्रा में लगना चाहिये, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। प्रत्यक्ष आदि

---

१४. सन् १९४० ई० में बड़ौदा गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज के ग्रन्थांक ८७ के रूप में "तत्त्वोपप्लवसिंह" नामक एक संस्कृत ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रणेता चार्वाक दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् जयराशिभट्ट (अष्टमशती) हैं। ग्रन्थ-विवरण इस प्रकार है—न्यायसम्मत-प्रत्यक्षप्रमाणपरीक्षा, मीमांसकसम्मत-प्रमाण-परीक्षा, तथागत-संमत प्रमाणपरीक्षा, मीमांसकसंमत-प्रत्यक्षखण्डन, सांख्यन्याय-संमत प्रत्यक्षानुमान-खण्डन, उपमानप्रामाण्य-खण्डन, अभाव-सम्भव-ऐतिह्य प्रमाणों का खण्डन और शब्दप्रामाण्य का खण्डन आदि।

प्रमाणों से सिद्ध पदार्थों के विरुद्ध अर्थ-प्रतिपादन करने वाले वेदान्त यदि शास्त्र मान लिये जायें तो प्रेक्षावान् (बौद्ध सम्प्रदाय) उनकी उपासना क्यों करें ?)

प्रबोधचन्द्रोदय और लोकायतिकवाद

"प्रबोधचन्द्रोदय" कृष्णमिश्र (एकादश शती) की कृति है। इसमें छह अंक हैं। काव्य (नाटक) होते हुए भी इस ग्रन्थ में लोकायत या चार्वाकमत के साहित्य की अल्प, किन्तु सर्वांगपूर्ण उपलब्धि होती है। विवरण इस प्रकार है—

आत्मास्ति देहाद् व्यतिरिक्तमूर्त्ति-
भोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम् ।
आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात्
प्रथीयसः स्वादुफलप्रसूतौ ॥ २ । ४१ ॥

(इस जडतत्त्वमय देह के अतिरिक्त अन्य किसी आत्मा की सत्ता है और वह लोकान्तरगामी होकर कर्मफलों का उपभोग करता है· यह आशा उसी प्रकार अलीक अर्थात् व्यर्थ है जिस प्रकार कोई कहे कि इस अनन्त आकाशवृक्ष में कुसुम और फल की उत्पत्ति होती है।)

यन्नास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भिरेवास्तिकै-
र्वाचालैर्बहुभिस्तु सत्यवचसो निन्द्या कृता नास्तिकाः ।
हं हो पश्यत तत्त्वतो यदि पुनश्छिन्नादितो वर्ष्मणो
दृष्टः किं परिणामरूषितचितेर्जीवः पृथक्कैरपि ॥ २ । ४३ ॥

(मिथ्यावादी तथा वेदानुयायी आस्तिक सम्प्रदायियों ने यथार्थतः अविद्यमान आत्मरूप वस्तु की विद्यमानता घोषित कर सत्यवादी तथा वेदविरुद्धाचारी नास्तिक सम्प्रदायियों की निन्दा की है। प्रेक्षावान् व्यक्तियों को विचारणीय है कि शरीर के कट जाने पर उस शरीर से पृथक् जीवात्मा को क्या कभी देखा गया है ? यदि कोई कहे कि आत्मा गुप्त या अदृश्य रूप से शरीर में व्याप्त रहता है तो यह भी निरर्थक प्रतिपादन है, क्योंकि कालान्तर में शरीरांगों के नष्ट हो जाने पर आत्मा के गुप्त रूप का अस्तित्व कभी संभव नहीं।)

तुल्यत्वे वपुषां मुखाद्यवयवैर्वर्णक्रमः कीदृशो-
योषेयं वसु वा परस्य यदमुं भेदं न विद्मो वयम् ।
हिंसायामथवा यथेष्टगमने स्त्रीणां परस्वग्रहे,
कार्याकार्यकथास्तथापि यदमी निष्पौरुषाः कुर्वते ॥ २ । ४४ ॥

(शरीरगत किसी भी विशिष्ट लक्षण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— इस वर्णचतुष्टय के क्रम का निर्धारण असंभव है। मुख आदि अवयवों के कारण शारीरिक तुल्यता होने पर भी यह स्त्री, यह धन-सम्पत्ति अपनी है या अन्य किसी की है—यह भेद स्वभावतः हमारे लिये अज्ञात ही रहता है। स्त्री या धनसम्पत्ति का प्रकृत अधिकारी कौन है—इसका कोई विशिष्ट धर्म या लक्षण उस (स्त्री और धनसम्पत्ति) में व्यक्त नहीं होता। तथापि वे आस्तिक सम्प्रदायी हिंसा में, स्त्रियों के स्वच्छन्दगमन में और परसम्पत्ति के ग्रहण में जो ग्राह्याग्राह्य का प्रसंग उठाते हैं—यह उनकी निष्पुरुषार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।)

स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यनाशेऽपि यदि यज्वनाम्।
ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरुहाम्॥ २।४७॥

(यदि यज्ञकर्त्ता यजमानों को यज्ञसम्पादनसम्बन्धी क्रियाकलापों में धन सम्पत्ति के स्वाहा हो जाने पर भी स्वर्गीय सुखभोग हो सकता है तब तो दावाग्नि के कारण सम्पूर्ण रूप से दग्ध हो चुकने वाले वृक्षों में पर्याप्त मात्रा में फल लगना चाहिये, पर ऐसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर कभी नहीं होता।)

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारकम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्॥ २।४८॥

(यदि मृत प्राणियों को इस लोक में किये गये श्राद्ध से परितृप्ति हो सकती तो प्रदीपस्थित तैल स्वयं ही बुझे हुए उस (प्रदीप) की वार्त्तिका को बाँधता रहता, किन्तु लौकिक व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता है।)

कालिंगनं भुजनिपीडितबाहुमूल-
भुग्नोन्नतस्तनमनोहरमायताक्ष्याः।
भिक्षोपवासनियमार्कमरीचिदाहै-
र्देहोपशोषणविधिः कुधियां क चैषः॥ २।४९॥

(रसानुभूति के साथ सहृदयप्रेमी के करयुग्म से मर्दन किये जाने पर श्लथीभूत पीनस्तन युगल से अत्यन्त मनोहर विशालाक्षी का कहाँ सुन्दर आलिंगन और कहाँ मूर्ख आस्तिक सम्प्रदायियों के अनुमोदित भिक्षावृत्ति, उपवासनियमसूर्यताप आदि क्लेशकर तपश्चरण के द्वारा देह को शोषित तथा करने वाला यह विधिविधान ? इन दोनों में कोई तुलना ही नहीं।)

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥ २।५०॥

(विषयसंगमजनित अनुपम सुख दुःखमिश्रित होने के कारण त्याज्य है—यह मूर्खों का विचार है। भला, ऐसा कौन आत्महितैषी व्यक्ति होगा जो रूक्ष भूसी से छिपे श्वेतस्वच्छ और उत्तम तण्डुलकणों से युक्त धान्य-अन्न को त्यागना भी चाहेगा ?)

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥ २।५६ ॥

(प्रातः और सायंकाल में हवन, ऋच्, सामन् और यजुस्—वेदत्रयी का आचार-पालन, दण्डयुक्त संन्यास और ललाट में भस्मधारण—ये कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन पुरुषों की आजीविका है—ऐसा बृहस्पति का वचन है।)

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

आचार्य हेमचन्द्र (एकादश शती) ने "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित" नामक अपने महाकाव्य के प्रथम पर्व में प्रथम सर्ग के ३२९–३४५ पर्यन्त नास्तिकमत के प्रतिपादक १७ श्लोकों को विवृत किया है :

त्यक्त्वा यदैहिकान् भोगान् परलोकाय यत्यते ।
हित्वा हस्तगतं लेह्यं कूर्परालेहनं हि तत् ॥ १ ॥

(ऐहलौकिक सुखोपभोगों को त्याग कर परलोक के लिये यत्न करना वैसा ही है जैसे हाथ में आये हुए सुस्वादु अवलेह को त्याग कर कोहनी को चाटना ।)

परलोकफलो धर्मः कीर्त्यते तदसङ्गतम् ।
परलोकोऽपि नाऽस्त्येवाऽभावतः परलोकिनः ॥ २ ॥

(धर्माचरण का फल परलोक में मिलना है—यह कथन युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि परलोकी प्राणी के प्रत्यक्ष अभाव के कारण परलोक का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है ।)

पृथ्व्यप्तेजः समीरेभ्यः समुद्भवति चेतना ।
गुडपिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरिव स्वयम् ॥ ३ ॥

(पृथिवी, जल, अग्नि और वायु—इनके मिलन से ही चेतना उत्पन्न हो जाती है, जिस प्रकार गुड़ और पिष्टोदकादि से मादक शक्ति स्वयं प्रादुर्भूत हो उठती है ।)

शरीरान्न पृथक् कोऽपि शरीरी हन्त विद्यते ।
परित्यज्य शरीरं यः परलोकं गमिष्यति ॥ ४ ॥

(इस प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न कोई आत्मादि तत्त्व नहीं जो शरीर को त्याग कर परलोक को जायगा ।)

निःशङ्कमुपभोक्तव्यं ततो वैषयिकं सुखम् ।
स्वात्मा न वञ्चनीयोऽयं स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥ ५ ॥

(इस कारण निर्भीक होकर वैषयिक सुखोपभोग करना चाहिये। अपने को सुखोपभोग से वञ्चित रखना तो मूर्खता ही है।)

धर्माधर्मौ च नाशङ्क्यौ विघ्नहेतू सुखेषु तत्।
तावेव नैव विद्येते यतः खरविषाणवत् ॥ ६ ॥

(धर्म और अधर्म की शंका में नहीं पड़ना चाहिये, क्योंकि ये सुखों में विघ्नरूप हैं और धर्म तथा अधर्म नामक कोई तत्त्व अस्तित्व में नहीं है जिस प्रकार गर्दभ के शृङ्ग का अस्तित्व नहीं है।)

स्नपनेनाङ्गरागेण माल्यवस्त्रविभूषणैः।
यदेकः पूज्यते ग्रावा पुण्यं तेन व्यधायि किम् ॥ ७ ॥

(एक प्रस्तरखण्ड जब प्रतिमा के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अङ्गराग, माला, वस्त्र और अलङ्कारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूप प्रस्तरखण्ड ने कौन सा पुण्य किया था ?)

अन्यस्य चोपरि ग्राव्णः आसित्वा मूत्र्यते जनैः।
क्रियते च पुरीषादि पापं तेन व्यधायि किम् ॥ ८ ॥

(और एक अन्य प्रस्तरखण्ड है जिस पर उपविष्ट होकर लोक मल-मूत्र करते हैं। उस प्रस्तरखण्ड ने कौन सा पापकर्म किया था ?)

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते कर्मणा यदि जन्तवः।
उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते बुद्बुदाः केन कर्मणा ॥ ९ ॥

(यदि प्राणी कर्म से जन्मग्रहण करते और मरते हैं तो फिर ये जल के बुद्बुद किस पुण्यापुण्य कर्म से उत्पन्न और विलीन होते हैं ?)

तदस्ति चेतनो यावत् चेष्ट्यते तावदिच्छया।
चेतनस्य विनष्टस्य विद्यते न पुनर्भवः ॥ १० ॥

(अस्तु, जब तक चेतन है तब तक ही इच्छानुसार चेष्टाएँ होती हैं। जब चेतन का विनाश हो गया तब उसका पुनर्जन्म नहीं होता है)

य एव म्रियते जन्तुः स एवोत्पद्यते पुनः।
इत्येतदपि वाङ्मात्रं सर्वथाऽनुपपत्तिभिः ॥ ११ ॥

(जो प्राणी मरता है, वही पुनः उत्पन्न होता है—यह वचन मात्र है, क्योंकि आत्मा की सिद्धि किसी प्रकार से नहीं होती है)

शिरीषकल्पे तत्तल्पे रूपलावण्यचारुभिः।
रमणीभिः समं स्वामी रमतामविशङ्कितम् ॥ १२ ॥

(शिरीषपुष्पों के समान मृदुल शय्या पर रूप-लावण्य से सम्पन्न रमणियों के साथ निःसंकोचभाव से रमण करना ही श्रेयस्कर है)

भोज्यान्यमृतरूपाणि पेयानि च यथारुचि ।
खाद्यन्तां स्वामिना स्वैरं स वैरी यो निषेधति ॥ १३ ॥

(अमृत के तुल्य भोज्य और पेय पदार्थों का रुचि के अनुसार स्वच्छन्दता से आस्वादन करना ही कल्याणकारक है। वह शत्रु है जो इसका निषेध करता है)

कर्पूरागरुकस्तूरीचन्दनादिभिराचितः ।
एकसौरभ्यनिष्पन्न इव तिष्ठ दिवानिशम् ॥ १४ ॥

(कर्पूर, अगरु, कस्तूरी और चन्दन आदि विलास-सामग्रियों से चर्चित हो मनुष्य को सौरभनिष्पन्न होकर अहर्निश विलासमय जीवन यापन करना उचित है)

उद्यानयानजगतीचित्रशालादिशालि यत् ।
तत्तत् क्षितीश प्रेक्षस्व चक्षुःप्रीत्यै प्रतिक्षणम् ॥ १५ ॥

(संसार में उद्यान, यान और चित्रशाला आदि जो कुछ भी दृश्य हैं, नेत्रों की तृप्ति के लिये उन्हें निरन्तर देखना ही उचित है)

वेणुवीणामृदङ्गानुनादिभिर्गीतनिस्वनैः ।
दिवानिशं तव स्वामिन्नस्तु कर्णरसायनम् ॥ १६ ॥

(वेणु, वीणा और मृदङ्ग आदि (वाद्यों) की मधुर गीतध्वनियों से अहर्निश कर्णामृत का रसास्वादन करना श्रेयस्कर है)

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् तावद्वैषयिकैः सुखैः ।
ना ताम्येद्धर्मकार्याय धर्माधर्मफलं क तत् ॥ १७ ॥

(मनुष्य को आजीवन वैषयिक सुखोपभोग के द्वारा आनन्दमय जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर है। धर्माचरण के लिये चेष्टा करना निरर्थक है, क्योंकि धर्माधर्म का फल कहीं कुछ भी नहीं है)

नैषधीयचरित और चार्वाक

श्रीहर्ष (द्वादश शती) के नैषधीयचरित में सप्तदशसर्ग के श्लोक ३७-८३ पर्यन्त अर्थात् समस्त ४७ श्लोकों में चार्वाकमन्तव्यताओं का सांगोपांग विवरण दिया है। यथा—

ग्रावोन्मज्जनवद् यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता ।
का श्रद्धा तत्र धीवृद्धाः कामाध्वा यत्खिलीकृतः ॥ १ ॥

(हे बुद्धिमानो, श्रुतियों का प्रतिपादन है कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञकर्ता को स्वर्गादि फल प्राप्त होते हैं[१५]—इस यज्ञफल प्रतिपादक श्रुतियों की प्रामाणिकता में उतनी

---

१५. "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"। —नै० च० ना० १७।३७

ही यथार्थता है, जितनी इस वाक्य में कि ग्रावा अर्थात् पत्थर जल के ऊपर तैरते हैं"[१६] पर इस पाषाणतरण में प्रत्यक्ष प्रमाण का एकान्त अभाव है । इसी प्रकार यज्ञ का फल मिलता है—यह किसी ने प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं किया इस कारण जिसकी सत्यता में प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव हो उस भ्रामक तथा अप्रामाणिक श्रुतिसत्यता में क्यों विश्वास किया जाय ? ।

केनापि बोधिसत्त्वेन जातं सत्त्वेन हेतुना ।
यद्वेदमर्मभेदाय जगदे जगदस्थिरम् ॥ २ ॥

(यज्ञविधायक वेद के प्रकृत रहस्य को प्रकट करने के लिये कोई तत्त्वज्ञानी बोधिसत्त्व उत्पन्न हो चुका है, जिसने सत्व हेतु के द्वारा जगत् को अनित्य या क्षणिक घोषित किया है । बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार जो "सत्' (विद्यमान) है वह अनित्य है ।[१७] अतएव यह दृश्यमान जगत् भी अनित्य है और जगत् के ही अन्तर्गत होने के कारण आत्मा भी अनित्य है । इस परिस्थिति में जिस आत्मा ने पाप या पुण्य किया वह भी क्षणमात्र के पश्चात् नष्ट हो गया । अतएव आत्मा पाप-पुण्य का फलभोक्ता कदापि नहीं हो सकता, इस प्रकार समयान्तर में आचरित पाप-पुण्य का फल आत्मा भोगता है—ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है । इस कारण पाप से डर कर पारलौकिक सुख पाने की आशा से हस्तगत ऐहलौकिक सुख का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।)

अग्निहोत्रं त्रयीतंत्रं त्रिदण्डं भस्मपुण्ड्रकम् ।
प्रज्ञापौरुषनिःस्वानां जीवो जल्पति जीविका ॥ ३ ॥

(बृहस्पति की उक्ति है—(१) प्रातः सायं काल में हवन, (२) तीनों वेदों का आचार पालन, (३) तान्त्रिक अनुष्ठान, (४) दण्ड युक्त संन्यासधारण[१८] और (५) ललाट में भस्म धारण—ये पांच कर्म बुद्धिपुरुषार्थहीन व्यक्तियों के जीविकायापन के उपाय मात्र हैं ।

शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः ।
तदानन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का ॥ ४ ॥

(क्योंकि अपने मातापिता के मातापिता (मातामहीमातामह–पितामहीपितामह) और फिर उनके मातापिता (प्रमातामहीप्रमातामह–प्रपितामहीप्रपितामह) इस प्रकार ब्रह्मा (आदि सृष्टिकर्ता) पर्यन्त प्रत्येक की शुद्धि से उभय कुल की

१६. "ग्रावाणः प्लवन्ते" —Ibid

१७. cf. स० द० स० २।११७–१२० ।

१८. cf. या० स्मृ० १।२।२५ और २९ ।

शुद्धि होती है। इसलिये प्रत्येक जाति का कुल अनन्त है तो कौन सी जाति निर्दोष कही जा सकती है? अर्थात् जातिधर्म छोड़कर स्वेच्छाचार करो। कोई भी जाति शुद्ध और पवित्र नहीं है।)

कामिनीवर्गसंसर्गैर्न कः संक्रान्तपातकः ।
नाश्नाति स्नाति हा मोहात्कामक्षामव्रतं जगत् ॥ ५ ॥

(कामिनियों के संसर्ग से कौन व्यक्ति संकरतादोष से मुक्त कहा जा सकता है। यह खेद का विषय है कि अज्ञानता के कारण लोग व्रतोपवास, तीर्थस्नान आदि कर्म करते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् काम के जाल में बँधा है — कोई भी कामाचार से मुक्त नहीं।)

ईर्ष्यया रक्षतो नारीर्धिक्कुलस्थितिदाम्भिकान् ।
स्मरान्धत्वाविशेषेऽपि तथा नरमरक्षतः ॥ ६ ॥

(स्वभावतः ही कामवासना स्त्री और पुरुष—दोनों में समानभाव से होती है, किन्तु पुरुष ईर्ष्याद्वेष के कारण स्त्रियों को परपुरुषदर्शन से बचाते हैं, पर पुरुष जाति को स्वतन्त्रता देते हैं—ऐसे रूढिपालक अथवा कुलमर्यादाभिमानी ढोंगियों को धिक्कार है।)

परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः ।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना ॥ ७ ॥

(परस्त्री का संसर्ग नहीं करना चाहिये—इस शास्त्रीय आदेशरूप दम्भ का उल्लंघन तो स्वयं वज्रधारी देवराज इन्द्र ने किया। उन्होंने गौतम की पत्नी अहल्या के साथ परोक्ष में संभोग किया।[१९])

गुरुतल्पगतौ पापकल्पनां त्यजत द्विजाः ।
येषां वः पत्युरत्युच्चैर्गुरुदारग्रहे ग्रहः ॥ ८ ॥

(हे द्विजातियो, गुरुपत्नी के संभोग से पाप होता है—इस दाम्भिक पापभावना को त्याग दो, क्योंकि तुम्हारे कुलगुरु चन्द्रमा ने स्वयं अपनी गुरुपत्नी तारा के साथ संभोग किया है[२०]।

पापात्तापा मुदः पुण्यात्परासोः स्युरिति श्रुतिः ।
वैपरीत्यं द्रुतं साक्षात्तदाख्यात बलाबले ॥ ९ ॥

(श्रुति बतलाती है—मरने पर पापाचरण से मनुष्य को नरक आदि दुःख भोगना पड़ता है और पुण्याचरण से स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु

---

१९. cf. वा० रा० १।४८।१९–२२।

२०. cf. वि० पु० ४।६।१०।

प्रत्यक्ष में तो फल एकान्त विपरीत पाए जाते हैं—प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि माघ मास में प्रातः स्नानरूप पुण्यकर्ता को शीतजन्य असह्य दुःख सहन करना पड़ता है, किन्तु परदारसंभोग रूप पापकर्ता को अलौकिक सुख की अनुभूति होती है। इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाण को परोक्ष प्रमाण की अपेक्षा बलवान् मानना अधिक युक्तिसंगत है।)

सन्देहेऽप्यन्यदेहाप्तेर्विवर्ज्यं वृजिनं यदि।
त्यजत श्रोत्रिया सत्रं हिंसादूषणसंशयात्॥ १०॥

(कुछ विद्वानों का मत है, कि जन्मान्तर में देही को नरक आदि दुःख भोगना पड़ता है, इस कारण पाप नहीं करना चाहिये तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि जिस देह से पाप किया गया वह तो मरने पर जला दिया गया तो फिर जन्मान्तर में कैसे और किस देह को दुःख भोगना पड़ेगा? यदि एक के किये पाप से दूसरा पातकी हो तो देवदत्त के भोजन कर लेने से यज्ञदत्त को तृप्त हो जाना चाहिये, पर ऐसा लोक में नहीं देखा जाता है। मरने के उपरान्त देहान्तर प्राप्ति की संभावना नहीं रहने पर भी पाप का त्याग ही उचित है इसलिये हे वैदिक विद्वानो, यदि हम यज्ञ में पशुओं को मारेंगे तो उससे भी हिंसा की संभावना हो ही जाती है इस लिये यज्ञ का त्याग करो, क्योंकि तुम्हारे धर्मशास्त्रों का भी यही आदेश है कि अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है।)

यस्त्रिवेदीविदां वन्द्यः स व्यासोऽपि जजल्प वः।
रामाया जातकामायाः प्रशस्ता हस्तधारणा॥ ११॥

(तुम्हारे (त्रिवेदज्ञाताओं के) वन्दनीय तथा शिरोमणि साक्षात् व्यासदेव का यह वचन है कि कामपीडित रमणियों का पाणिग्रहण अर्थात् संभोग परम श्रेयस्कर है। जो पुरुष काम से व्यथित स्त्री की कामजनित वासना को परितृप्त नहीं करता उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है—यह व्यास की उक्ति है[२१]।)

सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा।
तत्कर्म पुरुषः कुर्याद्येनान्ते सुखमेधते॥ १२॥

(आप लोगों को सुकृत (पुण्याचरण) में जितनी श्रद्धा है उतनी सुरत (मैथुन) में क्यों नहीं? पुरुष (चतुर व्यक्ति) को वही काम करना चाहिये जिसके करने (व्यापार) के अन्त में सुख की अनुभूति हो। रति-केलि से प्रत्यक्ष और अद्‌भुत सुख की प्राप्ति होती है इसका अनुभव प्रायः अशेष व्यक्तियों को है।)

---

२१. "स्मरार्ता विह्वलां दीनां यो न कामयते स्त्रियम्।
ब्रह्महा स तु विज्ञेयो व्यासो वचनमब्रवीत्॥"
—नै० च० ना० १७।४७

बलात्कुरुत पापानि सन्तु तान्यकृतानि वः ।
सर्वान्बलकृतान्दोषानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १३ ॥

(हे ब्राह्मणो, तुमलोग बलात्कार से भी परस्त्रीगमन रूप पापकर्म करो और इन पापकर्मों का फल तुम्हें नहीं मिलना चाहिये, क्योंकि भगवान् मनु का यह वचन है कि बल से किये दोषों का फल (कर्त्ता को) नहीं होता है ।[२२]

स्वागमार्थेऽपि मा स्थास्मिंस्तीर्थिका विचिकित्सवः ।
तं तमाचरतानन्दं स्वच्छन्दं यं यमिच्छथ ॥ १४ ॥

(हे गुरुपरम्परासमागत शास्त्रों मे निष्णात विद्वानो, तुम लोग अपने आश्रम अर्थात् मनुनिर्दिष्ट सिद्धान्त में भी संशयालु मत बनो और जिस-जिस आनन्द को चाहते हो उस-उस का स्वच्छन्द भाव से उपभोग करो ।

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु क्वैकमत्यं महाधियाम् ।
व्याख्या बुद्धिबलापेक्षा सा नोपेक्ष्या सुखोन्मुखी ॥ १५ ॥

(श्रुति और स्मृति के अर्थज्ञान में महापण्डितों के भी मत भिन्न-भिन्न हैं । अपने-अपने बुद्धिबल के अनुसार पण्डितों ने श्रुतिस्मृतियों की व्याख्या की है । हमें उनके सुगम अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिये ।)

यस्मिन्नस्मीति धीर्देहे तद्दाहे वः किमेनसा ।
क्वापि तत्किं फलं न स्यादात्मेति परसाक्षिके ॥ १६ ॥

(जिस देह में मैं (गोरा, काला, मोटा या दुबला आदि) हूँ उस (देह) के जलाने में तुम को पाप की भावना क्यों ? परप्रमाण या शब्द-प्रमाण से यदि आत्मा को पापकर्म के फल भोक्ता मान लिया जाय तो भी सर्व-शरीरगत आत्मा की एकता के कारण एक देवदत्त के किये पाप का फल दूसरे यज्ञदत्त को भी मिलना चाहिये और यदि ऐसा नहीं होता तो देहकृत पापफल का भोक्ता आत्मा क्यों होता ?)

मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः ।
अन्यभुक्तैर्मृते तृप्तिरित्यलं धूर्तवार्तया ॥ १७ ॥

(शरीर त्याग के पश्चात् (आत्मा को) पूर्व जन्म की घटना याद रहती है, पूर्वजन्मार्जित सुकर्म-कुकर्म का शुभाशुभ फल प्राप्त होता है तथा श्राद्धादि में ब्राह्मणादिकों को भोजन कराने से प्रेतात्मा को तृप्ति होती है इत्यादि प्रति-पादन करने वाले शास्त्रों के वचन धूर्त वचन और हेय हैं ।)

---

२२. "बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम् ।
सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥" —मनु० ८।१६८

जनेन जानतास्मीति कायं नायं त्वमित्यसौ ।
त्याज्यते ग्राह्यते चान्यद्हो श्रुत्यातिधूर्त्तया ॥ १८ ॥

(लोक देह को ही प्रत्यक्ष आत्मा मान कर कहता है—मैं स्थूल हूँ, तुम दुबले हो, वह काला है, यह मेरी पत्नी है, वह मेरा पुत्र है इत्यादि । पर, तुम देह नहीं, यह अजन्मा, अजर और अमर आत्मा हो—इत्यादि प्रलापों के द्वारा श्रुतिलोकसे देह को अनित्य मानने को बाध्य करती हुई अन्य देह धारण कराती है—यह कैसे ? ये परस्पर विरोधी दो सिद्धान्त कैसे संभव हैं ?)

एकं सांदग्धयोस्तावद्भावि तत्रेष्टजन्मनि ।
हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसंगानन्यथा विटाः ॥ १९ ॥

(सन्तान (पुत्र) लाभ होगा या नहीं होगा—इस प्रकार की सन्दिग्ध दो विपरीत अवस्थाओं में एक (अवस्था) का होना अवश्यंभावी होता है । यदि पुत्र जन्म हुआ तो धूर्त (पुरोहितादि) लोग (दक्षिणादि के लोभ से) उसके हेतु में अपने मन्त्रानुष्ठान की कारणता बतलाते हैं और यदि पुत्र जन्म नहीं हुआ तो उसका हेतु अनुष्ठान-सामग्रियों का अभाव बतलाते हैं ।)

एकस्य विश्वपापेन तापेऽनन्ते निमज्जतः ।
कः श्रौतस्यात्मनो भीरो भारः स्याद्दुरितेन ते ॥ २० ॥

श्रुति के अनुसार पृथक्-पृथक् शरीर तो उपाधिमात्र है और आत्मा तो सबका एक ही है—हे कायर, सम्पूर्ण विश्व के आचरित (परदार गमनादि) पाप से यदि तुम अपने को असीम नरक के दुःखभोक्ता समझते हो तो तुम्हारे एक (साधारण) पाप का मूल्य ही क्या है ? श्रुति प्रमाणित एवं विश्वाचरित पुण्य के भी फलभोक्ता तुम्हीं हो । अर्थात् एकात्मता के विचार से स्वच्छन्दतापूर्वक सभी रमणियों में विहार करने के तुम अधिकारी हो ।)

किं ते वृन्तहृतात्पुष्पात्तन्मात्रे हि फलत्यदः ।
न्यस्य तन्मूर्ध्न्ययेनन्यस्य न्यास्यमेवाश्मनो यदि ॥ २१ ॥

(पुष्प को डण्ठल से तोड़ने से तुम्हें क्या लाभ ? क्योंकि उस डण्ठल में लगे रहने पर ही वह फलरूप में परिणत होता है । यदि पाषाण—निर्मित देव-मूर्तिओं के मस्तक पर ही चढ़ाना अभिप्रेत हो तो (देवता तथा अपने में अभेद बुद्धि रख कर) अपने ही मस्तक पर धारण करो (क्योंकि श्रौतमत से ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता है ।[२३])

तृणानीव घृणावादान्विधूनय वधूरनु ।
तवापि तादृशस्यैव का चिरं जनवञ्चना ॥ २२ ॥

२३. cf. श्वे० उ० ३।१४–१६ ।

(हे पुरुष, स्त्री जाति के प्रति घृणात्मक निन्दावचनों का तृणों के समान त्याग करो, क्योंकि तुम्हारा शरीर भी उसी प्रकार मांस्-मज्जा के समूह से निर्मित हुआ है। तो स्त्रियों को निन्दित बतलाकर तुम घोर लोकप्रवंचना क्यों करते हो ? जो स्वयं व्यभिचारी है उसे व्यभिचारिणी की निन्दा करने का स्वभावत: कोई अधिकार नहीं है।)

कुरुध्वं कामदेवाज्ञां ब्रह्माद्यैरप्यलङ्घिताम् ।
वेदोऽपि देवकीयाज्ञा तत्राज्ञाः काधिकार्हणा ॥ २३ ॥

(हे मूर्खो (ब्रह्मा ने अपनी तनया से संभोग किया और सुरपति ने गौतम की पत्नी अहल्या से) ब्रह्मा आदि देवताओं ने भी जिस कामदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया[२४] उस ब्रह्मा आदि देवताओं से अनुल्लंघित अर्थात् पालित कामदेव की आज्ञा का पालन करो (यदि कहो कि वेद का उल्लंघन कर कामवासना को क्यों पूर्ण करें, इसका समाधान) वेद भी देवता की आज्ञा है तथा परस्त्रीगमन भी देवता की आज्ञा ही है तो एक आज्ञा में अधिक आस्था क्यों ? दोनों तो देवता की ही आज्ञायें हैं। यदि दोनों समानमूल्य ही हैं तो फिर एक को पुरस्कार और अन्य को तिरस्कार क्यों ?

प्रलापमपि वेदस्य भागं मन्यध्व एव चेत् ।
केनाभाग्येन दुःखान्न विधीनपि तथेच्छथ ॥ २४ ॥

(तुम मीमांसकों के मत में वेद एक अपौरुषेय और अनादि ग्रन्थ है, किन्तु उस वेद के किसी (अर्थवादमन्त्र नामक) भाग को प्रलाप मानते हो तो किस अभाग्यसे कष्टकारक दूसरी विधि (अग्निष्टोमादि यज्ञ विधान प्रतिपादक भाग) को प्रलाप नहीं मानते ? जब तुम एक भाग को निरर्थक समझते हो तो "अर्धजरतीय" न्याय के अनुसार दोनो भागों को प्रलाप समझते हुए क्यों नहीं छोड़ देते ?)

श्रुतिं श्रद्धत्थ विक्षिप्ताः प्रक्षिप्तां ब्रूथ च स्वयम् ।
मीमांसामांसलप्रज्ञास्तां यूपद्विपदापिनीम् ॥ २५ ॥

(वेदार्थ के विचार में स्थूल बुद्धि होने के कारण तुम श्रुति का आदर तो करते हो और साथ ही साथ विक्षिप्तचित्त होकर श्रुति के उन भागों को, जहाँ प्रत्येक यज्ञस्तंभ में हाथी बाँधकर ऋत्विजों के लिए दान देने का विधान है[२५] प्रक्षिप्त कहते हो। ये दो परस्पर विरोधी निर्णय कैसे हो सकते ?)

---

२४. cf. भागवत पु० ३।१२।२८ और कुमारसंभव ४।४१।

२५. "यूपे यूपे हस्तिनो वध्वा ऋत्विग्भ्यो दद्यात् ।"

cf. नै० च० ना० १७।६१

को हि वेदास्त्यमुष्मिन्वा लोक इत्याह या श्रुतिः ।
तत्प्रामाण्यादमुं लोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम् ॥ २६ ॥

("कौन जानता है कि उस परलोक में जीवात्मा जाता है" यह श्रुति की भी सन्देहात्मक उक्ति है। जिसके अस्तित्व-नास्तित्व में श्रुति स्वयं परलोक की सत्ता में सन्देह प्रकट करती है, उस श्रुति के ही प्रमाण से कौन प्रक्षावान् व्यक्ति उस परलोक की सत्ता पर विश्वास करे ?)

धर्माधर्मौ मनुर्जल्पन्नशक्यार्जनवर्जनौ ।
व्याजान्मण्डलदण्डार्थी श्रद्धायि मुधा बुधैः ॥ २७ ॥

(मनु ने अत्यन्त क्लेशसाध्य चान्द्रायण आदि व्रतों के नियम पालन को धर्म तथा अपालन को अधर्म प्रतिपादन किया है और उस अनायास अधर्मजनित पाप से मुक्ति पाने के लिये सर्वसाधारण में प्रायश्चित्त आदि की जो व्यवस्था की है उस व्यवस्था का उद्देश्य धनलोभ ही हो सकता है। चतुर मनुष्यों के लिये मनुस्मृति के विधिनिषेधों का तिरस्कार करना ही श्रेयस्कर है। अपने को बुद्धिमान् समझने वाले व्यर्थ ही उसमें श्रद्धा रखते हैं।)

व्यासस्यैव गिरा तस्मिन्श्रद्धेत्यद्धास्थ तान्त्रिकाः ।
मत्स्यस्याप्युपदेश्यान्वः को मत्स्यानपि भाषताम् ॥ २८ ॥

(पुराणों के रचयिता व्यास स्वयं मत्स्यगन्धा के जारज पुत्र थे[२६] और अपनी भ्रातृपत्नी से संभोग किया था।[२७] उस व्यास के ही वचन से धर्म में, परलोक में या उस (व्यास) में ही श्रद्धालु तुम क्या यथार्थतः चतुर हो ? व्यासरचित मत्स्यपुराण मत्स्यरूपधारी विष्णु का मनु के प्रति उपदेश मात्र है—यह विषय अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि मत्स्यजाति स्वयं निकृष्ट है और तुम्हारे आदिप्रवर्तक मनु को शिष्य मान कर उसी निकृष्ट मत्स्य ने शिक्षक बन कर उपदेश दिया था। शिक्षक की अपेक्षा शिष्य हीनतर होता ही है तो मनु से उत्पन्न तुम मनुष्यों को मत्स्य सम्बोधन से भी कौन अभिहित करे ? व्यासरचित-पुराणानुयायी होने के कारण तुम मत्स्य से भी नीचतर हो।)

पाण्डतः पाण्डवानां स व्यासश्चाटुपटुः कविः ।
निनिंद तेपु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम् ॥ २६ ॥

(पाण्डवों के पक्ष में रहने वाले सभापण्डित, मधुरभाषी, कवित्व-शक्ति-सम्पन्न और आपलोगों के श्रद्धेय व्यास ने पाण्डवों के दुर्योधनादि की निन्दा करने पर

---

२६. cf. देवीभागवत, २।३५।२७।

२७. cf. भा० आदि० १०५।१—३२।

क्या निन्दा नहीं की ? या चाटुकार पाण्डवों के कृष्णादि की प्रशंसा करने पर प्रशंसा नहीं की ? अर्थात् व्यास ने पाण्डवों का जैसा संकेत पाया वैसा ही किया।)

न भ्रातुः किल देव्यां स व्यासः कामात्समासजत् ।
दासीरतस्तदासीद्यन्मात्रा तत्राप्यदेशि किम् ।। ३० ।।

(क्या उस व्यास ने अपने भाई (विचित्रवीर्य) की पत्नी के साथ कामातुर होकर रति नहीं की थी ?[२८] यदि आप कहें कि पुत्रोत्पत्ति के लिये धर्मशास्त्रानुमोदित भ्रातृपत्नी से संगम के लिये माता का आदेश था तो उसी समय व्यास ने दासी के साथ संगम किया था। उस कार्य के लिये तो माता का आदेश नहीं था।)

देवैर्द्विजैः कृता ग्रन्थाः पन्था येषां तदादृतौ ।
गां नतैः किं न तैर्व्यक्तं ततोप्यात्माधरीकृतः ।। ३१ ।।

(तुम्हारे ब्रह्मा आदि देवताओं ने और याज्ञवल्क्य आदि द्विजों ने जिन ग्रन्थों की रचना की है उन्हीं ग्रन्थों के कारण उनका लोक में आदर है। उनके आदेश से पशुरूप गौ के प्रति प्रणत रहने वाले तुम लोगों ने स्पष्ट ही पशु जाति से भी अपने को नीचतर प्रमाणित कर दिया, क्योंकि नमस्कार्य की अपेक्षा नमस्कर्त्ता तो हीनतर होता ही है।)

साधुकामुकतामुक्ता शान्तस्वान्तैर्मखोन्मुखैः ।
सारंगलोचनासारां दिवं प्रेत्यापि लिप्सुभिः ।। ३२ ।।

(यजमान विषयवासनाओं से पराङ्मुखचित्त होकर यज्ञ करने के उपरान्त स्वर्गगामी होते हैं, पर स्वर्ग में जाने पर भी कामना से मुक्ति नहीं पाते, क्योंकि वहाँ भी उन्हें (तिलोत्तमादि) अप्सराओं को प्राप्त करने की कामना बनी रहती है। वस्तुतः स्वर्ग में भी कामुकता से मुक्ति नहीं होती।[२९])

कः शमः क्रियतां प्राज्ञाः प्रियाप्रतीतौ परिश्रमः ।
भस्मीभूतस्य भूतस्य पुनरागमनं कुतः ।। ३३ ।।

(हे प्राज्ञो (प्र + अज्ञो = प्राज्ञो) महामूर्खो, इन्द्रियों के निग्रह से कहीं भी शान्ति नहीं इस लिए अपनी प्रेमिका रमणी के सुखकर संभोग में लगे रहो। यदि कहो

---

२८. Ibid.

२९. क० उ० १।१।२५, गीता ९।२०,
भा० पु० ११।२१।३३

कि ऐसा करने से नरकादि की प्राप्ति होती है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है, अतः देह के भस्म हो जाने पर फिर किसे नरकादि का भोग होगा !)

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥ ३४ ॥

(शब्दशास्त्र के मत से "अपवर्गे तृतीया" इस सूत्र का अर्थ होता है—फल प्राप्ति बोध होने से काल और मार्गवाचक शब्दों में तृतीया विभक्ति होती हैं, परन्तु दार्शनिक मत से "अपवर्गे तृतीया" सूत्र के प्रणेता पाणिनि मुनि का भी मत है कि ब्रह्मचर्यादि पालन के द्वारा मोक्षादि पारलौकिक साधन में तो तृतीयाप्रकृति अर्थात् क्लीवों को यत्न करना चाहिये उभयीप्रकृति अर्थात् स्त्री पुरुषों को तो काम भोग में अधिकार है ।)

बिभ्रत्युपरियानाय जना जनितमज्जनाः ।
विग्रहायाग्रतः पश्चाद्गत्वरोरभ्रविभ्रमम् ॥ ३५ ॥

(स्वर्ग का अस्तित्व ऊपर मान कर स्वर्ग को जाने के उद्देश्य से लोग गंगादि नदियों में नीचे उतर कर स्नान करने के लिये उत्तरोत्तर और अधिक निम्नमुख होकर डुबकी लगाते हैं। यह उस गमनशील भेडे की चेष्टा के समान है जो आगे से युद्ध करने के लिये कुछ पीछे की ओर हट जाता है । गङ्गास्नानादि से स्वर्ग की प्राप्ति होती है यह भ्रान्तिमात्र है ।)

एनसानेन तिर्यक्स्यादित्यादिः का बिभीषिका ।
राजिलोऽपि हि राजेव स्वैः सुखी सुखहेतुभिः ॥ ३६ ॥

(अमुक पापाचरण से तिर्यक्-कीट, पतङ्ग तथा सर्प आदि घृणित योनियों में जन्म लेना पड़ता है—ऐसा निरर्थक भयप्रदर्शन क्यों ? क्योंकि तिर्यग्योनियों में भी ऐसी ही समाजव्यवस्था है—वहाँ भी राजिल (जल व्याल) जो तिर्यग्योनियों में हीन है, अपने सुखसाधनों से राजा के समान सुखी रहता है । इस कारण यथेच्छाचार ही श्रेयस्कर है ।)

हताश्चेद्दिवि दीव्यन्ति दैत्या दैत्यारिणा रणे ।
तत्रापि तेन युध्यन्तां हता अपि तथैव ते ॥ ३७ ॥

(तुम्हारे मत से संग्राम-भूमि में मारे गये वीर पुरुष यदि स्वर्ग में अमर होकर क्रीड़ा करते हैं तो दैत्यादि विष्णु के द्वारा रण में मारे गये हिरण्यकशिपु प्रभृति दैत्य उनके साथ वहाँ (स्वर्ग में) भी युद्ध करें, क्योंकि (तुम्हारे मत से) स्वर्ग में मारे जाने पर भी वहाँ अमर की ही अवस्था में रहेंगे ।[३०]

३०. cf. गीता २।३७ और Ibid ८'६

स्वं च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।
इति स्वोच्छित्तिमुक्त्युक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम् ।। ३८ ।।

(संसार में जीवात्मा और ब्रह्म—इन दोनों का अस्तित्व रहता है, पर वेदान्तियों के मत से मोक्ष हो जाने पर केवल ब्रह्म शेष रह जाता है। इस प्रकार स्व (आत्मा) के नाश को ही मोक्ष प्रतिपादक वेदान्तियों की अतिचातुरी नहीं तो अतिमूर्खता तो अवश्य है।)

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ।। ३९ ।।

(जिसने चैतन्ययुक्त प्राणियों के पाषाणवत् जड हो जाने को ही अपने न्याय-दर्शनशास्त्र में मुक्ति बतलाई उस गोतम ऋषि (मुनि) को शब्दशास्त्रीय व्युत्पत्ति से जैसा जानते हो वह वैसा ही-निकृष्ट पशु है भी। गोतम शब्द की व्युत्पत्ति (गो = पशु + तम = गोतम) पशुओं में भी पशु अर्थात् महापशु है।)

दारा हरिहरादीनां तन्मग्नमनसो भृशम् ।
किं न मुक्ताः कुतः सन्ति कारागारे मनोभुवः ।। ४० ।।

(विष्णु और महादेव आदि की लक्ष्मी और पार्वती आदि पत्नियों का मन तो निरन्तर उन्हीं (विष्णु और महादेव) में संलग्न रहता है तो फिर वे क्यों नहीं मुक्त हो गई ? वे कामदेव के बन्धन में क्यों पड़ी रहती हैं ?)

देवश्चेदस्ति सर्वज्ञः करुणाभागवन्ध्यवाक् ।
तत्किं वाग्व्ययमात्रान्नः कृतार्थयति नार्थिनः ।। ४१ ।।

(यदि ईश्वर सर्वज्ञ और दयालु है, और उसकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती तो हमारे माँगने पर वह हमें क्यों नहीं कृतार्थ कर देता है ? इतने विशेषणों से युक्त होने पर भी यदि हमारे मनोरथों को पूर्ण नहीं करता तो वास्तव में उसकी सत्ता नहीं है।)

भाविनं भावयन्दुःखं स्वकर्मजमपीश्वरः ।
स्यादकारणवैरी नः कारणादपरे परे ।। ४२ ।।

(हमारे पूर्वकृत कर्म (पाप) के फल (दुःख) का विधायक ईश्वर अकारण ही वैरी ठहरता है। अन्य संसारी लोग तो धनादि के अपहरण करने के हेतु सकारण वैरी बनते हैं। कर्म की ही प्रधानता रहने से ईश्वर की अपेक्षा निष्प्रयोजन ही रह जाती है।)

तर्काप्रतिष्ठया साम्यादन्योन्यस्य व्यतिघ्नताम् ।
नाप्रामाण्यं मतानां स्यात्केषां सत्प्रतिपक्षवत् ।। ४३ ।।

(तर्क की प्रतिष्ठा—सीमा नहीं रहने के कारण समानरूप से परस्पर विरोधी मतों में किनकी प्रामाणिकता स्वीकृत नहीं की जाय ?)

अक्रोधं शिक्षयन्त्यन्यैः क्रोधना ये तपोधनाः ।
निर्धनास्ते धनायैव धातुवादोपदेशिनः ।। ४४ ।।

(जो तपस्वी (दुर्वासा आदि) स्वयं तो क्रोध की मूर्ति हैं, पर दूसरों से क्रोध न करने का उपदेश दिलाते हैं। उनका यह व्यापार वैसा ही है जैसे कोई निर्धन धन पाने के लिए धातुवाद विद्या का उपदेश करता है ।)

किं वित्तं दत्त तुष्टेयमदातरि हरिप्रिया ।
दत्वा सर्वं धनं मुग्धो बन्धनं लब्धवान्बलिः ।। ४५ ।।

(हे मनुष्यो, तुम्हें यज्ञादि में पात्रों को दक्षिणारूप में क्यों धन दान करना चाहिये ? क्योंकि हरिप्रिया—लक्ष्मी अदानी—कृपण के ऊपर ही प्रसन्न रहती है। मूर्ख राजा बलि ने पात्रों को अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी, किन्तु उन्हें बन्धन में ही आना पड़ा ।)

दोग्धा द्रोग्धा च सर्वोऽयं धनिनश्चेतसा जनः ।
विसृज्य लोभसंक्षोभमेकद्वा यद्युदासते ।। ४६ ।।

(संसार में सब लोग धनिकों के धन हड़पने में लगे रहते हैं और मन में उनके साथ द्रोह-भाव रखते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति गिने-गिनाये एक-ही-दो मिलेंगे जिन्हें अन्य की सम्पत्ति ग्रहण से उपरति हो ।)

दैन्यस्यायुष्यमस्तैन्यमभक्ष्यं कुक्षिवञ्चना ।
स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्दकन्दलीकन्दमेककम् ।। ४७ ।।

(चोरी न करना अपनी दीनता को बढ़ाना है, स्वादिष्ट भोजन को अभक्ष्य बतलाना अपने उदर को वञ्चित करना है (इसलिए शास्त्रीय निषेधों को त्याग कर) सकलसुखों के मूल स्वेच्छाचारिता को भजो ।)

सर्वदर्शनसंग्रह और चार्वाक

सायण माधव (चतुर्दश शती) ने अपने सर्वदर्शन संग्रह में सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन का ही विवरण दिया है । यथा—

अथ कथं परमेश्वरस्य निःश्रेयसप्रदत्वमभिधीयते । बृहस्पतिमतानुसारिणा नास्तिकशिरोमणिना चार्वाकेण तस्य दूरोत्सारितत्वात् । दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम् । प्रायेण सर्वप्राणिनस्तावत्—

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

—इति लोकगाथामनुरुन्धाना नीतिकामशास्त्रानुसारेणार्थकामावेव पुरुषार्थौ मन्यमानाः पारलौकिकमर्थमपह्नुवानाश्चार्वाकमतमनुवर्तमाना

एवानुभूयन्ते। अतएव तस्य चार्वाकमतस्य लोकायतमित्यन्वर्थमपरं नामधेयम्।

(यह कैसे कहा जा सकता है कि परमेश्वर मोक्ष प्रदाता है? बृहस्पतिमतानुयायी नास्तिकशिरोमणि चार्वाक ने तो (परमेश्वर की सत्ता को) दूर ही फेंक दिया है। चार्वाक का सिद्धान्त तो सर्वथा अकाट्य है। प्रायः सभी प्राणी तो—

"जब तक जीना, सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहिये, क्योंकि मृत्यु किसी को छोड़ेगी नहीं। मृत्यु के उपरान्त शरीर के भस्मीभूत हो जाने पर पुनः संसार में आना नहीं है"।

इस लोकोक्ति पर विश्वास करते तथा नीति और कामशास्त्र के अनुसार अर्थ और काम को ही पुरुषार्थ मानते हुए पारलौकिक सुख को तिरस्कृत कर चार्वाकमत के ही (व्यवहारतः) अनुयायी ज्ञात होते हैं। अतएव चार्वाकमत का दूसरा नाम लोकायत (जगद्व्याप्त) है और वह यथार्थ ही है।)

तत्र पृथिव्यादीनि भूतानि चत्वारि तत्त्वानि। तेभ्य एव देहाकारपरिणतेभ्यः किण्वादिभ्यो मदशक्तिवच्चैतन्यमुपजायते। तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयं विनश्यति। तदाहुः—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति (बृ० उ० २।४।१२) इति। तच्चैतन्यविशिष्टदेह एवात्मा। देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयानुमानादेरनङ्गीकारेण प्रामाण्याभावात्। अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः। न चास्य दुःखसंभिन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्तीति मन्तव्यम्। अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात्। तद्यथा मत्स्यार्थी सशल्कान्सकण्टकान्मत्स्यानुपादत्ते स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। यथा वा धान्यार्थी सपलालानि धान्यान्याहरति स यावदादेयं तावदादाय निवर्तते। तस्माद्दुःखभयान्नानुकूलवेदनीयं सुखं त्यक्तुमुचितम्। न हि मृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते। न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। यदि कश्चिद्भीरुर्दृष्टं सुखं त्यजेत्तर्हि स पशुवन्मूर्खो भवेत्। तदुक्तम्—

(उनके मत से पृथिवी आदि भूत चार तत्त्व हैं। देह के रूप में परिणत हो जाने पर इन्हीं (तत्त्वों) से चैतन्य उस प्रकार उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार मादक द्रव्यों से मादक शक्ति। इनके विनष्ट हो जाने पर (चैतन्य)

स्वयं विनष्ट हो जाता है। यही वचन कहा गया है—"विज्ञान के रूप में ही इन तत्त्वों से निकल कर (आत्मा) इन्हीं में विलीन हो जाता है, मरने पर कोई ज्ञान नहीं रहता। अतः चैतन्ययुक्त देह ही आत्मा है, क्योंकि देह के अतिरिक्त अन्य आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं। ये केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, अनुमान आदि प्रमाणों की अमान्यता के कारण उनकी प्रामाणिकता नहीं है। स्त्री आदि के आलिङ्गनादि जनित सुख ही पुरुषार्थ है, ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दुःख से संमिश्रित रहने के कारण (सुख) पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि सुख के साथ अनिवार्य रूप से संमिश्रित दुःख को हटा कर केवल सुख का ही उपभोग करना चाहिये। जैसे मछलियों का इच्छुक व्यक्ति छिलकों और काँटों के साथ ही मछलियों को पकड़ता है, उसे जितनी आवश्यकता होती है उतना (अंश) लेकर अलग हो जाता है, और जिस प्रकार धन्यार्थी पुआल के साथ धान्यों को (खेत) से ले आता है, उसे जितनी आवश्यकता होती है उतना (अंश) लेकर अलग हो जाता है। अतएव दुःख के भय से (इच्छा के) अनुकूल लगने वाले सुख को त्यागना उचित नहीं है। ऐसा तो (व्यवहार में) नहीं देखा जाता कि मृग हैं इस भय से धान नहीं रोपे जाते तथा भिक्षु हैं इस भय से पात्र (चूल्हे पर) नहीं चढ़ाये जाते। यदि कोई भीरु दृष्ट सुख को त्याग देता है तो वह पशु के समान मूर्ख है।) कहा भी है—

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ॥ (का० सू० १।४८)

(यह मूर्खों की धारणा है कि मनुष्यों को सुख का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि उसकी उत्पत्ति विषयसंगम से होती है और वह दुःखों से युक्त है। भला, आत्महितैषी कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो श्वेत और सर्वोत्कृष्ट धानों को भूसे और कणों से मिले होने के कारण त्यागना चाहेगा ?

ननु पारलौकिकसुखाभावे बहुवित्तव्ययशरीरायाससाध्येऽग्निहोत्रादौ विद्यावृद्धाः कथं प्रवर्तिष्यन्त इति चेत्तदपि न प्रमाणकोटिं प्रवेष्टुमीष्टे। अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषैर्दूषिततया वैदिकंमन्यैरेव धूर्तबकैः परस्परं कर्मकाण्डप्रामाण्यवादिभिर्ज्ञानकाण्डस्य ज्ञानकाण्डप्रामाण्यवादिभिः कर्मकाण्डस्य च प्रतिक्षिप्तत्वेन त्रय्या धूर्तप्रलापमात्रत्वेनाग्निहोत्रादेर्जीविकामात्रप्रयोजनत्वात्। तथा चाभाणकः—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

यदि (कोई पूछे कि)—पारलौकिक सुख (का अस्तित्व) न हो, तो विद्वान् लोग अग्निहोत्रादि (यज्ञों) में क्यों प्रवृत्त होते हैं, जब कि उनमें अपार धन का व्यय और शारीरिक श्रम भी लगता है—यह (तर्क) भी प्रामाणिक नहीं हो सकता, क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रयोजन जीविका के लिये ही है, तीनों (वेद) धूर्तों के प्रलापमात्र हैं, क्योंकि अपने को वेदज्ञ समझने वाले धूर्त-वकों ने परस्पर में ही (वेद को) अनृत, व्याघात और पुनरुक्त आदि दोषों से दूषित किया है। उदाहरण के लिये यथा–कर्मकाण्ड के प्रामाण्य मानने वालों ने ज्ञान-काण्ड को और ज्ञानकाण्ड के प्रामाण्य मानने वालों ने कर्मकाण्ड को दोषयुक्त बतलाया है। लोकोक्ति भी है—

अर्थात् बृहस्पति के अनुसार अग्निहोत्र, त्रिवेद, त्रिदण्डधारण और भस्म-लेपन ये सभी वस्तुयें बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन लोगों की जोविका है।)

अत एव कण्टकादिजन्यं दुःखमेव नरकः। लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः। देहोच्छेदो मोक्षः। देहात्मवादे च स्थूलोऽहं, कृशोऽहं, कृष्णोऽहमित्यादि सामानाधिकरण्योपपत्तिः। मम शरीरमिति व्यवहारो राहोः शिर इत्यादिवदौपचारिकः। तदेतत्सर्वं समग्राहि—

(अत एव काँटे इत्यादि से उत्पन्न दुःख ही नरक है, संसार में सम्मानित राजा ही परमेश्वर है। देह का नाश ही मोक्ष है। देह को ही आत्मा मानने पर "मैं मोटा हूँ, दुबला हूँ, काला हूँ," इत्यादि वाक्यों से दोनों का सामाना-धिकरण्य होना भी सिद्ध हो जाता है। "मेरा शरीर" यह प्रयोग "राहु का शिर" के समान आलंकारिक है। इनका संग्रह इस प्रकार हुआ है।)

अङ्गनालिङ्गनाज्जन्यसुखमेव पुमर्थता।
कण्टकादिव्यथाजन्यं दुःखं निरय उच्यते ॥ १ ॥
लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।
देहस्य नाशो मुक्तिस्तु न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥ २ ॥
अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥ ३ ॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥ ४ ॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी ॥ ५ ॥

(स्त्रियों के आलिङ्गन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है। कण्टक से उत्पन्न दुःख ही नरक है। संसार सम्मानित राजा ही परमेश्वर है, कोई अन्य नहीं।

देह का नाश ही मुक्ति है, ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। यहाँ भूमि, जल, अग्नि और वायु—ये ही चार तत्व हैं और इन्हीं (तत्वों) से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है, जिस प्रकार मादक द्रव्यों के मिलने से मादकता (स्वयं) आ जाती है। मैं स्थूल हूँ, "दुर्बल" हूँ—इस प्रकार समानाधिकार होने के कारण तथा "स्थूलता", "दुर्बलता" आदि से संभोग होने के कारण देह ही आत्मा है, कोई अन्य नहीं। "मेरा शरीर" यह उक्ति तो केवल आलंकारिक है।)

स्यादेतत्। स्यादेष मनोरथो यद्यनुमानादेः प्रामाण्यं न स्यात्। अस्ति च प्रामाण्यम्। कथमन्यथा धूमोपलम्भानन्तरं धूमध्वजे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरुपपद्येत। नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वचनाश्रवणसमनन्तरं फलार्थिनां नदीतीरे प्रवृत्तिरिति। तदेतन्मनो राज्यविजृम्भणम्। व्याप्ति-पक्षधर्मताशालि हि लिङ्गं गमकमभ्युपगतमनुमानप्रामाण्यवादिभिः। व्याप्तिश्चोभयविधोपाधिविधुरः संबन्धः। स च सत्तया चक्षुरादिवन्नाङ्ग-भावं भजते। किंतु ज्ञाततया। कः खलु ज्ञानोपायो भवेत्। न तावत्प्र-त्यक्षम्। तच्च बाह्यमान्तरं वाभिमतम्। न प्रथमः। तस्य संप्रयुक्त-विषयज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसंभवेऽपि भूतभविष्यतोस्तदसंभवेन सर्वोपसंहारवत्या व्याप्तेर्दुर्ज्ञानत्वात्। न च व्याप्तिज्ञानं सामान्यगोचर-मिति मन्तव्यम्। व्यक्त्योरविनाभावाभावप्रसङ्गात्। नापि चरमः। अन्तःकरणस्य बहिरिन्द्रियतन्त्रत्वेन बाह्येऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदुक्तम्—

(अस्तु, यही सही। आपका यह मनोरथ तो तब पूर्ण होता है, जब अनुमान आदि प्रमाण नहीं होते। यदि वे प्रमाण नहीं हैं तो धूम देख कर बुद्धिमान् लोगों की अग्नि के प्रति कैसे प्रवृत्ति होती है? नदी के किनारे फल के होने की बात सुन कर ही फलार्थी नदी की ओर कैसे चल पड़ते हैं। यह केवल मनोराज्य की कल्पना मात्र है। अनुमान को प्रमाणवादी संबन्ध बताने वाला लिङ्ग मानते हैं, जो व्याप्ति और पक्षधर्मता से युक्त रहता है। व्याप्ति का अर्थ है दोनों प्रकार की उपाधि (सन्दिग्ध और निश्चित) से रहित संबन्ध। व्याप्ति अपनी सत्ता से ही चक्षु आदि के समान (अनुमान का) अंग नहीं बन सकता। किन्तु (इसके) ज्ञान से ही (अनुमान संभव है)। व्याप्ति के ज्ञान का कौन सा उपाय है? प्रत्यक्ष तो नहीं हो सकता। क्योंकि यह या तो बाह्य प्रत्यक्ष होगा या आन्तर प्रत्यक्ष। प्रथम (बाह्य प्रत्यक्ष) से (व्याप्ति ज्ञान) नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वसम्बद्ध (बाह्य) विषयों का ही ज्ञान उत्पन्न कर सकता है, अतएव वर्तमान काल के विषय में समर्थ होता हुआ भी भूत और भविष्यत् के विषय में असंभव हो

जायगा जिससे सभी वस्तुओं का निष्कर्ष निकालने वाली व्याप्ति नहीं जानी जा सकती। यह कथन भी ठीक नहीं कि सामान्य धर्मों को देख कर व्याप्ति का ज्ञान होता है, क्योंकि तब दो व्यक्तियों के बीच अविनाभाव (व्याप्ति) का संबन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। आन्तर प्रत्यक्ष से भी (व्याप्ति ज्ञान) नहीं हो सकता। अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों के अधीन है, इसलिये बाह्य विषयों में स्वतन्त्रता से उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कहा भी है—)

चक्षुराद्युक्तविषयं परतन्त्रं बहिर्मनः। (त० वि० २०) इति।

नाप्यनुमानं व्याप्तिज्ञानोपायः। तत्रतत्राप्येवमित्यनवस्थादौःस्थ्यप्रसङ्गात्। नापि शब्दस्तदुपायः। काणादमतानुसारेणानुमान एवान्तर्भावात्। अनन्तर्भावे वा वृद्धव्यवहाररूपलिङ्गावगतिसापेक्षतया प्रागुक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात्। धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीति वचनमात्रे मन्वादिवद्विश्वासाभावाच्च। अनुपदिष्टाविनाभावस्य पुरुषस्यार्थान्तरदर्शनेनार्थान्तरानुमित्यभावे स्वार्थानुमानकथायाः कथाशेषत्वप्रसङ्गाच्च कैव कथा परार्थानुमानस्य। उपमानादिकं तु दूरापास्तम्। तेषां संज्ञासंज्ञिसंबन्धादिबोधकत्वेनानौपाधिकसंबन्धबोधकत्वासंभवात्।

(मन बाह्य इन्द्रियों के अधीन है, क्योंकि चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से ही उसे विषयों का ज्ञान होता है। अनुमान भी व्याप्ति ज्ञान का साधक नहीं, क्योंकि उसमें भी दूसरी व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित है। इस प्रकार कभी समाप्त न होने वाला (अनवस्था) दोष होगा। शब्द भी व्याप्तिज्ञान का उपाय नहीं, क्योंकि कणाद के मत से वह अनुमान के ही अन्तर्गत है। यदि अन्तर्गत न हो तो भी उसमें वृद्ध पुरुष के व्यवहार रूप लिङ्ग का ज्ञान तो चाहिए ही, अतएव फिर वही पूर्वकथित दोष (अनवस्था) आ जायगा, जिसका उल्लंघन कठिन कार्य है। यदि यह कहें कि धूम और अग्नि में अविनाभाव संबन्ध पूर्वकाल से है तो इस बात पर वैसे ही विश्वास नहीं होगा जैसे मनु आदि ऋषियों के वचन पर। अविनाभाव संबन्ध को न जानने वाला पुरुष एक विषय देखकर अन्य विषय का अनुमान नहीं कर सकता, अत एव स्वार्थानुमान का प्रसंग केवल नाममात्र रह जाता है—परार्थानुमान की तो बात ही क्या? उपमानादि तो (व्याप्तिज्ञान के विषय में) दूर से ही खिसक गये, क्योंकि वे संज्ञा और संज्ञी का संबन्ध इत्यादि बतलाते हैं। अत एव उपाधिरहित संबन्ध नहीं बतला सकते।)

किं च—उपाध्यभावोऽपि दुरवगमः। उपाधीनां प्रत्यक्षत्वनियमासंभवेन प्रत्यक्षाणामभावस्य प्रत्यक्षत्वेऽप्यप्रत्यक्षाणामभावस्याप्रत्यक्षतया-

नुमानाद्यपेक्षायामुक्तदूषणानतिवृत्तेः। अपि च साधनाऽव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिरिति तल्लक्षणं कक्षीकर्तव्यम्। तदुक्तम्—

(उपाधि का अभाव (व्याप्ति है, उसे) भी जानना कठिन है। उपाधियों के प्रत्यक्ष होने का नियम रखना असंभव है। अतः प्रत्यक्ष वस्तुओं का अभाव दिखाई पड़ने पर भी अप्रत्यक्ष वस्तुओं का अभाव दिखलाई नहीं पड़ता और वह (अभाव) अनुमानादि पर निर्भर भी है इस लिए पूर्वकथित दोष—(अनवस्था) का विनाश नहीं होता। उपाधि का यही लक्षण मानना चाहिये कि जो हेतु में व्याप्त न हो परन्तु साध्य के साथ जिसकी समान व्याप्ति हो।) कहा भी है—

अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः।
शब्देऽनित्ये साध्ये सकर्तृकत्वं घटत्वमश्रवतां च॥
व्यावर्तयितुमुपात्तान्यत्र क्रमतो विशेषणानि त्रीणि।
तस्मादिदमनवद्यं समासमेत्यादिनोक्तमाचार्यैश्च॥

(जो साधन को व्याप्त न करे, किन्तु साध्य के समान व्याप्तिमान् हो वही उपाधि है। जब शब्द को अनित्य सिद्ध किया जाता है तब इसे हटाने के लिये क्रमशः ये तीन विशेषण लगाये जाते हैं—कर्ता का होना, घट का होना और श्रवणयोग्य न होना। अत एव यह लक्षण निर्दोष है तथा आचार्यों ने समासमा[३१] के द्वारा इसे कहा भी है।)

तत्र विध्यध्यवसायपूर्वकत्वान्निषेधाध्यवसायस्योपाधिज्ञाने जाते तदभावविशिष्टसंबन्धरूपव्याप्तिज्ञानं व्याप्तिज्ञानाधीनां चोपाधिज्ञानमिति परस्पराश्रयवज्रप्रहारदोषो वज्रलेपायते। तस्मादविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः। धूमादिज्ञानानन्तरमग्न्यादिज्ञाने प्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते। क्वचित्फलप्रतिलम्भस्तु मणिमन्त्रौषधादिवद्यादृच्छिकः। अतस्तत्साध्यमदृष्टादिकमपि नास्ति। नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

(जब विधि का निश्चय होने पर निषेध का निश्चय होता है और उसके पश्चात् उपाधि का ज्ञान होता है, तब व्याप्ति का ज्ञान भी (उपाधि ज्ञान के) अभाव से होने वाले संबन्ध द्वारा ही होता है। व्याप्ति का ज्ञान भी व्याप्तिज्ञान के अधीन है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष, जो वज्रप्रहार की तरह है, वज्रलेपसा दृढ़ हो जाता है। इसलिए अविनाभाव का ज्ञान न होने के कारण अनुमानादि का यहाँ प्रवेश नहीं हो सकता। धूमादि के ज्ञान के पश्चात् जो अग्नि

३१. द्र० स० द० सं० दर्शनाङ्कुरा व्याख्या १।९७

आदि का ज्ञान होता है उसके मूल में या तो प्रत्यक्ष है या भ्रान्ति। कभी-कभी जो फल मिल जाता है, वह मणिस्पर्श, मंत्र प्रयोग औषधि आदि के समान आकस्मिक है। इसलिए अनुमानादि से सिद्ध होने वाला अदृष्ट आदि भी नहीं है। यदि कोई शङ्का करे कि अदृष्ट नहीं मानने पर संसार की विचित्रता आकास्मिक हो जाती है तो यह बात नहीं, क्योंकि वह स्वभाव से ही वैसी है। कहा भी है।)

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥

(अग्नि उष्ण है, जल शीतल तथा वायु समान स्पर्शवान्— यह किसने रचा? सब कुछ स्वभाव से ही व्यवस्थित है।)

तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाप्युक्तम्—

(यह सब बृहस्पति ने भी कहा है।)

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः॥ १॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता॥ २॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥ ३॥

(न कहीं स्वर्ग है और न कोई मोक्ष, न कोई विशिष्ट आत्मा है और न परलोक, न कोई वर्णाश्रम धर्म है और न कर्मकाण्ड या जप योगादि के लिए फलप्राप्ति ही है। प्रातः और सायंकाल में हवन, तीनों वेदों का आचार-पालन दण्डयुक्त संन्यास धारण और ललाट में भस्म धारण—ये कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन व्यक्तियों के जीविका-यापन के लिए बनाये गये हैं। श्रौतनियम से ज्योतिष्टोम यज्ञ में हिंसित पशु भी स्वर्ग चला जा सकता है तो यज्ञकर्ता यजमान स्वयं अपने पिता की हिंसा क्यों नहीं कर देता, क्योंकि ऐसा करने से अनायास ही पिता स्वर्ग प्राप्त कर लेता।)

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम्॥ ४॥
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम्।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता॥ ५॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते॥ ६॥

(ऐहलौकिक श्राद्ध से यदि मृतप्राणियों की तृप्ति-पुष्टि होती (यद्यपि ऐसा नहीं होता) तो तेल बुझे हुए प्रदीप की बत्ती को बाँधता रहता, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। घर पर रहने वाले आत्मीयजनों के द्वारा किए गए श्राद्ध से स्वर्गपथिक को यदि स्वर्गपथ में तृप्ति-पुष्टि होती तो घर से यात्रा करने वाले व्यक्तियों को पथ के लिए भोजन देना वृथा है। घर पर ही उनके नाम से किसी बुभुक्षु को भोजन करा दिया जाता और उसी से उन यात्रियों को मार्ग में तृप्ति हो जाती। यदि इस लोक में दान करने से स्वर्गस्थित प्राणियों को तृप्ति हो सकती तो अट्टालिका के उपरी भाग पर रहने वाले व्यक्तियों को निम्न भाग में दिए गए भोजनादि से तृप्ति-पुष्टि होती, किन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता ॥)

यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥ ७ ॥
यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥ ८ ॥
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥ ९ ॥

(यथार्थ में देह के अतिरिक्त अन्य कोई आत्मा नहीं है तथा देह का नाश भी अवश्यंभावी है तो तपश्चर्या आदि से देह को कष्ट देना भी निरर्थक ही है। पुण्य-पाप कर्मों के लिए सचमुच कोई फलविधान नहीं, अतएव स्वेच्छाचारिता-पूर्वक सुखमय जीवन-यापन ही श्रेयस्कर है। ऋण लेकर उत्तमोत्तम भोजन नहीं करना भी मूर्खता है। यदि ऋण नहीं भी चुकाया जाय तो भी किसी प्रकार की हानि नहीं, क्योंकि मृत्यु के उपरान्त दग्ध होनेवाला देह पुनः आने वाला नहीं, तो फिर किये गए सुकर्म-कुकर्म का सुख-दुःखात्मक फलभोक्ता कोई नहीं रह जाता है। आत्मा यदि देह से निकल कर (आस्तिकों के मत से) परलोक में चला जाता है और यदि उसका यह जाना सिद्ध है तो फिर वह (आत्मा) बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वहाँ (परलोक) से फिर क्यों नहीं लौट आता है? ऐसा होता तो वह कभी-कभी अवश्य ही आ जाता।)

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥ १० ॥
अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥

(वेद के रचयिता तीन-भण्ड, धूर्त और निशाचर थे और वे अत्यन्त धूर्त थे। लोक में अप्रसिद्ध जर्फर तुर्फरी आदि शब्दों के प्रयोग से उन धूर्तों ने लोक को वञ्चित किया है। श्रुति की उक्ति है—"अश्वमेध यज्ञ में यज्ञकर्ता यजमान की पत्नी स्वयं अश्व का शिश्न (लिङ्ग) अपनी योनि में स्थापित करे" यह भण्डों का कथन प्रतीत होता है। इन भण्डों ने इससे भी अधिक लज्जाजनक वचन कहे हैं॥

यज्ञ में मांस भक्षण का जो विधान वेदों में प्रतिपादित किया गया है वह भी मांसभोजन-प्रेमियों की उक्ति प्रतीत होती है और वे मांसभोजन-प्रेमी निशाचर थे।)

तस्माद्बहूनां प्राणिनामनुग्रहार्थं चार्वाकमतमाश्रयणीयमिति रमणीयम्॥

(अतएव अधिकांश प्राणियों के ऊपर अनुग्रह वितरण के लिए चार्वाक-मत का आश्रय ग्रहण करना अत्यन्त ही सुन्दर है।)

विद्वन्मोदतरंगिणी और लोकायतवाद

विद्वन्मोदतरंगिणी के प्रणेता चिरंजीव भट्टाचार्य के समय की सूचना अनुपलब्ध है। केवल ३ श्लोकों में भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक में लोकायत सिद्धान्तों का विवरण दिया है। यथा—

न स्वर्गो नैव जन्मान्यदपि च नरको नाप्यधर्मो न धर्मः,
कर्त्ता नैवास्य कश्चित्प्रभवति जगतो नैव भर्त्ता न हर्त्ता।
प्रत्यक्षान्यन्न मानं न सकलफलभुग्देहभिन्नोऽस्ति कश्चित्,
मिथ्याभूते समस्तेऽप्यनुभवति जनः सर्वमेतद्धि मोहात्॥ ३।२॥

(स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म तथा धर्माधर्म नहीं है। इस जगत् का स्रष्टा, पालयिता एवं संहर्त्ता भी कोई नहीं है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि अन्य प्रमाण नहीं हैं। मोह के कारण ही मनुष्य इस मिथ्या संसार में अनित्य को नित्य समझता है।)

अहिंसा परमो धर्मः पापमात्मप्रपीडनम्।
अपराधीनता मुक्तिः स्वर्गोभिलषिताशनम्॥ (३।३

(अहिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं, अपने को क्लेशित करने से बड़ा कोई पाप नहीं, स्वाधीन जीवन से बड़ी कोई मुक्ति नहीं और मन के अभिलषित (षड्रस आदि) भोजन से अन्य कोई स्वर्गीय सुख भी नही है।)

स्वदारपरदारेषु यथेच्छं विहरेत्सदा।
गुरुशिष्यप्रणालीञ्च त्यजेत्स्वहितमाचरन्॥ (३।४।)

(अपनी और अन्य की स्त्रियों में इच्छानुसार रमण करना चाहिए। आत्महितैषी व्यक्ति का कर्तव्य है कि गुरु और शिष्य के भेदभाव का परित्याग कर दे।)

षष्ठ परिच्छेद

चार्वाकवाद का निराकरण

प्रमाणप्रतिष्ठापन–अनुमानप्रमाण–उपमानप्रमाण-शब्दप्रमाण–अर्थापत्ति-प्रमाण-अनुपलब्धि या अभावप्रमाण–संभवप्रमाण–ऐतिह्यप्रमाण–पुनर्जन्मवाद–परलोकवाद–आत्मवाद–वेद की नित्यता–ईश्वरवाद ।

चार्वाकवाद का निराकरण

प्रमाण व्यवस्था

प्रमाणव्यवस्थापन में दिङ्नाग के मत को उपस्थित करते हुए प्रमाण-शास्त्र के विद्वान् डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का कथन है कि "वस्तु दो प्रकार की है—एक बाह्यसत् "स्वलक्षण" और दूसरी मानसवस्तु अर्थात् ' सामान्यलक्षण", इसलिए ज्ञान भी दो प्रकार का है—एक ग्राह्य और दूसरा अध्यवसाय या अनुमान। ज्ञान के इन दोनों प्रकारों का भेद मौलिक (Fundamental) और वास्तविक (Essential) है, वे दोनों प्रकार के ज्ञान परस्पर व्यावृत्त (Mutually exclusive) है, अर्थात् "स्वलक्षण" का "ग्रहण" प्रत्यक्ष से ही हो सकता है और "सामान्य लक्षण ' का ज्ञान "अध्यवसाय' या अनुमान से ही। एक के क्षेत्र में दूसरा जा नहीं सकता, अर्थात् "प्रत्यक्ष" के क्षेत्र स्वलक्षण के विषय में "अध्यवसाय" या अनुमान नहीं जा सकता और "अध्यवसाय" या "अनुमान" के क्षेत्र "सामान्यलक्षण" में "प्रत्यक्ष" नहीं जा सकता। इसीको "प्रमाणव्यवस्था" कहते हैं। इसके विरुद्ध न्याय-वैशेषिक "प्रमाण-संप्लव" मानता है अर्थात् एक ही वस्तु "अग्नि" को हम प्रत्यक्ष से देख सकते हैं, धूम से उसका अनुमान कर सकते हैं और शब्दप्रमाण के द्वारा भी उसका ज्ञान हो सकता है। "प्रमाणव्यवस्था" और "प्रमाणसंप्लव" को लेकर दिङ्नाग और न्याय-वैशेषिक सम्प्रदायों के मध्य अत्यन्त विवाद होता रहता है।"

डॉ० शास्त्री के मत से भारतीय दर्शन में "प्रमाणव्यवस्था" के सिद्धान्त का प्रथम संस्थापक दिङ्नाग ही था और भारतीय दर्शन-सम्प्रदाय में उस सिद्धान्त का वही महत्त्व है जो पाश्चात्य दर्शन-सम्प्रदाय में काण्ट के द्वारा प्रतिपादित "संवेदनात्मक" (Sensibility) और विचारात्मक (Under-standing)—इन दो प्रकार के ज्ञानों का[1]।

चार्वाक परम्परा में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान आदि प्रमाणों की मान्यता स्वीकृत नहीं हुई है। किन्तु केवल प्रत्यक्ष की मान्यता में व्यावहारिक और सामाजिक जीवन की सफलता सर्वथा असंभव है। जिस मत में साधु-असाधु, धर्म-अधर्म तथा उचित-अनुचित आदि विधि-निषेधों में कोई विभिन्नता

---

१. भा० शास्त्र० ६९–७०

नहीं, उस दार्शनिक मत के आधार पर समाज का सुसंघटित निर्माण असंभव है। स्थूल और भौतिक सुखवाद को ही परम पुरुषार्थ मान लेने से मानव-समाज की समस्याओं को सुलझा कर एक आदर्श मार्ग का निर्माण आकाश-कुसुम के समान असंभव हो जायगा और तब समाज के उच्छृङ्खल होकर शीघ्र ही अपनी सत्ता को खो बैठने की निश्चित संभावना भी हो जायगी।

अनुमान

अनुपूर्वक "मा" या "मि" धातु के आगे भाव या करण के अर्थ में "ल्युट्" प्रत्यय के योग से अनुमान शब्द की व्युत्पत्ति और सिद्धि होती है। "अनु" का अर्थ है "पश्चात्" और "मान" का अर्थ है "ज्ञान"। अतएव "अनुमान" का शाब्दिक अर्थ होता है "पश्चाद्ज्ञान"। अथवा "अनुमान" उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी साक्षात्कृत पूर्वज्ञान के पश्चात् आता है। जैसे—प्रथम महानस में धूम के साथ सदा अग्नि को देखकर द्रष्टा पुरुष के मन में बोध उत्पन्न हो जाता है कि "जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है"। तत्पश्चात् वह पुरुष कभी जंगल में जाता है तब उसको पर्वत से निकलता हुआ धूम दृष्टिगोचर होता है। अब उसे (महानस में प्रत्यक्षतोदृष्ट अग्निसम्बन्धी पूर्वबोध के अनुसार) स्मरण हो जाता है कि "जहाँ धूम हो वहाँ अग्नि रहता है"। तदनन्तर वह उसी पर्वत में पुनः धूम को देखता है, पर अब वह धूम "जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि रहता है"—इस व्याप्ति से विशिष्ट है और इस प्रकार वह निश्चित निर्णय कर लेता है कि "यहाँ अग्नि है ही"।

अब मान लिया जाय कि किसी व्यक्ति ने देखा कि कहीं दूर पर धूम उठ रहा है। इस से वह व्यक्ति अपने पूर्वानुभव के कारण तुरन्त समझ जाता है कि वहाँ अग्नि भी अवश्य ही है। यहाँ धूम प्रत्यक्ष है, पर अग्नि प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी प्रत्यक्ष वस्तु (धूम) के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु (अग्नि) का भी बोध हो जाता है। यही है अनुमान प्रमाण।

महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन प्रभेद निर्दिष्ट किये हैं—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट[२]। इस त्रिविध अनुमान के स्पष्टीकरण में भाष्यकार का प्रतिपादन है कि जिस प्रकार आकाश में उमड़ते कृष्ण मेघों को देख कर पश्चात् होने वाली वृष्टि का, नदी में बाढ़ देखकर पूर्व काल में हो चुकने वाली वर्षा का और सूर्य को विभिन्न कालों में विभिन्न

२. "अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च"—न्या० द० १।१।५

स्थानों में देखकर उस (सूर्य) की गमनशीलता का अनुमान हो जाता है उसी प्रकार कार्यरूप अनन्त जगत् का रचना वैचित्र्य देखकर किसी अतीन्द्रिय कारणविशेष का स्वतः ही अनुमान हो जाता है[3]।

चार्वाक दर्शन का यह मौलिक सिद्धान्त है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा उपलब्ध नहीं होता उसका अस्तित्व नहीं है और जो उपलब्ध होता है उसका अस्तित्व है। ईश्वर, आत्मा आदि पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा उपलब्ध नहीं होते अतएव वे नहीं हैं। अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा भी ईश्वर आदि का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण चार्वाकों को मान्य नहीं हैं। आस्तिकवादी दर्शन अनुमान आदि प्रमाणों को लोकव्यवहार के लिये आवश्यक साधन मानते हैं, क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान से ही प्रवृत्ति संभव है, पर चार्वाक दार्शनिक का कथन है कि संभावना बुद्धि से ही प्रवृत्ति संभव है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कृषक संभावनाबुद्धि के ही आधार पर कृषिकार्य में प्रवृत्त होते हैं। यह सत्य है कि कभी-कभी इस संभावना बुद्धि को निश्चयात्मक मानकर हम (कृष्यादि) कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। पर ऐसे स्थलों में संभावना में निश्चयात्मकता का अभिमानमात्र होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान मात्र ही निश्चयात्मक होता है। वस्तुस्थिति यह है कि जब हम पर्वत में धूम देखते हैं, तब अग्नि की संभावना हमारे मन में उत्पन्न होती है। फिर जब हम साक्षात् अग्नि को प्राप्त करते हैं तब अग्निजन्य प्रत्यक्ष ज्ञानगत निश्चयात्मकता का आरोप संभावना पर करते हैं और फलस्वरूप उस संभावना-बुद्धि को निश्चयात्मक अनुमान प्रमाण मान बैठते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान सफल प्रवृत्ति का जनक होने के कारण प्रमाण माना जाता है। संभावना-बुद्धि (का प्रामाण्य) भी सफल प्रवृत्ति के जनकत्व के कारण प्रमाण माना जाता है[4]।

संभावना-बुद्धि के आधार पर चार्वाक दार्शनिक की अनुमान प्रमाण विषयक उपर्युक्त व्याख्या आस्तिक दार्शनिकों को मान्य नहीं है। उपलब्धि के द्वारा पदार्थ के अस्तित्व का ज्ञान होता है और अनुपलब्धि के द्वारा नास्तित्व का। किसी पदार्थ के संभावना-ज्ञान के हेतुभूत किसी प्रकार के प्रमाण का

---

३. cf. न्या० द० वात्स्यायन भाष्य १।१।५

४. "अनिश्चित एवाग्नौ धूमदर्शनेनाग्निसंभावनया वाचिकः कायिकश्च व्यवहारः। संभावनात्मकज्ञाने प्रमात्वाभिमानस्तु प्रत्यक्ष इव सफल-प्रवृत्तिदर्शनरूपसंवादमात्रेण इति"। —न्या० कु० कु० ३।२१

अस्तित्व चार्वाक को मान्य नहीं। अतएव संभावना-बुद्धि अर्थात् सन्देह की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती[५]।

चार्वाक दार्शनिक अनुपलब्धमात्र को अभाव का साधक मानते हैं, पर काल अथवा देश से व्यवहित वस्तुओं का अस्तित्व अनुपलब्ध होने पर भी चार्वाक दार्शनिक को मान्य होना चाहिये। चार्वाक को बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार्य है। विज्ञानवादियों के समान वह अज्ञात वस्तुओं के अस्तित्व का अपलाप नहीं करता। इस स्थिति में चार्वाक दार्शनिक को यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि पदार्थ अज्ञात रहकर भी अस्तित्वयुक्त हो सकते हैं। अतएव उपलब्धि-योग्य पदार्थ का अनुपलंभ ही उस पदार्थ के अभाव का साधक स्वीकृत किया जा सकता है। ईश्वर, आत्मा, परलोक आदि तत्त्वों को आस्तिक दार्शनिक भी इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं मानते। अर्थात् ये तत्त्व अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उपलभ्य नहीं हैं। इन तत्त्वों की उपलब्धि के लिये इन्द्रियप्रत्यक्षभिन्न अन्य प्रमाणों का अस्तित्व स्वीकृत किया गया है। चार्वाक दार्शनिक को भी यह मानना ही पड़ेगा कि उपलम्भयोग्य पदार्थ का अनुपलम्भ ही उस पदार्थ के नास्तित्व का साधक होता है, अनुपलम्भमात्र अभाव का साधक नहीं होता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के अस्तित्व में चार्वाक दार्शनिक भी विश्वास रखता है, यद्यपि उन इन्द्रियों का अनुपलम्भ उसे स्वीकार करना ही पड़ता। चार्वाक दार्शनिक यह कह सकता है कि गोलकादिरूप चक्षुरादि इन्द्रियों की उपलब्धि संभव है, पर घटादि की उपलब्धि से पूर्व गोलकादि की अनुपलब्धि के कारण उसका यह कथन तर्कसंगत नहीं है। घटादि ज्ञान कार्य है और चक्षुरादि इन्द्रिय कारण। अतएव यदि अनुपलभ्यमान होने के कारण चक्षुरादि "असत्" हैं तो घटादि का ज्ञान उत्पन्न ही कैसे हो सकता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस परिस्थिति से मुक्त होने के लिये यदि चार्वाक दार्शनिक अनुपलभ्य होने पर भी चक्षुरादि इन्द्रियों का अस्तित्व घटादिज्ञान की सिद्धि के लिये स्वीकार कर लेता है तब वह प्रत्यक्ष-भिन्न प्रमाणान्तर का अस्तित्व स्वीकार कर ही लेता है। पदार्थ का अस्तित्व प्रमाण ही के द्वारा सिद्ध होता है। उपलम्भ अथवा अनुपलम्भ (प्रत्यक्ष अथवा प्रत्यक्षाभाव) के द्वारा चक्षुरादि इन्द्रियों का अस्तित्व सिद्ध नहीं

५. "संभावना हि सन्देह एव। तस्माच्च व्यवहारस्तस्मिन् सति स्यात्। स एव तु कुतः? दर्शनदशायां भावनिश्चयात, अदर्शनदशायामभावावधारणात्"। —न्या०कु० ३।२२।

होने के कारण प्रमाणान्तर का अस्तित्व चार्वाक दार्शनिक ने स्वीकृत कर ही लिया।[६]

अनुपलभ्यमान पदार्थ के अस्तित्व के साधक प्रमाण चार्वाक दार्शनिक को अवश्य स्वीकार्य होना चाहिये। ऐसे अनेक पदार्थ हैं जो काल या देश से व्यवहित होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत नहीं होते। उदाहरणार्थ–जिस व्यक्ति या वस्तु को हमने कल देखा था और पुनः आज देख रहे हैं। उस (व्यक्ति या वस्तु) को अस्तित्व मध्यवर्त्ती काल में अस्वीकृ नहीं किया जा सकता। वैसे पदार्थों की सिद्धि के लिये अनुमानादि प्रमाण नास्तिक दार्शनिकों को भी मान्य है। पर चार्वाक दार्शनिक का कथन है कि अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा नहीं की जा सकती। प्रत्यक्षयोग्यपदार्थ अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध किये जा सकते हैं, क्योंकि उनके विषय हेतुसाध्य सम्बन्ध का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा संभव है, अतीन्द्रिय पदार्थों का निषेध अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। आस्तिक दार्शनिक आत्मा, ईश्वर, परलोक आदि की सिद्धि अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा करते हैं। पर ये पदार्थ प्रत्यक्षयोग्य हैं नहीं, क्योंकि इनकी उपलब्धि असंभव है। और यदि प्रत्यक्ष के अयोग्य पदार्थों का भी अस्तित्व स्वीकृत किया जाय तो शशशृंग का भी अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

इस पर आस्तिक दार्शनिकों का प्रतिपादन है कि अनुमानादिक प्रमाणों के द्वारा अनेक अतीन्द्रिय पदार्थो का अस्तित्व हमें स्वीकार करना पड़ता है। परमाणु प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, पर उनका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। वैज्ञानिक दृश्यजगत् की व्याख्या के लिये अनेक प्रकार के अतीन्द्रिय पदार्थों को स्वीकार करते हैं। कार्य के द्वारा कारण का अनुमान ही वैज्ञानिक प्रगति का मूल आधार है।[७]

अब प्रश्न यह उठता है कि अनुपलब्धि के कारण अदृश्य पदार्थ का निषेध आस्तिकवादी दार्शनिकों को इष्ट है या नहीं ? यदि इष्ट है तो ईश्वरादि अतीन्द्रियपदार्थों की असिद्धि प्रमाणित हो ही गई। और यदि इष्ट नहीं है तो भी

६. "[illegible]म्भमात्रेणाभावनिश्चयं प्रत्यक्षमेव न जायेत हेत्वभावात् × × गोलकादेरन्धादावप्यक्षतत्वान्नेन्द्रियत्वमित्यन्यदेतत्।"—न्या० कु० ३।२३

७. "एतेनोक्तेन प्रकारेण परमाण्विन्द्रियादिनिरसनम् × × × सामान्यतो दृष्टानुमानस्वीकारान्नाप्रसिद्धिरित्यलम्।" —Ibid 3. 24

आस्तिक दार्शनिकों के द्वारा उपस्थापित अनुमानों में साध्य के अदृश्यतारूप उपाधि के कारण ईश्वरादि की असिद्धि ही प्रमाणित होगी। यदि अनुपलब्धि के कारण अदृश्य को उपाधि ही स्वीकृत करना असंगत है–यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुपलब्धि को अदृश्य का निषेधक अभी स्वीकृत नहीं किया गया है। इस प्रकार उपाधि होने के कारण अनुमान के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुमिति के पूर्व व्याप्तिज्ञान का होना आवश्यक है, वह व्यप्तिज्ञान उपाधि के होने से संभव नहीं। ऐसी उपाधि की संभावना सभी प्रकार के अनुमान में होने के कारण आप्तत्व आदि हेतु के द्वारा किये जाने वाले प्रामाण्य के अनुमान में भी उपाधि की संभावना है। अतः प्रामाण्य के अभाव में शब्द भी शब्दबोध का प्रमाण नहीं हो सकता है। इस प्रकार अनुमान और शब्द आदि के अभाव में चार्वाक दार्शनिक का अभिमत एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण के रूप में सिद्ध हो सकता है।[८]

इस प्रसंग में एकदेशसिद्धान्तवादी का मत है कि अनुपलब्धि मात्र से अदृश्य का प्रतिषेध नहीं स्वीकृत किया जाय, अतः अदृश्य उपाधि के निषेध में प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उस निषेध के विना भी अन्य कारणों को लेकर व्याप्ति रह सकती है। व्याप्ति के लिये पाँच रूपों की आवश्यकता है। वे पाँच रूप हैं—(१) पक्षसत्त्व (२) सपक्षसत्त्व (३) विपक्षासत्त्व (४) अबाधितत्व और (५) असत्प्रतिपक्षितत्व। इन पाँच कारणों में विपक्षासत्त्व को छोड़कर केवलान्वयी अनुमान में शेष चार कारणों के रहने से व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। यथा–"घटः अभिधेयः प्रमेयत्वात्" अर्थात् प्रमेयत्व के कारण घट में अभिधेयत्व (वाच्यत्व) है। यहाँ पर विपक्ष इसलिये अप्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण जगत् में अभिधेयत्व (साध्य) है, अभिधेयत्वाभाव (साध्याभाव) नहीं है, विपक्ष वहीं होता है जहाँ साध्याभाव हो। केवल व्यतिरेकी अनुमान में सपक्षसत्त्व को छोड़कर शेष चार कारणों के रहने से व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। जैसे–गन्धवती होने के कारण पृथिवी में इतर भेद (पृथिवीतर भेद) है। "पृथिवी इतरभिन्ना गन्धवत्त्वात्" यहाँ पर सपक्ष इसलिये अप्रसिद्ध है कि इतर भेदों का आधार समस्त पृथिवी इस कोटि में आ चुकी है। सपक्ष उसे कहते हैं, जहाँ साध्य निश्चित हो। अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में समस्त पाँच कारणों के रहने से व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। जैसे–धूमवान् होने के कारण पर्वत वह्निमान् है। "पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्"।

८. "अनुपलम्भेनादृश्यपदार्थप्रतिषेध इष्यते न वा × × × चार्वाकसंमतं प्रत्यक्षमात्रप्रामाण्यम्"। —Ibid 3. 25

यहाँ पर वह्निरूप साध्य के निश्चय महानस में होने के कारण वह (महानस) सपक्ष है, वहाँ पर धूम (हेतु) की विद्यमानता है। वह्न्यभावरूप साध्याभाव के जलाशय में निश्चित होने के कारण वह विपक्ष है तथा वहाँ पर धूम (हेतु) की विद्यमानता नहीं है। पक्षसत्त्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्त्व है ही[१]।

यद्यपि उपर्युक्त पाँच रूपों की सम्पत्ति (स्थिति) मात्र से हेतु को सद्धेतु स्वीकार करने पर जिस हेतु में अप्रयोजकत्व है वह भी हेतुकोटि में आ सकता है, तथापि अप्रयोजक हेतु में सद्धेतुत्व का खण्डन अन्य युक्तियों के द्वारा किया जाता है। जैसे—पूर्व गौतमादि आचार्यों ने पाँच हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उन पाँचों हेत्वाभासों में अपेक्षित पक्षसत्त्व आदि उपर्युक्त व्याप्ति के पाँच कारणों की विद्यमानता नहीं रहती है। अप्रयोजक हेतु यदि उन्हीं पाँचों (हेत्वाभासों) में से कोई एक होगा तो पक्षसत्त्व आदि पंचरूपों की स्थिति सुतरां (स्वतः) नहीं होगी। अतः वह अप्रयोजक हेतु सद्धेतु नहीं बन सकता है। यदि उक्त, पाँच हेत्वाभासों के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु को अप्रयोजक मान लिया जाय तो उस हेतु में पक्षसत्त्वादि पाँच रूपों की स्थिति हो जाने से अप्रयोजकत्व नामक वस्तु नहीं रह जायगी। अतः अप्रयोजकत्व का निरूपण करना होगा। यदि कार्यत्व या कारणत्व के अभाव से हेतु में अप्रयोजकत्व कहा जाय तो यह संगत नहीं होगा, क्योंकि "पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टम्" इस सूत्र में कारण और कार्य को हेतुरूप में निर्दिष्ट कर उनसे अतिरिक्त हेतुओं को सामान्यतोदृष्ट स्वरूप से सद्धेतु स्वीकृत किया गया है, यह विरोध उपस्थित हो जाता है। यदि प्रयोजक शब्द का अर्थ यहाँ पर कारणसमूह (सामग्री) मानकर उस समूह के अन्तःपाती (अन्तर्गत) किसी एक कारण को प्रयोजक-भिन्न होने से अप्रयोजक माना जाये तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि घट सामग्री—दण्ड, चक्र, सूत्र आदि में से किसी एक कारण को ग्रहण कर घटरूप कार्य का अनुमान संभव नहीं भी हो तथापि "अयं घटवान् कपालद्वयसंयोगात्" अर्थात् कपालद्वय के संयोग हेतु से कपाल में घट का अनुमान एक ही कपालद्वय के संयोगरूप हेतु से संभव हो ही जाता है। यदि अप्रयोजकत्व का स्वरूप व्यभिचरितत्व (व्यभिचार) कहा जाय तो यह भी औचित्यपूर्ण नहीं होगा, क्योंकि निश्चित विपक्षासत्त्व के कारण अभिमत अप्रयोजक हेतु में व्यभिचार के नहीं रहने से अप्रयोजकत्व धर्म नहीं रह सकता। यदि वास्तविक व्यभिचार के अभाव होने पर भी, जहाँ व्यभिचार का सन्देह हो उसे अप्रयोजक

---

१. "अस्मिन्नाक्षेपे सिद्धान्त्येकदेशी कश्चिदेवं समाधिमाह" "अन्वयव्यतिरेकिणि च पंचानां सम्पत्तिः"। —Ibid 3. 26

कहा जाय तो यह भी औचित्यपूर्ण नहीं होगा, क्योंकि किसी भी सद्धेतु में निष्कारण सन्देह उपस्थित कर हेतु को अप्रयोजक सिद्ध किया जा सकता है, इस प्रकार अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा। यदि साध्य के प्रति अभिमत हेतु (व्याप्य) में अन्य किसी व्याप्य का सामानाधिकरण्य (साहचर्य) को अप्रयोजकत्व कहा जाय तो यह भी संभव नहीं है, क्योंकि एक ही वह्नि की सिद्धि में व्याप्य होने से जिस प्रकार धूम साधक माना जाता है उसी प्रकार भस्म भी। यदि उक्त सामानाधिकरण्य को अप्रयोजकत्व मान लिया जाय तो परस्पर सामानाधिकरण्य से न तो धूम ही सद्धेतु रह सकता और न भस्म ही। यदि साध्य के प्रदेश से न्यून प्रदेशी को अप्रयोजक कहा जाय तो यह भी संभव नहीं, क्योंकि महानस और पर्वत आदि सधूम प्रदेश के समान निर्धूम प्रदेश प्रज्वलित अयोगोलक आदि प्रदेश में भी वह्नि की स्थिति है, वहाँ पर धूम की सत्ता के नहीं रहने से न्यून प्रदेशी होने पर भी धूम को सद्धेतु माना गया है। यदि यह कहा जाय कि अयोगोलक में वह्नि की व्यापकता होने पर भी धूम के अभाव से वह्नि सामान्य के प्रति धूम अप्रयोजक ही है, किन्तु आर्द्र इन्धन से युक्त वह्नि के प्रति ही धूम प्रयोजक है तब उक्त न्यूनप्रदेशित्व अप्रयोजकत्व संभव हो सकता है—यह भी उचित नहीं होगा, क्योंकि विशेष (व्याप्य) के प्रति जो व्याप्य होता है उसे सामान्य के प्रति भी व्याप्य माना जा सकता है। इस प्रकार पक्षसत्त्वादि धर्मों की सम्पत्ति (स्थिति) स्थान में अप्रयोजकत्व नामक वस्तु का निर्वचन हो ही नहीं सकता है। अतः उपाधि के निषेध की आवश्यकता नहीं रह जाती और तब ईश्वराद्यनुमान की सहज ही संभावना हो गई। इस प्रकार चार्वाक दार्शनिक का पक्ष खण्डित हो गया।[10]

उक्त रीति से अप्रयोजकता की दशा में भी सद्धेतुकथन एकदेशी (आंशिक) सिद्धान्ती का मत युक्त नहीं है, क्योंकि अप्रयोजकता के लिये व्यभिचार-शंका को बीज बनाया जा सकता है। यद्यपि व्यभिचार की शंका किसी न किसी प्रकार सर्वत्र ही उपस्थित की जा सकती है, तथापि उस शंका का निवर्त्तक किंचिद्वैलक्षण्यनियामक मान लिया जायगा। यह वैलक्षण्यनियामक यदि स्वभाव ही मान लिया जाय तथा यह कहा जाय कि वह्नि आदि की सिद्धि में धूम आदि हेतु स्वभावतः व्यभिचारी नहीं हैं और धूम की सिद्धि में वह्नि आदि हेतु स्वभावतः व्यभिचारी हैं, तो भी स्वभाव का ही निर्णय करना कठिन होगा कि

---

१०. "नन्विदमयुक्तम्। रूपसम्पत्तिमात्रेण सद्धेतुत्वे अप्रयोजकत्वेन" ००० "नेश्वराद्यनुमानभंग इति निरस्तो नास्तिकपक्ष इति"

—Ibid 3. 27

कौन-सा स्वभाव व्यभिचार का नियामक है और कौन-सा नहीं ? व्यभिचार का नियामक यदि उपाधि को मान लिया जाय तो जहां उपाधि का अभाव है वहाँ का हेतु अव्यभिचारी (सद्धेतु) हो सकता है, किन्तु उपाध्यभाव का निर्णय करना कठिन है, क्योंकि व्यभिचार की शंका के साथ उपाधि की शंका स्वभावतः बनी रहती है। यदि ऐसा कहा जाय कि अनुमान के द्वारा उपाधि का अभाव सिद्ध करें। जैसे—वह्नि की सिद्धि के लिये किसी प्रमाण तथा किसी व्यक्ति के द्वारा धूम (हेतु) में उपाधि की उपलब्धि नहीं हुई है तो यह भी संगत नहीं होगा, क्योंकि उक्त निर्णय के लिये अनुमान की शरण लेनी पड़ी, अनुमान में व्यभिचार की शंका उपस्थित हो जायगी, उसके दूरीकरण के लिये उपाधि के अभाव की अपेक्षा होगी और वह अभाव अन्य अनुमान के द्वारा सिद्ध होगा। पुनः उस अनुमान में व्यभिचार की शंका, उसके लिये उपाधि का अभाव और उसके लिये पुनः अन्य अनुमान की अपेक्षा। इस प्रकार निरन्तर (कभी समाप्त न होने वाला) अनवस्थादोष उत्पन्न होता जायगा। इस प्रकार व्यभिचार-शंका-परिहार के दुष्कर होने के कारण अनुमान की सिद्धि के अभाव में नास्तिक चार्वाक का आक्षेप यथावत् स्थिर हो जाता है तब अधोलिखित रूप से उसका समाधान होगा। वैकल्पिक प्रश्न होता है कि व्यभिचार-शंका की स्थापना से सर्वत्र अनुमानमात्र के उच्छेद में तात्पर्य है अथवा अनुमान को स्वीकृत कर व्यभिचार-शंका के परिहार के मार्ग (प्रकार) के अज्ञात होने के कारण उसकी जिज्ञासा है ? इन दोनों विकल्पों में प्रथम (विकल्प) युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि हेतु में विपक्षसत्त्व के अदर्शन ही से व्यभिचार-शंका की भावना है. अन्यथा (विपक्ष में हेतु के दर्शन से) व्यभिचार की शंका न होकर व्यभिचार का निश्चय ही हो जायगा—इस स्थिति में अन्य काल या अन्य देश में अनुमान के बिना व्यभिचार की शंका ही नहीं उत्पन्न हो सकती है। अतः स्वभावतः अनुमान सिद्ध हो गया।[11]

शंका की और भी दो कोटियां होती हैं। व्यभिचार-शंका की एक कोटि व्यभिचार है और दूसरी कोटि व्यभिचाराभाव। यह दूसरी कोटि किसी वस्तु में सिद्ध रहेगी। जिसमें सिद्ध रहेगी, उसी अव्यभिचारी हेतु के द्वारा

---

११. "तदेतदप्रयोजकस्यापि सद्धेतुत्ववचनमेकदेशिकृतमहृद्यम्" "विशेष एवान्वेषणीयः। अथ तर्हि" "इत्यस्य व्यवस्थापकः कः। अतोभंगानुपलंभस्य" "पुनस्तत्रापि तथेत्यनवस्थाप्रसंगात्"।

—Ibid 3. 28–30

अनुमान कर लिया जायगा। अतः अनुमान की सिद्धि हुई। पुनः "शंकित व्यभिचार के कारण यह हेतु, साध्य के साधन में समर्थ नहीं होगा" (अयं हेतुरसाधकः शङ्कितव्यभिचारत्वात्) इस अनुमान के द्वारा ही हेतु को असद्धेतु बनाना है, तो उस स्थिति में स्वतः अनुमान सिद्ध हुआ। फिर अदृश्योपाधि की शङ्का का प्रयोजन होगा–"उपाधि-संभावना के कारण इस हेतु में व्यभिचार की संभावना है"-यही अनुमान है। इस प्रकार अनुमान की सिद्धि हुई। पुनश्च–दृश्योपाधि के अनिर्वचन के निश्चय से अदृश्यत्व के अनुमान होने पर ही अदृश्योपाधि की शङ्का होगी इससे भी अनुमान की सिद्ध हुई।[१२] इस प्रकार यदि शंका है तो अनुमान की सिद्धि निर्विवाद है। और यदि शंका नहीं है तो शंका के अभाव से ही अनुमान की सिद्धि होगी। पूर्व में किये गए वैकल्पिक प्रश्नों में दूसरा प्रश्न है अनुमान को स्वीकार कर व्यभिचार शंका के पारिहार की प्रकार-जिज्ञासा। इसका उत्तर यह है कि शंका की अवधि का निवर्तक (परिहारक) है अनुकूल तर्क। और तर्क की पूर्वावधि है शंका, क्योंकि शंका के अनन्तर तर्क करते हैं। पूर्व-पूर्व व्यभिचार-शंका के अनन्तर उत्तरोत्तर तर्कप्रवाह से अनवस्था नहीं कही जा सकती, क्योंकि स्वोत्थापित शंका को जब स्वकीय क्रिया के साथ व्याघात (विरोध) होगा उस स्थिति में शंका करना अनुचित है, अतः यही व्याघात (विरोध) शंका की अवधि (उत्तरावधि) है और इसके अनन्तर शंका नहीं हो सकती। इसी आशय को अभिप्रेत कर कहा है—"व्याघातावधिराशंका"। यह बात हुई—शंका की अवधि (निवर्तक) तर्क और तर्क की अवधि (पूर्वावधि) शंका के विषय में। किन्तु शंकासम्बन्ध के अभिप्राय से अनुमान की सिद्धि हो ही जाती है[१३]। जैसे—किसी हेतु को इस समय व्यभिचारी अथवा उपाधिमान् रूप में नहीं प्राप्त कर पश्चात् अर्थात् भविष्यत्काल में यदि उस (हेतु) को व्यभिचारी या उपाधिमान् ज्ञात (शंकित) किया जाय तो इस कालान्तर (भविष्यत्) का ज्ञान अनुमान के बिना नहीं हो सकता। अतः अनुमान की सिद्धि हो गई। भविष्यत् काल का स्मरणात्मक ज्ञान भी अनुमान के बिना संभव नहीं, क्योंकि अनुभूत अर्थ का ही

---

१२. "ननु तर्हि कार्यकारणभावाद्वा + + + अतो व्यभिचारशङ्कापरिहारस्य दुष्करतया नास्तिकचार्वाकाक्षेपो निष्प्रकम्पं स्थित इति चेत्।"

Ibid 3. 31

१३. "शंकाचेदनुमास्त्येव न चेच्छंका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिर्मतः" ॥ —न्या० कु० ३।३२

स्मरण होता है। भविष्यत् काल का जब तक अनुभव नहीं होगा तब तक स्मरण भी नहीं होगा। अनुमिति-स्वरूप अनुभव का विषय जब भविष्यत्काल हो जायगा तभी स्मरण भी सम्भव है। यहां अनुमान का स्वरूप है—"भविष्यन्मुहूर्तादिकाल: वर्त्तमानमुहूर्तादिकालान्तरपूर्वक: कालत्वात् वर्तमानकालवत्"।

इसी प्रकार किसी देश में किसी हेतु को व्यभिचारी अथवा उपाधिमान् नहीं प्राप्त कर "अन्य प्रदेश में यह हेतु व्यभिचारी अथवा उपाधिमान् होगा" इस प्रकार यदि प्रदेशान्तर को लक्षित कर शंका की जाय तो भी अनुमान के अभाव में प्रदेशान्तर का ज्ञान नहीं हो सकता। अत: अनुमान की सिद्धि निर्विवाद हो गई। पूर्व रीति से स्मरणात्मक ज्ञान भी प्रदेशान्तर का नहीं हो सकता, क्योंकि स्मरण तो पूर्वानुभूत तत्त्व का ही होता है। यहाँ तो प्रदेशान्तर की अनुभूति अनुमितिरूप अनुभव से ही सम्भव है। अतएव स्मरण के निष्पादनार्थ भी अनुभव को मानना ही पड़ा।[१४] इस प्रकार अनुमान प्रमाण की सिद्धि निर्विवाद रूप से हो गई और अनुमान के सिद्ध हो जाने पर अनुमानेतर छह प्रमाणों की स्वत: सिद्धि हो जाती है। समस्त प्रमाणों की संख्या आठ है। चार्वाक सम्प्रदाय में केवल प्रत्यक्ष की मान्यता है। वैशेषिक और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को मानते हैं। सांख्य इन दो के अतिरिक्त तृतीय शब्द प्रमाण को मानता है। नैयायिक उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त चतुर्थ प्रमाण उपमान को मानते हैं। प्रभाकर मतावलम्बी एक अर्थापत्ति का प्रामाण्य मानते हैं। भाट्ट और वेदान्ती षष्ठ प्रमाण अभाव को भी मान्यता देते हैं। पौराणिक मतावलम्बी उपर्युक्त छह के अतिरिक्त संभव और ऐतिह्य नामक दो प्रमाणों को स्वीकार करते हैं।[१५] आस्तिक सम्प्रदाय में उन आठ प्रमाणों की मान्यता है।

---

१४. "उपाधिमत्त्वेन व्यभिचरितत्वेन'''तत्सिद्धं न चेच्छङ्का ततस्तराम्"। —न्या० कु० कु० ३।३२

१५. "प्रत्यक्षमेकं चार्वाका: कणादसुगतौ पुन:।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्या: शब्दञ्च ते उभे॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमनुमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहु: प्रभाकरा:॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगु:॥
—वे० का० अथवा ज्ञा० भा० पृ० २७

परलोक

परलोक की कल्पना—मरणोत्तर काल में—आत्मसत्तासापेक्ष मानी गई है। परलोक के अस्तित्व में विश्वास चार्वाक आदि कतिपय सम्प्रदायों के अतिरिक्त संसार के अशेष धर्मावलम्बी सम्प्रदायों में दृष्टिगोचर होता है, पर हिन्दू संस्कृति में इस विषय में जैसी कल्पना की सूक्ष्मता की अनुभूति होती है वैसी अन्यत्र नहीं। फिर भी मृत्यु एक ऐसी अप्रिय घटना है कि मृत्युविषयक चर्चा तक अमांगलिक और उपेक्षणीय हो गई है। व्यावहारिक उपयोगवाद और स्थूल स्वार्थवादके नवयुग के प्रेरक होने के कारण मृत्यूत्तर शून्यावस्था की ओर कोई झाँकना भी नहीं चाहता। प्रत्यक्षवादी चार्वाक सम्प्रदायी अजित केशकम्बली आदि नास्तिक दार्शनिकों के मतानुसार परलोक नामक कोई तत्त्व नहीं है। चार्वाक मतानुयायियों ने परलोक का स्पष्ट शब्दों में और सोपहास खण्डन किया है, पर सनातन संस्कृति में परलोक के प्रति ऐसी श्रद्धा का समर्पण है कि उसके अस्तित्व में अविश्वासी को नास्तिक माना गया है। नवम शताब्दी के आचार्य कैयट ने पातञ्जल महाभाष्य की प्रदीप टीका में लिखा है—"परलोक है—यह मति है जिसकी वह आस्तिक है" और तद्विपरीत अर्थात् "परलोक नहीं है—यह मति है जिसकी वह नास्तिक है[१६]"। व्याकरण के इस प्रमाण से भी परलोक की सत्ता सिद्ध होती है।

परलोक की सत्ता और उसकी महिमा के संगीत स्वतःप्रमाण वेद, उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण और ज्योतिष आदि समस्त शास्त्रों में श्रुतिगोचर होते हैं। जैन और बौद्ध दर्शनों में भी परलोक के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमारे शास्त्र विविध-विचित्र और असंख्य लोकों की चर्चाओं से सर्वथा परिपूर्ण हैं। एक-एक (पर) लोक के सम्बन्ध में हिन्दू-संस्कृति का सम्पूर्ण विवरण एक विशालकाय ग्रन्थ में भी पूरा नहीं होगा।

आत्मा

चार्वाक की दार्शनिक परम्परा में "आत्मा" के अस्तित्व की मान्यता नहीं है। स्पष्टभाव से उनके सम्प्रदाय में "आत्मा" का खण्डन किया गया है। चार्वाक सिद्धान्त में "देह" ही को "आत्मा" माना गया है तथा देहादि-स्थूल चातुर्भौतिक तत्त्व के अतिरिक्त अन्य "आत्मा" का अभाव प्रदर्शित

---

१६. "अस्ति इत्यस्य इति परलोककर्तृका सत्ता विज्ञेया तत्रैव विषये लोके प्रयोगदर्शनात्। तेन परोलोकोऽस्तीति मतिर्यस्य स आस्तिकः, तद्विपरीतो नास्तिकः॥" —४।४।६०

किया गया है। किन्तु कणाद और गौतम प्रभृति दार्शनिकों ने अपने-अपने दर्शन शास्त्रों में अकाट्य एवं तर्कपूर्ण युक्तियों से "आत्मा" के अस्तित्व को सिद्ध और प्रमाणित किया है इनके वैशेषिक और न्यायदर्शनों में आत्मा के विषय में पूर्ण तथा सांगोपांग विवेचना की गई है। "आत्मा" के सम्बन्ध में कणाद और गौतम दोनों दार्शनिकों का प्रायः एक ही मत और सिद्धांत है।

"आत्मा" के अस्तित्व सिद्ध करने के प्रसंग में आचार्य कणाद का कथन है कि चक्षुष्, रसना, घ्राण, त्वच् और श्रोत्र–पंचेन्द्रियों के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द— पंच विषय तो प्रसिद्ध ही हैं।[१७] किन्तु विचारणीय विषय यह है कि चक्षुष् आदि पंचेन्द्रियों के द्वारा रूप आदि पंच विषयों का ग्रहीता और उपभोक्ता कौन है? क्योंकि स्वतः इन्द्रियाँ तो साधनमात्र हैं। इनका प्रयोक्ता तो कोई अन्य ही होगा। जिस प्रकार अस्त्र स्वतः नहीं चलता, वह किसी अन्य के द्वारा संचालित किया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वयं कार्यसम्पादन नहीं करतीं। उनका प्रेरक या संचालक कोई अन्य ही व्यक्ति है।[१८] इन्द्रियों का प्रेरक या संचालक शरीर भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जो कार्य सम्पन्न होते हैं, वे चैतन्यगुणविशिष्ट होते हैं। किन्तु शरीर के कारणभूत जो उपपादन (पंच तत्त्वों के अणु) हैं वे चैतन्यशून्य अथवा जडरूप हैं। कारण में जिस गुण का अभाव रहता है कार्य में भी उस गुण का अभाव ही रहेगा। जिस गुण की कार्य में विद्यमानता है उस गुण की कारण में भी विद्यमानता आवश्यक है। अतएव ज्ञानरहित उपादानों से निर्मित कार्यशरीर चैतन्यवान् हो नहीं सकता। चैतन्य धर्म किसी अन्य ही द्रव्य पर आधारित है और वही चेतन द्रव्य इन्द्रियों का प्रेरक और विषयों का ज्ञाता शरीर से भिन्न "आत्मा" है।[१९]

ज्ञान अथवा चैतन्य भी एक प्रकार का गुण है। जिस प्रकार रूपादि गुण किसी द्रव्य पर आधारित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञान चैतन्य का भी किसी

---

१७. "प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः"। —वै० द० ३।१।१

१८. "इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः।"

—Ibid ३।१।२

१९. "सोऽनपदेशः"
"कारणाज्ञानात्"
"कार्येषु ज्ञानात्"

—Ibid ३।१।३–५

आश्रयभूत द्रव्य का होना आवश्यक है। क्योंकि ज्ञान से ज्ञाता और चैतन्य से चेतन के अस्तित्व का संकेत मिलता है।[२०]

वेद

"वेद" के विषय में सर्वद्रष्टा तथा स्वार्थहीन ऋषि-महर्षियों का मत है कि वेदों को किसी जननमरणशील व्यक्तिविशेष ने उत्पन्न नहीं किया। वे स्वयं सच्चिदानन्द (सत्, नित्य, चित्, ज्ञानमय और आनन्द-सुखमय) सर्वव्यापी यज्ञरूप परमेश्वर से प्रकट हुए। श्रुति कहती है कि उस यज्ञरूप विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक पूर्ण परब्रह्म से ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए। उस यज्ञ से गायत्री आदि छन्द उत्पन्न हुए। उस यज्ञ से यजुर्वेद भी उत्पन्न हुआ।[२१] इस मन्त्र के अनुसार "वेद" ईश्वरकृत सिद्ध नहीं होते, ईश्वर वेदों के प्रादुर्भावक माने गये हैं। ईश्वर के द्वारा प्रकटित होने के कारण कतिपय विद्वान् वेदों को ईश्वरकृत भी मानते हैं। जैसे ईश्वर नित्य हैं वैसे उनके ज्ञान वेद भी नित्य हैं।

निरीश्वरवादी आचार्य कपिल का मत है कि वेद पौरुषेय हो नहीं सकता, क्योंकि वेद का रचयिता, वेद का कर्ता कोई पुरुषविशेष नहीं है।[२२]

वैयाकरण आचार्य पाणिनि के मत से "वेद" के शब्दार्थ होते हैं ज्ञान, अस्तित्व, लाभ और विचार। क्योंकि अदादि गणीय ज्ञानार्थक, दिवादि गणीय सत्तार्थक, तुदादि गणीय लाभार्थक और रुधादि गणीय विचारार्थक विद् या विद्लृ धातुओं के आगे करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय के योग से "वेद" शब्द की व्युत्पत्ति और सिद्धि होती है। "श्रुति" शब्द भी "वेद" का पर्यायवाची है और भ्वादि गणीय श्रवणार्थक "श्रु" धातु के आगे करण अर्थ में "क्तिन्" प्रत्यय के योग से "श्रुति" शब्द की सिद्धि होती है। वेद का शब्दार्थ प्रतिपादन करते हुए अपने ऋग्वेद भाष्य में स्वामी दयानन्द का कथन है कि जिनके पठन-पाठन से मनुष्य को विद्या का विज्ञान, सत्त्व का ज्ञान, सम्पूर्ण सुखलाभ और सत्यासत्य का विचार उपलब्ध हो वे ही वेद हैं। इसी प्रकार सृष्टि काल से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से हमलोग पर्यन्त जिससे समस्त सत्य विद्याओं को सुनते आ रहे हैं इसी कारण वेदों का "श्रुति" नाम पड़ा, क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के रचयिता को कभी साक्षात् दृष्टिगोचर नहीं किया अतः ज्ञात होता है कि वेद निराकार

२०. cf. Ibid उपस्कार।

२१. "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥" —ऋग्वेद, १।९०।२

२२. (क) "न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्यातीन्द्रियत्वात्।"
—सा० द० ५।४१

(ख) "न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।" —Ibid ५।४६

ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं और उनको सुनते-सुनाते ही आज तक सबलोग चले आरहे हैं[२३]।

उपनिषद् का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार मनुष्य अपने श्वास को उत्पन्न नहीं करता, पर उनका स्वामी कहलाता है उसी प्रकार सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म भी ऋगादि चतुर्वेदों की अध्यक्षता ही मात्र करते हैं, क्योंकि उनमें एक ब्रह्म की ही विचारधारा प्रवाहित होती रहती है[२४]। इस प्रकार वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होती है।

ईश्वरवाद

चार्वाक दार्शनिक-परम्परा में प्रत्यक्ष दृश्यमान नहीं होने के कारण किसी सर्वशक्तिमान् "ईश्वर" की मान्यता नहीं है। परन्तु वैशेषिकदर्शन इस सिद्धान्त के खण्डन में प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक कार्य कारणसापेक्ष है। कारण के विना किसी कार्य की उत्पत्ति असंभव है।[२५] घट, पट आदि जितने भी कार्यक्रम हैं वे स्वतः निर्मित नहीं हो जाते। उनके निर्माण के लिये किसी कारण अर्थात् कर्ता की अपेक्षा रहती है। घट के निर्माण में कुम्भकार की एवं पट के निर्माण में तन्तुवाय की अनिवार्य आवश्यकता होती है। कुम्भकार एवं तन्तुवाय के अभाव में घट एवं पट स्वयं निर्मित हो नहीं सकते—घट, पट आदि द्रव्यों की उत्पत्ति होती है, वे कार्य हैं उनकी उत्पत्ति के लिए कोई कर्ता होता है। और वह कर्ता ही कारण है। इसी प्रकार जगत् भी कार्य है, जगत् के निर्माण के लिये किसी कारण अर्थात् कर्त्ता की आवश्यकता अनिवार्य है। भिन्नता यह है कि घट-पटादि कार्य लघु और साधारण है इस लिए इनकी उत्पत्ति कुम्भकार और तन्तुवाय रूप साधारण कर्ता के द्वारा सम्पन्न हो जाती है। किन्तु जगत्रूप महान् और असाधारण कार्य के लिये एक महान् और असाधारण कर्ता का अस्तित्व भी अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। और वही जगन्निर्माता सर्वज्ञ और अलौकिक शक्तिसम्पन्न होने के कारण "ईश्वर" पद वाच्य है। आचार्य गौतम का कथन है कि लौकिक पुरुष का प्रत्येक कर्मफल स्वाधीन नहीं रहता। कर्म के साफल्य में पराधीनता रहती है और जिस पर कर्मसाफल्य की निर्भरता है वही ईश्वर कारण है।[२६]

---

२३. द्र० पृ० १०

२४. "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।" —बृ० उ० २।४।१०

२५. "कारणाभावात्कार्याभावः।" —वै० द० १।२।१

२६. "ईश्वरः कारणम्–पुरुषकर्माऽफल्यदर्शनात्।"—न्या० द० ४।१।१९

उदयनाचार्य ने विविध, अकाट्य और तर्कपूर्ण युक्तियों के द्वारा "ईश्वर" के अस्तित्व को प्रमाणित किया है। यथा—

(१) घट पटादि के समान जगत् भी एक कार्य है। घट पटादि कार्य के उत्पादक कुम्भकार और तन्तुवायरूप कर्ता के समान जगत् रूप असाधारण कार्य की उत्पत्ति के लिए एक कारणरूप असाधारण कर्त्ता की अपेक्षा है। वह चेतन और सर्वज्ञ कर्त्ता "ईश्वर" है।

(२) प्रलयकाल में सम्पूर्ण कार्यंजगत् परमाणु रूप से आकाश में विद्यमान रहता है, वे परमाणु स्वयं जड और अचेतन हैं। सृष्टि के अवसर पर परमाणुद्वय के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, परन्तु जडपरमाणुओं का एक साथ स्वतः आयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए किसी चेतन तत्त्व या पदार्थ की कल्पना सर्वथा तर्कयुक्त है।

(३) इस अचेतनरूप जगत के धारणकर्ता की आवश्यकता है। धारण-कर्ता के अभाव में इस जगत् का पतन हो गया होता। पुनः इस सृष्ट जगत् का प्रलयकाल में संहार होना भी सप्रयोजन है और इसके संहार के लिए एक संहर्त्ता की भी अपेक्षा है। अतएव जो इस जगत् का धारक या संहारक है, वही "ईश्वर" है।

(४) जगत् में विविध कलाकौशल भी दृष्टिगोचर होते हैं। वस्त्र-गृहादि कार्यों को कलात्मक रीति से उत्पन्न कर साम्प्रदायिक व्यवस्था के संचालन के लिये एक चेतन कलाकार की आवश्यकता होती है और वही चेतन कलाकर "ईश्वर" है।

(५) वेद हमारे लिए परम प्रमाण है, क्योंकि यह परम प्रामाणिक सर्व-शक्तिमान् सर्वज्ञ का ही रचनारूप है। सर्वश्रद्धेय और सर्वज्ञ के द्वारा रचित होने के कारण वेद भी सर्व-श्रद्धेय है। वेद का ज्ञान भी "ईश्वर" का परिचायक है।

(६) श्रुति स्पस्ष्ट शब्दों में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करती है।[२७]

---

२७. (क) "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥"
—श्वे० उ० ६।११

(ख) "ओं ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥"
—ई० उ० १

(ग) "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥"
—गीता० १८।६१

(७) महाभारत आदि मान्य ग्रन्थों के रचयिता के समान वाक्यरूप वेद को भी रचयितृसापेक्ष होना चाहिए ।

(८) परमाणुद्वय के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। यह द्वित्व संख्या अपेक्षा-बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होती है, जो चेतन व्यक्ति के द्वारा निष्पन्न हो सकती है और ऐसी स्थिति में द्व्यणुकों में संख्या की उत्पत्ति "ईश्वर" की सत्ता को प्रमाणित और सिद्ध करती है।[२८] इन युक्तियों की सहायता से नैयायिकों को ईश्वर की सिद्धि मान्य है। पुनः ईश्वर के अस्तित्व में आचार्य की घोषणा है कि किसी न किसी रूप में ईश्वर की मान्यता सार्वत्रिक है। यथा—उपनिषद् के अनुयायी "शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव" के रूप में, सांख्य के अनुयायी "सिद्ध आदिविद्वान्" के रूप में, योगशास्त्र के अनुयायी क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से रहित "पुरुष विशेष" के रूप में, पाशुपतमतावलम्बी "निर्लेप तथा स्वतन्त्र" रूप में, शैव "शिव" के रूप में, वैष्णव "पुरुषोत्तम" के रूप में, पौराणिक "पितामह" के रूप में, याज्ञिक "यज्ञपुरुष" के रूप में, सौगत "सर्वज्ञ" रूप में, जैन दिगम्बर सम्प्रदायी "निरावरण" रूप में, मीमांसक "उपास्यदेव" के रूप में, नैयायिक "सर्वगुणसम्पन्न पुरुष" के रूप में चार्वाक सम्प्रदायी भी "लोकसिद्ध राजा" के रूप में तथा वर्धकि (बढ़ई) "विश्वकर्मा" के रूप में जिनका आराधन-पूजन करते हैं वही तो "ईश्वर" है।[२९]

---

२८. "कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥"

—न्या० कु० ५।१

२९. Ibid ५।२
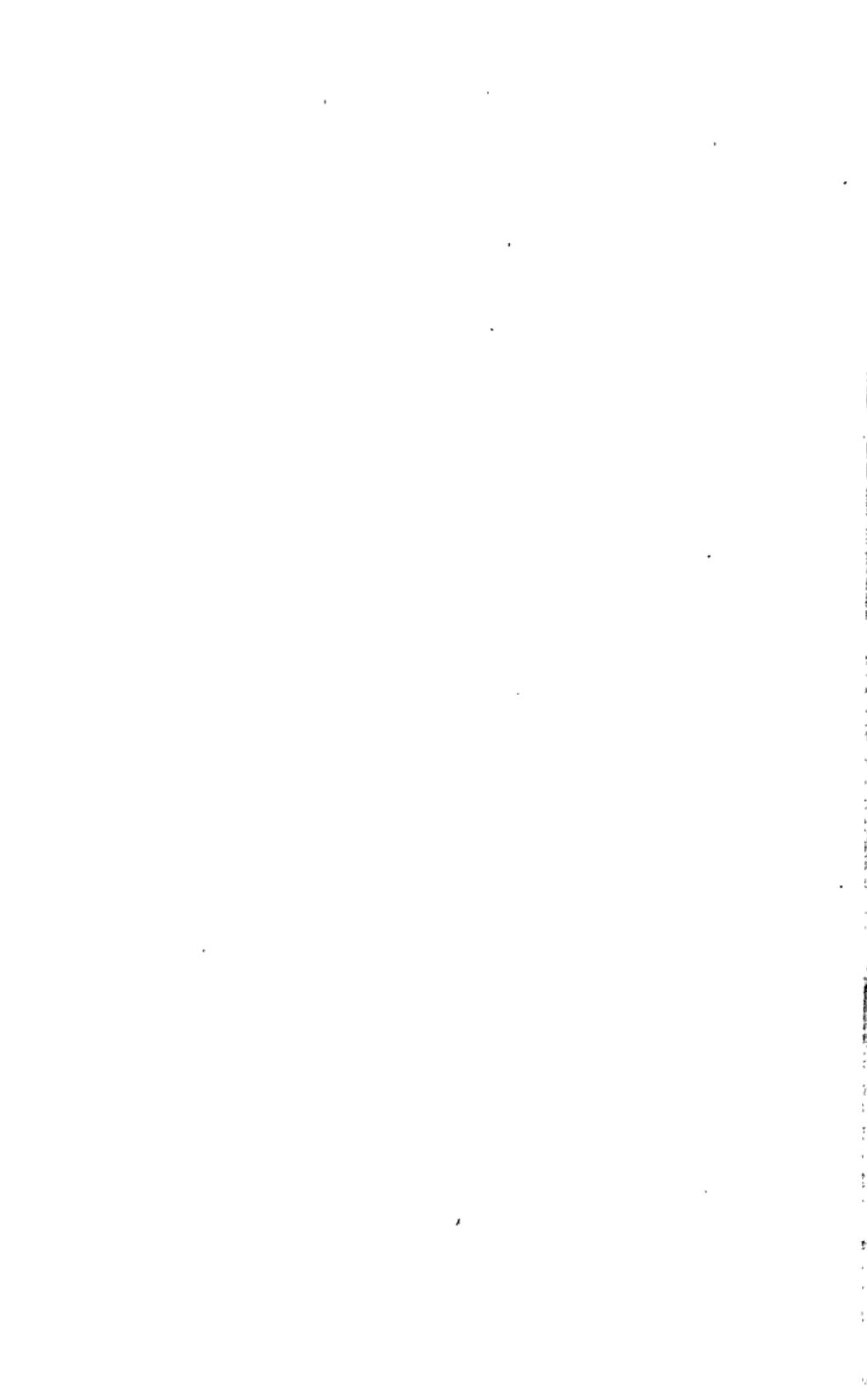
सप्तम परिच्छेद

उपसंहार

वैदिक और लोकायतिकपुरुषार्थ—मध्यकालीन भारतीय धर्मसाधना-तांत्रिक कामाचरण-वज्रोली और चार्वाकवाद-नियोग पर चार्वाकप्रभाव-ह्यूम और संशयवाद-राम और लोकायतिकवाद ।
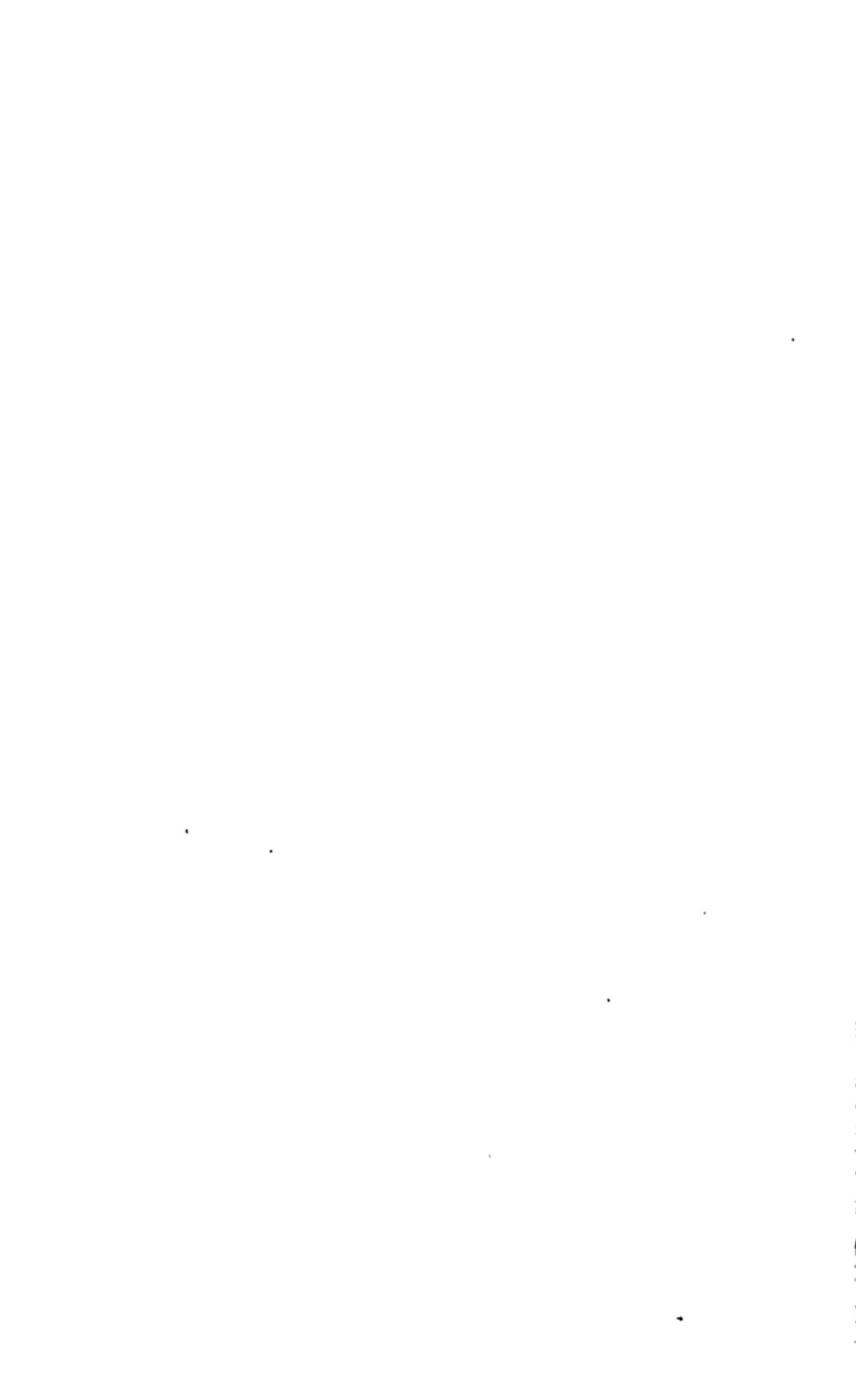
उपसंहार

पूर्व के अध्यायों में इस प्रकार चार्वाक या लोकायतिकदर्शन सम्बन्धी विचार-धाराओं की समाप्ति हुई। चार्वाक सम्प्रदाय, चार्वाकमत या सिद्धान्त की उत्पत्ति, चार्वाकदर्शन सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य, चार्वाकदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त और चार्वाकेतर दर्शनों के द्वारा चार्वाकवाद का निराकरण आदि विवेचन तथा समीक्षण प्रस्तुत किये गये। उपलब्ध चार्वाक-साहित्य के अध्ययन और परिशीलन करने से प्रतीत होता है कि चार्वाक, लोकायतिक या नास्तिकवाद के प्रवाह, आज से नहीं, अति प्राचीन काल से भारतवर्ष के प्रत्येक परिसिञ्चित क्षेत्र में प्रवाहित होते आ रहे हैं और इसके प्रसार की गति कभी स्वच्छन्द तथा अनवच्छिन्न वेग से तो कभी सामाजिक विघ्न-बाधाओं से आक्रान्त होकर ईषद्-अवरुद्ध वेग से इस भारतभू के कोने-कोने में व्याप्त होती रही है। लोकायतिक-दर्शन-परम्परा को इस प्रत्यक्ष परिदृश्यमान लोक के अतिरिक्त किसी भी अन्य अतीन्द्रिय पदार्थ या तत्त्व की कल्पना तक स्वीकृत नहीं। चार्वाक मत में संशयवाद, जडवाद, उच्छेदवाद, दृष्टवाद, हेतुवाद, वितण्डावाद, नैरात्म्यवाद, देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, प्राणात्मवाद, निरीश्वरवाद, अवेद-वाद, परलोकनिराकृतिवाद, तत्त्वचतुष्टयवाद, भूतचैतन्यवाद, स्वभाववाद, सुखवाद तथा ऐहिकसर्वस्ववाद आदि प्रत्यक्षवादों का विवेचन सम्पन्न किया गया है। चार्वाक मत में स्वर्ग और नरक नामक कोई वस्तु नहीं है, धर्म और अधर्म अथवा पुण्य और पाप नामक किसी पदार्थ की सत्ता की मान्यता नहीं है। इस प्रत्यक्ष परिदृश्यमान जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता अथवा संहारकर्ता भी कोई ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश तथा परमेश्वर या परमात्मा नहीं है। यह जगत् जडप्रकृति (भूतचतुष्टय) के संयोग से उत्पन्न होता है और यथासमय उसी से विनष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान, उपमान और शब्द आदि प्रमाणों की मान्यता इस सम्प्रदाय में नहीं है। इस भूतचतुष्टयविनिर्मित देह के अतिरिक्त अन्य कोई भी कर्मफल का भोक्ता नहीं[1] है। चार्वाकमत की तुलना जैन-

---

१. "न स्वर्गो नैव जन्मान्यदपि च नरको नाप्यधर्मो न धर्मः,
कर्ता नैवास्य कश्चित्प्रभवति जगतो नैव भर्त्ता न हर्त्ता।
प्रत्यक्षान्यन्न मानं न सकलफलभुग्देहभिन्नोऽस्ति कश्चित्,
मिथ्याभूते समस्तेऽप्यनुभवति जनः सर्वमेतद्धि मोहात् ॥"

—वि० त० ३।२

मत, बौद्धमत तथा कापालिकमत से भी सम्पूर्णभाव से नहीं हो सकती, क्योंकि इन मतों में पुनर्जन्म और परलोक आदि की मान्यता है, किन्तु चार्वाकमत में पुनर्जन्म और परलोक आदि का सर्वथा खण्डन है। वेद दार्शनिक ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध आदि दार्शनिक आचार्य चार्वाकमत को आमूल विनष्ट करने के लिए निरन्तर खड्गहस्त रहते थे। चार्वाकों को मृत्यु से भय नहीं था, क्योंकि इनके मत में मृत्यु ही मोक्ष है[२]। वे सम्पूर्ण वसुधा में निर्भीक विचरण करते हैं। अन्य दार्शनिकों ने चार्वाकों की निन्दा करने में थोड़ा भी संकोच नहीं किया है।

वैदिक और लोकायतिक पुरुषार्थ

वैदिक और दार्शनिक मनीषियों ने मानव समाज के सर्वथा और सार्वत्रिक कल्याण के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पदार्थों अथवा पुरुषार्थों को परम उपादेय माना है, किन्तु चार्वाक दार्शनिक अर्थ और काम[३]—इन दो ही पदार्थों को सामाजिक कल्याण के लिए उपादेय मानते हैं और शेष दो अर्थात् धर्म और मोक्ष पदार्थों को दाम्भिक और अनुपादेय मान कर उनका खण्डन कर दिया है। चार्वाक दर्शन में सुखवाद[४] (Hedonism) की ओर अधिक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और इसी सुखवाद के कारण समाज में चार्वाकवाद की बड़ी निन्दा पाई जाती है। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार कर देखा जाए तो सुखोपभोग कोई घृणास्पद अथवा गर्हित वस्तु नहीं है। विश्व के अशेष धर्मावलम्बियों ने सुखोपभोग को वांछनीय और उपादेय स्वीकृत किया है, चाहे उनके सुख का रूप किसीभी प्रकार का हो। बौद्धदर्शन हो, जैनदर्शन हो, सांख्य-योगदर्शन हो, न्याय-वैशेषिकदर्शन हो या मीमांसा-वेदान्तदर्शन हो—समस्त दर्शनों के निर्माण का चरम लक्ष्य सुखोपभोग ही रहा है—चाहे वह सुख शारीरिक हो, चाहे मानसिक हो, चाहे आत्मिक या आध्यात्मिक हो, लौकिक हो या पारलौकिक हो, पर लक्ष्य सबका तारतम्य के विचार से उत्तरोत्तर और उत्तमोत्तम सुख की उपलब्धि ही है। श्रुति-स्मृति-पुराण आदि शास्त्रों का भी चरम लक्ष्य असाधारण अभ्युदय-निःश्रेय अर्थात् उत्कृष्टतम ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखोपभोग की ही ओर है।

---

२. "मृत्युरेवापवर्गः" —बा० सू० ३०

३. "अर्थकामौ पुरुषार्थौ" —Ibid २७

४. "त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
 दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
 व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
 को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥" —प्र० च० २।५०

कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन का तो समाज में बड़ा ऊँचा स्थान है। उनका भी आदर्श सुखवाद ही है। हाँ, सुख भी कभी गर्हित होता है, जब कि सुख का रूप अश्लील और स्वार्थपूर्ण होता है। कतिपय चार्वाकों ने भी निकृष्ट इन्द्रिय-सुखोपभोग को जीवन का परम आदर्श स्वीकृत किया है, पर अशेष चार्वाकों ने एकमात्र इन्द्रियजन्य सुखोपभोग को परम आदर्श रूप में अंगीकृत नहीं किया है। चार्वाकों के दो वर्ग हैं—सुशिक्षित चार्वाक और धूर्त चार्वाक। सुशिक्षित चार्वाकों की सामाजिक व्यवस्था का परिचालन शिष्ट पद्धति से होता है। इनकी अन्तर्विचारधाराएँ चाहे जो भी हों, पर बाह्य और व्यावहारिक जीवन-प्रवाह नियन्त्रित गति से प्रवाहित होते आये हैं। धूर्त अथवा अशिष्ट वर्गीय चार्वाकों ने स्वेच्छाचार और कामाचार को सामाजिक जीवन में पूर्ण स्वातन्त्र्य दे दिया है और इसीलिये इसका रूप अश्लील, घृणित तथा बीभत्स-सा दिखाई देता है। इनके कामाचार का रूप पशुजगत् से भी निकृष्टतर है[५]।

मध्यकालीन धर्मसाधना

भारतवर्ष की मध्यकालीन धर्म-साधनाओं पर भी धूर्त चार्वाकों का ही प्रभाव प्रतीत होता है। डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक ऐसे सम्प्रदाय की चर्चा की है, जिसका साहित्य अब उपलभ्य नहीं। वह नीलपटों अथवा नीलाम्बरों का सम्प्रदाय राजा भोज के समय अत्यन्त प्रख्यात था। ये लोग अत्यन्त निम्नस्तर के भोगपरक धर्म का प्रचार करते थे। खाओ, पिओ और मौज करो—यही नीलाम्बर सम्प्रदाय का आदर्श था। पुरुष और स्त्री के जोड़े नग्न हो कर एक ही नीले वस्त्र में लिपटे रहते थे। ऐसे ही एक जोड़े से राजा भोज की एक कन्या ने धर्मविषयक प्रश्न किया। इस पर "दर्शनी" ने उस वामलोचना को उपदेश देते हुए कहा—"खाओ, पिओ और मौज करो। जो व्यतीत हो गया वह कभी लौट नहीं सकता। यदि तुमने तप किया और कष्ट उठाया तो वह तुम्हारे लिए सर्वथा निरर्थक हुआ, क्योंकि यथार्थता यह है कि यह शरीर केवल जड़ तत्त्वों का संघातमात्र होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

राजा भोज को जब यह वृत्तान्त विदित हुआ तब उन्होंने इस सम्प्रदाय का पूर्णरूपेण उच्छेद कर दिया। खोज-खोज कर नीलपटों के सभी जोड़े समाप्त कर दिये गये[६]।

---

५. द्र० नै० च० १७।४४-४९।

६. द्र० मध्यकालीन धर्मसाधना ११-१२

तांत्रिक कामाचरण

कापालिक तन्त्र-साधना की पद्धतियों पर तो चार्वाक-संमत कामाचरण का पूर्ण प्रभाव विदित होता है। मद्यपान और स्त्रियों के साथ विहार तो वाममार्गी कापालिक साधनाओं का एक अनिवार्य अंग ही है[७]।

वज्रोली और चार्वाकमत

हठयोग की "वज्रोली" साधना भी चार्वाकों के कामाचार से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होती है। हठयोगाचार्य स्वात्माराम ने "वज्रोली" मुद्रा के अभ्यास में वशवर्त्तिनी स्त्री को एक मुख्य अंग माना है। वशवर्तिनी नारी के अभाव में "वज्रोली" की सिद्धि असंभव है, क्योंकि इस क्रिया के अभ्यास में स्त्री-संगम की बड़ी उपयोगिता है[८]। "वज्रोली" के प्रसंग में प्रतिपादन है कि "इसके साधक को रतिकाल में स्त्री की योनि में पतनोन्मुख और पतित केवल अपने वीर्यबिन्दु को ही नहीं, किन्तु स्त्री के रजस् को भी ऊर्ध्वाकर्षण के द्वारा अपने में ग्राह्य कर लेना चाहिये। जो साधक इस प्रकार वीर्य को संचित रखता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है[९]।" इसका सारांश तो यही निकलता है कि रतिक्रिया में वीर्यबिन्दु के क्षय से कामाचारी पुरुष में जो शक्तिक्षीणता आती है और इस कारण फिर भविष्यत् रतिक्रिया में जो वह क्रमशः असमर्थ होता जाता है, उस असमर्थता से बचने के लिए ऐसे साधनों का अभ्यास उपयोगी होता है।

---

७. मन्तो ण तन्तो ण अ किं पि जाणे, झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिबामो महिलं रमामो, मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा, मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा, कोलो धम्मो कस्स णो भोदि रम्मो॥
मुत्तिं भणन्ति हरिब्रह्ममुखादि देवा, झाणेन वे अपठणेण कदुक्किआहिं।
एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो, मोक्खो समं सुरअकेलि सुरारसेहिं॥"
—कर्पूरमञ्जरी १।२२-२४

८. तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी॥" —ह० यो० प्र० ३।८४

९. नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्॥
एवंसंरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्॥" —Ibid ३।८७-८८

उपर्युक्त विवरणों से चार्वाकीय कामाचरण पक्ष और अधिकाधिक पुष्ट होता है और इसमें मृत्युविजय का जो प्रसंग आया है, उससे तो चार्वाकसंमत देहचैतन्यवाद, इन्द्रियचैतन्यवाद और मनश्चैतन्यवाद की ही सिद्धि प्रतीत होती है, क्योंकि रतिजनित आनन्द की अनुभूति तो देह और इन्द्रियरूपी करणों के द्वारा मनस् को ही होती है।

धूर्त चार्वाकों ने चौर्य कर्म और अभक्ष्य भक्षण को भी स्पष्ट प्रोत्साहन दिया है[10]। किन्तु सुशिक्षित चार्वाक उत्कृष्ट दैहिक सुखोपभोग करते हुए सामाजिक शिष्टाचार का पालन भी सुचारुरूप से करते थे। इनके सुखवाद के आदर्श में वात्स्यायन के सुखवाद से सादृश्य है। धूर्तसम्प्रदायी चार्वाक स्वार्थान्ध होते थे। इनका सुखवाद समाज-व्यवस्था के लिये घातक हो सकता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य के अपने सुख के कुछ अंश का त्याग इसमें अन्यों के लिए कर देने में बड़ी उपादेयता होती है। यदि ऐसा नहीं हो तो समाज-व्यवस्था का संघटित तथा सुचारु रूप में संचालन असंभव हो जायेगा। शिक्षित चार्वाक-सम्प्रदाय निग्रहानुग्रह करने वाले लौकिक राजा को ही परमेश्वर मानता था। इससे सूचित होता है कि सामाजिक-व्यवस्था को भी नियम-बद्ध रखना उनका आदर्शरूप में अभीष्ट था और उन्हें यह भी मान्य था कि सामाजिक-जीवन में यदि दण्डनीति का विधान नहीं रहेगा तो उस (समाज) को पाशविकरूप में परिणत होने में विलम्ब न होगा। इसी कारण सुशिक्षित-सम्प्रदाय शृङ्खलित समाज-सत्ता को स्थापित रखना औचित्यपूर्ण समझता था। यह बात अवश्य तथा निष्पक्ष सत्य है और चार्वाकमत की बड़ी विशेषता है, जिसके लिए आस्तिक भारतीयदर्शन चार्वाकवाद का ऋणी भी है। वह यह है कि चार्वाकों के संशय और अज्ञेयवादों से इतर भारतीय दर्शनों को कुछ अंशों में स्वतंत्र विचारों को उपस्थित करने की प्रेरणा मिली है।

ह्यूम और संशयवाद

प्रोफेसर कांट पाश्चात्य जगत् के एक महान् दार्शनिक था। उसने स्पष्ट शब्दों[11] में कहा है कि 'ह्यूम" के संशयवाद से ही मेरी अन्धविश्वासीय निद्रा

---

१०. "दैन्यस्यायुष्यमस्तैन्यमभक्ष्यं कुचिवञ्चना।
स्वाच्छन्द्यमृच्छतानन्दकन्दलीकन्दमेककम्।" —नै० च० ७।८३

११. ह्यूम के संशयवाद में कठोपनिषद् (१-१-२०) के ऋषि के प्रतिपादित मत से और बौद्धसाहित्य (महावग्ग १-२३-२४) के तीर्थङ्कर

खुली है। अब यह कथन कदाचित् अनुचित नहीं होगा कि सांख्य आदि भारतीय-दर्शनों को चार्वाकों ने ही हठविश्वास से सुरक्षित रखा है।

यदि देखा जाय तो अनादि काल से यह परिपाटी-सी चली आ रही है कि एक शास्त्र, दर्शन या मत के विचार-प्रवाहों का तदितर शास्त्र, दर्शन या मत में स्पष्टरूप से खण्डन पाया जाता है, पर हमारा विचार केवल खण्डनात्मक न हो कर विचारात्मक होना चाहिए। हमारा तो सर्वथा तथा सार्वत्रिक कल्याण की भावना से "नीरक्षीरविवेकिनी" बुद्धि के द्वारा दोषों का परित्याग कर गुणों को ग्रहण करना लक्ष्य होना चाहिये, क्योंकि दर्शन के अपने-अपने पृथक् दृष्टिकोण होते हैं और स्वतंत्र विचार भी। समस्त दर्शन अपने ही स्थान से तथा अपने ही दृष्टिकोण से परम तत्त्व को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। हमें उन दर्शनों की समीक्षा उनके ही दृष्टिकोण से करनी चाहिए। उनके विचार-प्रवाहों की गति के निरीक्षण किए विना केवल खण्डनात्मिका बुद्धि से काम लेने में कोई उपादेयता संभव नहीं है।

राम और लोकायतिकवाद

इतना होते हुए भी चार्वाकदर्शन में समालोचनीय सामग्रियों का भी अभाव नहीं है।[१२] भगवान् रामचन्द्र ने लोकायतिकों की निन्दा करते हुए अनुज भरत से कहा है—"हे भाई, क्या कभी तुम लोकायतमतानुयायी ब्राह्मणों का अनुसरण तो नहीं करते ? वे अपने को पण्डित माननेवाले बड़े मूर्ख होते हैं। वे बड़े अनर्थ-कारी होते हैं। मुख्य-मुख्य धर्मशास्त्रों के रहते हुए वे (दुर्बुद्धि) केवल मात्र शुष्क तर्कों के उपस्थापन में ही अपनी दक्षता दिखला कर किसी भी सिद्धान्त पर आरूढ़ नहीं रहते और निरर्थक वावदूकता प्रदर्शित करते हैं। ये लोग केवल मात्र प्रत्यक्ष का ही प्रामाण्य स्वीकार करते हैं। अनुमान, उपमान और शब्द आदि प्रमाणों का स्पष्ट शब्दों में खण्डन करते हैं, जिससे समाज की व्यावहारिक परिस्थितियों में गड़बड़ी तथा उच्छृङ्खलता आ जाने की संभावना निरन्तर बनी

संजयवेलट्ठिपुत्र के सिद्धान्त से सादृश्य है, क्योंकि संजयवेलट्ठिपुत्र इसी प्रकार संशयवादी था।

१२. "कच्चिन्न लोकयतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते"॥

—वा० रा० २।१००।३८–३९।

रहती है तथा व्यवहार की उपपत्ति सर्वतोभावेन असिद्ध हो सकती है। जैसे—मान लिया जाय किसी पत्नी का पति परदेश या विदेशगत है—इस अवस्था में प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर यदि विचार किया जाये तो प्रत्यक्ष रूप (आँखों के समक्ष) में पति का अभाव ही प्रतीत होता है तो क्या इस परिस्थिति में विदेश या परदेशगत पति की पत्नी अपने को विधवा मान कर पति के उद्देश्य से श्राद्धादि क्रिया सम्पन्न कर देती है ? नहीं, प्रत्यक्ष व्यवहार में ऐसा देखा-सुना नहीं जाता है। इसी प्रकार चार्वाकदर्शन के कुछ सिद्धान्तगत अंशों के ऊपर विचार-निक्षेप करने पर प्रतीत होता है कि यह मत प्रारम्भिक समाजोद्यान या दर्शन-वाटिका का अविकसित कलिका रूप है। समाज का जिस क्रम से विकास होता गया, दर्शन के रूप उसी क्रम से विकसित होते गये। इस प्रकार चार्वाकों का दार्शनिक दृष्टिकोण सार्वत्रिक समाज-कल्याण के लिए साङ्गोपाङ्ग और सर्वथा परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। कुछ अंशों में इनकी दृष्टि सूक्ष्म है तो कुछ अन्य अंशों में अत्यन्त स्थूल हो गई है। सर्वतोभावेन परिपूर्ण होना संभव भी नहीं, क्योंकि संसार-चक्र में पूर्णता की संभावना है भी नहीं। पूर्णता तो एकमात्र अतीन्द्रिय परमात्मा में ही संभव है। सूक्ष्मेक्षिका से समीक्षण करने पर ऐसा आभास मिलता है मानों दार्शनिक क्षेत्र में पूर्व पक्ष के रूप में नास्तिकवाद का आविष्कार हुआ हो। यह भी तो औचित्यपूर्ण ही है, क्योंकि शैशवावस्था न हो तो यौवनावस्था या जरावस्था की संभावना कैसे की जा सकती है ? कोरक या कलिका न हो तो क्रमशः मुकुल, पुष्प और अन्त में फल के रूप किसकी परिणति होगी ? रोग की उत्पत्ति न हो तो किसकी चिकित्सा के लिए ओषधियों का निर्माण होगा ? इससे स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि चार्वाक अर्थात् नास्तिकदर्शन का यदि उदय नहीं होता तो वैदिक अर्थात् आस्तिक-दर्शनों का निर्माण भी नहीं होता। संभव है आस्तिकवादी शास्त्र नास्तिक-वादी विचारों के ही विकसित रूप हैं।

आस्तिकता के उच्चतम प्रकोष्ठ पर आरूढ़ जिज्ञासु को नास्तिकता की प्रकृत मूर्ति की साक्षात् अनुभूति होती है और तद्विपरीत घोर नास्तिकता की सीमा के पारंगत जिज्ञासु को भी आस्तिकता के आशाभरित और सौम्यरूप का आभास मिलता है। वस्तुतः दार्शनिकता के दृष्टिकोण से अवलोकन करने पर आस्तिकता और नास्तिकता में अन्तर नहीं—दोनों एक ही वाद हैं। पर दर्शने-तर दृष्टिकोण से समीक्षण करने पर दोनों वादों में आकाश-पाताल का अनन्त अन्तर अनुभूत होता है, पर यह निश्चयीकरण दुष्कर है कि इन दो वादों में कौन-सा यथार्थता से परिपूर्ण और प्रकृत है। अन्तिम सारांश यही निकलता है कि

वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति और पुराण आदि आस्तिक अथवा नास्तिक सभी शास्त्र परम सुखसागर या परम तत्त्व अर्थात् सत्य की ही उपलब्धि के लिए यात्री के रूप में पृथक्-पृथक् शम्बल लेकर प्रस्थान कर चुके हैं। मार्ग सबके पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, गन्तव्य केन्द्र ज्ञाताज्ञात रूप में सबका एक ही है। गन्तव्य स्थान (लक्ष्य) की प्राप्ति में काल या अवधि का पार्थक्य संभव है पर अन्त में पहुँचना सबका वहीं है—चाहे वे चार्वाकमतावलम्बी हों या जैन हों, बौद्ध हों, पारसी हों, भक्तियोगी हों, कर्मयोगी हों या ज्ञानयोगी हों, नास्तिक हों आस्तिक हों, हिन्दू हों या अहिन्दू हों। पुष्पदन्त की उक्ति स्मरणीय है—"हे प्रभो, त्रयी (वैदिक मार्ग), सांख्य, योग, पाशुपतमत, वैष्णव मत—सभी आपकी ही प्राप्ति के मार्ग हैं। रुचि-वैचित्र्य के कारण ही "यह श्रेष्ठ है, वह हितकारी है"—इस प्रकार उनमें पार्थक्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार समस्त नदी-नालों का जल (अन्त में) समुद्र में ही जाकर स्थैर्य-लाभ करता है, उसी प्रकार सीधे-टेढ़े अशेष साधन मार्गों से यात्राकारी मनुष्यों के गन्तव्य अथवा लक्ष्यकेन्द्र एकमात्र आप ही हैं।[१३]

जिस प्रकार पृथिवी पर पतित वृष्टि का जल छोटी-बड़ी नदियों में भटकता हुआ अन्त में अपने गन्तव्य समुद्र को ही प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार किसी भी देवता के उद्देश्य से किया गया पूजा-पाठ, धारणा-ध्यान आदि योगाभ्यास अन्त में परमेश्वर को ही प्राप्त होता है।[१४]

१३. त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ —म० स्तो० ७

१४. पृथिव्यां पतितं तोयं समुद्रमभिगच्छति।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥ —उद्धरणम्।

आधार साहित्य

संस्कृतवाङ्मयम्--

१. अभिधानचिन्तामणिः	हेमचन्द्रप्रणीतः।
२. अमरकोषः	अमरसिंहकृतः।
३. अस्यवामीयं सूक्तम्	विश्वेदेवाः।
४. ईशावास्योपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता।
५. उत्तरमीमांसा	व्यासप्रणीता।
६. ऋग्वेदः	सायणभाष्योपेतः।
७. ऐतरेयोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता।
८. कठोपनिषद्	,, ,,
९. कादम्बरी	बाणभट्टकृता।
१०. कामसूत्रम् (जयमङ्गलाटीकोपेतम्)	वात्स्यायनप्रणीतम्।
११. काशिकावृत्तिः	चौखम्बासंस्करणम्।
१२. कुमारसम्भवम्	कालिदासप्रणीतम्।
१३. केनोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता।
१४. कौटिल्यार्थशास्त्रम्	त्रिवेन्द्रम् संस्करणम्, १९२१ ई०।
१५. छान्दोग्योपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता।
१६. तत्त्वसंग्रहः (पञ्जिकासहितः)	शान्तरक्षितप्रणीतः।
१७. तत्त्वोपप्लवसिंहः	जयराशिभट्टप्रणीतः।
१८. तर्कसंग्रहः	अन्नंभट्टकृतः।
१९. तैत्तिरीयसंहिता	सायणभाष्योपेता
२०. तैत्तिरीयोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता।
२१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितम्	हेमचन्द्रकृतम्।
२२. दुर्गासप्तशती	नागोजिभट्टकृतव्याख्योपेता।
२३. देवीभागवतम्	निर्णयसागरप्रेस संस्करणम्।
२४. नैषधीयचरितम् (नारायणीटीकासहितम्)	श्रीहर्षप्रणीतम्।
२५. न्यायकुसुमाञ्जलिः	उदयनकृतः।
२६. न्यायदर्शनम् (वात्स्यायनभाष्यसहितम्)	गौतमप्रणीतम्।
२७. न्यायमञ्जरी	जयन्तभट्टकृता।
२८. न्यायवार्तिकम्	तात्पर्यटीकाभाष्यसहितम्।
२९. न्यायसिद्धान्तमञ्जरी।	
३०. पद्मपुराणम्	सृष्टिखण्डम्।
३१. पाणिनिव्याकरणम्।	
३२. प्रतिमानाटकम्	भासप्रणीतम्।

३३. प्रबोधचन्द्रोदयनाटकम्	कृष्णमिश्रप्रणीतम् ।
३४. प्रश्नोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता ।
३५. बार्हस्पत्यार्थशास्त्रम्	सूत्रमयम् ।
३६. बुद्धचरितम्	अश्वघोषविरचितम् ।
३७. बृहदारण्यकोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता ।
३८. ब्रह्मपुराणम्	मुम्बई संस्करणम् ।
३९. ब्रह्मसूत्रम्	शाङ्करभास्करादिभाष्यसंयुक्तम् ।
४०. भोजप्रबन्धः	बल्लालसेनविरचितः ।
४१. मनुस्मृतिः	कुल्लूकभट्टटीकोपेता ।
४२. महाभारतम्	गीताप्रेससंस्करणम् ।
४३. माण्डुक्योपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता ।
४४. मानसोल्लासः	निर्णयसागर प्रेस संस्करणम् ।
४५. मार्कण्डेयपुराणम्	
४६. मीमांसादर्शनम् (शाबरभाष्यसहितम्)	जैमिनिप्रणीतम् ।
४७. मीमांसान्यायप्रकाशः	आपदेवप्रणीतः ।
४८. मुक्तिकोपनिषद्	मूलम् ।
४९. मुण्डकोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता ।
५०. मैत्राण्युपनिषद्	मूलम् ।
५१. मैत्र्युपनिषद्	"
५२. याज्ञवल्क्यस्मृतिः	मिताक्षरासहिता ।
५३. योगदर्शनम्	पतञ्जलिप्रणीतम् ।
५४. वाल्मीकीयं रामायणम्	गीता प्रेस संस्करणम् ।
५५. विद्वन्मोदतरङ्गिणी	चिरञ्जीवभट्टाचार्यप्रणीता ।
५६. विशिष्टाद्वैतदर्शनस्य श्रीभाष्यम्	रामानुजप्रणीतम् ।
५७. विष्णुपुराणम्	गीताप्रेससंस्करणम् ।
५८. वेणीसंहारनाटकम्	भट्टनारायणविरचितम् ।
५९. वैशेषिकदर्शनम् (उपस्कारसहितम्)	कणादप्रणीतम् ।
६०. व्याकरणमहाभाष्यम्	पतञ्जलिप्रणीतम् ।
६१. शतपथब्राह्मणम्	मुम्बई संस्करणम्
६२. श्रीमद्भगवद्गीता	शाङ्करनीलकण्ठ-मधुसूदनादि-भाष्यसहिता ।
६३. श्रीमद्भागवतं महापुराणम्	गीताप्रेससंस्करणम् ।
६४. श्लोकवार्तिकम्	मद्रपुरीयसंस्करणम् ।
६५. श्वेताश्वतरोपनिषद्	शाङ्करभाष्योपेता ।
६६. षड्दर्शनसमुच्चयः	हरिभद्रसूरिविरचितः ।
६७. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभः	चतुर्वेदिद्वारकानाथशर्म-सम्पादितः ।

६८. समयोचितपद्यमालिका	निर्णयसागरप्रेससंस्करणीया।
६९. सर्वदर्शनसंग्रहः	सायणमाधवप्रणीतः।
७०. सर्वसिद्धान्तसंग्रहः	शंकराचार्यप्रणीतः।
७१. सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्णकृता।
७२. सांख्यतत्त्वकौमुदी	चौखम्बासंस्करणम्।
७३. सांख्यप्रचनसहितं सांख्यदर्शनम्	कपिलप्रणीतम्।
७४. सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षितप्रणीता।
७५. स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेणविरचिता।
७६. हठयोगप्रदीपिका	स्वात्मारामविरचिता।
७७. हितोपदेशः	जीवानन्दव्याख्योपेतः।

पालिसाहित्य—

१. अट्ठसालिनी।	
२. जातकपारिजात।	
३. दीघनिकाय।	
४. बोधिचर्यावतारपंजिका	नागार्जुन प्रणीता।

प्राकृत साहित्य—

१. गणधरवादः	विशेषावश्यकभाष्योपेतः,
२. रायपसेणइयसुत्तं।	
३. सूत्रकृताङ्ग सूत्रम्।	

हिन्दीसाहित्य—

१. ऑर्गनिक इवाल्युशन	श्रीलल्ल।
२. कल्याण	गो और हिन्दू-संस्कृति अङ्क।
३. कार्लमार्क्स	राहुलसांकृत्यायन।
४. दर्शनदिग्दर्शन	,, ,,
५. बौद्धदर्शनमीमांसा	बलदेव उपाध्याय।
६. भारतीयदर्शन शास्त्र	डा० सतीशचन्द्रचट्टोपाध्याय और डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त।
७. भारतीयदर्शनशास्त्र	डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री।
८. मध्यकालीन धर्मसाधना	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

English Literature :—

1. Buddhist philosophy of Universal Flux	Dr Satkari Mookerjee.
2. Comparative physiology of the brain and Comparative psychology	Jacques Loeb.
3. Dialogues of the Buddha	Rhys Davids.
4. Encyclopaedia of Religion and Ethics	Hasting.
5. History of Dharma Shastra	P. V. Kane.
6. History of Indian Philosophy	Dr S. N. Das Gupta.
7. History of Pre-Buddhistic Indian philosophy	Dr B. M. Barua.
8. Indian philosophy	Dr S. Radhakrishnan.
9. Outlines of Indian philosophy	Hirianna.
10. Pali–English Dictionary	Rhys Davids.
11. Text Book of Zoology	Dr Parker and Dr Haswell.
12. The Central Philosophy of Buddhism	Dr T. R. V. Murti.
13. The Six ways of Knowing	Dr D. M. Datta.

अनुक्रमणी

आ

य

श